

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_186326**

UNIVERSAL  
LIBRARY



DUP—707—2 :—4—81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80.5  
H66 -

Accession No. P.G. H6310

Title हिन्दी वार्षिकी . शेपा, नगेन्द्र  
अंक . 4 . 1963-64

This book must be returned on or before the date last marked below



# हिंदी वार्षिकी

१९६३

[ हिंदी साहित्य की वार्षिक प्रगति का मूल्यांकन करनेवाली पत्रिका ]

अंक ४

प्रधान संपादक

डॉ० नगेंद्र



काशी नगरी प्रचारिणी सभा

प्रकाशक :

नागरीप्रचारिणी सभा,

वाराणसी

प्रकाशन वर्ष : सं० २०२६ वि० ( सन् १९६६ ई० )

प्रतियों की संख्या : ११००

मूल्य : ~~१२५०~~

सर्वाधिकार :

प्रकाशकाधीन सुरक्षित

मुद्रक :

मधुकर प्रेस,

मध्यमेश्वर, वाराणसी

## परामर्श समिति

पं० कमलापति त्रिपाठी, सभापति नागरीप्रचारिणी सभा  
डॉ० धीरेंद्र वर्मा  
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी  
डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'  
डॉ० हरवंशलाल शर्मा  
श्री मुधाकर पांडेय, प्रधान मंत्री नागरीप्रचारिणी सभा

## संपादक मंडल

|                                 |                        |
|---------------------------------|------------------------|
| खंड १ : हिंदी साहित्य की प्रगति | : डॉ० सावित्री सिन्हा  |
|                                 | : डॉ० रामदरश मिश्र     |
| खंड २ : शोधप्रबंध               | : डॉ० दशरथ ओझा         |
|                                 | : डॉ० सत्यदेव चौधरी    |
| खंड ३ श्रेष्ठ प्रकाशन           | : डॉ० विजयेंद्र स्नातक |
|                                 | : डॉ० सुरेशचंद्र गुप्त |

प्रबंध संपादक

डॉ० सत्यदेव चौधरी

## संपादकीय

‘हिंदी वार्षिकी’ का प्रारंभ सन् १९६० के प्रथम अंक से हुआ था, जो कि सन् १९६१ में यथासमय प्रकाशित हो गया था। इसके बाद सन् १९६१ और सन् १९६२ के अंक किंचित् विलंब से प्रकाशित हुए—और इसका एकमात्र कारण था समीक्ष्य ग्रंथों तथा समीक्षाओं का देर से प्राप्त होना। १९६३ और १९६४ के अंकों की पांडुलिपियों की सामग्री १९६५ के अंत में तैयार हो गई थी, किंतु यथेष्ट प्रयास करने पर भी इसका समय पर प्रकाशन संभव न हो सका। अभी कुछ समय पूर्व नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी की प्रबंधसमिति ने हमारे प्रस्ताव पर वार्षिकी का प्रकाशनभार स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः ऐसी पत्रिकाएँ सभा जैसी संस्थाओं के गौरव के अनुरूप ही होती हैं। संपादक-मंडल और सभा के अधिकारिगर्ग के परामर्श से यह निर्णय किया गया कि सन् १९६३ और १९६४ के अंक प्रकाशित करने के उपरांत सन् १९६५-६९ के पाँचों अंक एक-साथ, एक जिल्द में ही, प्रकाशित कर दिए जाएँ और सन् १९७० से यथापूर्व कार्य प्रारंभ कर दिया जाए। संपादक-मंडल सभा की प्रबंधसमिति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है जिसके सहयोग से हमारी समस्या का समाधान हो सका और वार्षिकी को नया जीवन प्राप्त हुआ है। संपादकमंडल उन समीक्षक लेखकों के प्रति भी आभारी है जिन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य में हमें सहयोग प्रदान किया है।

नगेंद्र

संपादक

# विषयक्रम

पृष्ठसंख्या  
क

संपादकीय

## खंड १ : हिंदी साहित्य की प्रगति

|                  |                           |       |
|------------------|---------------------------|-------|
| १. कविता         | : १९६३ डा० रमेशकुंतल मेघ  | २-१६  |
| २. नाटक          | : १९६३ श्रीनेमिचंद्र जैन  | १७-२५ |
| ३. कहानी         | : १९६३ डा० गोपाल राय      | २६-४० |
| ४. उपन्यास       | : १९६३ डा० रामदरश मिश्र   | ४१-५१ |
| ५. आलोचना        | : १९६३ डा० कुमार विमल     | ५२-६१ |
| ६. विविध साहित्य | : १९६३ डा० शिवनंदन प्रसाद | ६२-६७ |

## खंड २ : शोधप्रबंध

| समीक्षित पुस्तक                                                                         | लेखक           | समीक्षक           |
|-----------------------------------------------------------------------------------------|----------------|-------------------|
| ७. साहित्य विज्ञान                                                                      | डा० गणपतिचंद्र | डा० सत्यदेव चौधरी |
|                                                                                         |                | ७१-७७             |
| ८. रससिद्धांत की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या, डा० तारकनाथ वाली, डा० रमेशकुंतल मेघ        |                | ७८-७९             |
| ९. आधुनिक हिंदी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, डा० मनोहर काले, डा० भगीरथ मिश्र        |                | ८०-८२             |
| १०. आदिकाल का हिंदी गद्य साहित्य, डा० हरीश, डा० प्रेमप्रकाश गोतम                        |                | ८३-८६             |
| ११. पृथ्वीराज रासो : लघु संस्करण, डा० वी० पी० शर्मा, स्वर्गीय डा० विपिनविहारी त्रिवेदी  |                | ८७-९०             |
| १२. गोरखनाथ और उनका युग, डा० रांगेयराघव, डा० परशुराम चतुर्वेदी                          |                | ९१-९७             |
| १३. संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय, डा० रामचंद्र द्विवेदी |                | ९८-१०२            |
| १४. हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, डा० रामनरेश वर्मा, डा० चंद्रहंस पाठक         |                | १०३-१०७           |

- | समीक्षित पुस्तक                                                                                           | लेखक | समीक्षक |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------|------|---------|
| १५. कूट काव्य : एक अध्ययन, डा० रामधन शर्मा, डा० मनमोहन गोतम                                               |      | १०८-११३ |
| १६. कृत्तिवासी बँगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, डा० रमानाथ त्रिपाठी, डा० इंद्रनाथ चौधुरी |      | ११४-१२० |
| १७. मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, डा० सरला देवी त्रिगुणायन, डा० जगदीश कुमार            |      | १२१-१२७ |
| १८. हिंदी जैनभक्ति काव्य और कवि, डा० प्रेमसागर जैन, डा० रमाकांत शुक्ल                                     |      | १२८-१३८ |
| १९. हिंदी काव्य में मानव तथा प्रकृति, डा० ललिताप्रसाद सक्सेना, डा० किरणकुमारी गुप्त                       |      | १३९-१४१ |
| २०. आधुनिक हिंदी काव्य में रूपविधाएँ, डा० निर्मला जैन, डा० रामेश्वरलाल खंडेलवाल                           |      | १४२-१४७ |
| २१. आधुनिक हिंदी काव्य में विरह भावना, डा० मधुरमालती सिंह, डा० विश्वनाथ गौड                               |      | १४८-१५१ |
| २२. आधुनिक हिंदी कविता में शिल्प, डा० कैलाश वाजपेयी, डा० जगदीश चतुर्वेदी                                  |      | १५२-१५६ |
| २३. हिंदी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, डा० शांतिगोपाल पुरोहित, डा० मांधाता घोषा                           |      | १५७-१६१ |
| २४. भारतेंदुयुगीन नाट्यसाहित्य, डा० भानुदेव शुक्ल, डा० गोपीनाथ तिवारी                                     |      | १६२-१६६ |
| २५. हिंदी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, डा० सुरेश सिनहा, डा० शांतिस्वरूप गुप्त,                      |      | १६७-१७३ |
| २६. हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, डा० गणेशन, डा० सत्यपाल चुध                                           |      | १७४-१७७ |
| २७. हिंदी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव, डा० विश्वनाथ मिश्र, डा० कैलाशपति घोषा                       |      | १७८-१८२ |
| २८. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य, डा० जयचंद्र राय, डा० शिवनाथ                              |      | १८३-१८५ |
| २९. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य, डा० लक्ष्मणारायण दुबे, डा० कमलाकांत पाठक                   |      | १८६-१९० |

## खंड ३ : श्रेष्ठ प्रकाशन

३०. तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पी० डी० गुणे, डा० कैलाशचंद्र भाटिया १६३-१६७
३१. भाषाविज्ञान कोश, डा० भोलानाथ तिवारी, डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' १६८-२०२
३२. हिंदी साहित्य कोश ( द्वितीय भाग ), श्री राजेंद्र द्विवेदी २०३-२०६
३३. सौंदर्यतत्व और काव्यसिद्धांत, डा० सुरेंद्र वारलिंगे, डा० हरद्वारीलाल शर्मा २०७-२११
३४. रस और रसास्वादन, डा० हरद्वारीलाल शर्मा, डा० रामानंद तिवारी २१२-२१६
३५. काव्यशास्त्रीय निबंध, डा० सत्यदेव चौधरी, डा० मनोहरलाल गौड़ २१७-२२३
३६. रज्जव वाणी, डा० ब्रजलाल वर्मा, डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित २२४-२२७
३७. कवि पुहकर कृत रसरतन, डा० शिवप्रसाद सिंह, डा० महेंद्रकुमार २२८-२३१
३८. कुतुबन कृत 'मृगावती', डा० शिवगोपाल मिश्र, डा० ब्रजलाल वर्मा २३२-२३८
३९. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश, डा० सिद्धनाथ कुमार २३९-२४४
४०. चारु चंद्रलेख, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमहेंद्र चतुर्वेदी २४५-२५१
४१. शहर में घूमता आइना, 'अश्क', डा० सुरेशचंद्र गुप्त २५२-२५६
४२. एक ईंच मुसकान, श्रीराजेंद्र यादव, श्रीराजेंद्र अवस्थी २५७-२६१
४३. जैसे उनके दिन फिरे, श्रीहरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल २६२-२६४
४४. युगचारण 'दिनकर', डा० सावित्री सिन्हा, डा० रणवीर रांघ्रा २६५-२६९



## संपादकीय

‘हिंदी वार्षिकी’ का प्रारंभ सन् १९६० के प्रथम अंक से हुआ था, जो कि सन् १९६१ में यथासमय प्रकाशित हो गया था। इसके बाद सन् १९६१ और सन् १९६२ के अंक किंचित् विलंब से प्रकाशित हुए—और इसका एकमात्र कारण था समीक्ष्य ग्रंथों तथा समीक्षाओं का देर से प्राप्त होना। १९६३ और १९६४ के अंकों की पांडुलिपियों की सामग्री १९६५ के अंत में तैयार हो गई थी, किंतु यथेष्ट प्रयास करने पर भी इसका समय पर प्रकाशन संभव न हो सका। अभी कुछ समय पूर्व काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी की प्रबंध समिति ने हमारे प्रस्ताव पर वार्षिकी का प्रकाशनभार स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः ऐसी पत्रिकाएँ सभा जैसी संस्थाओं के गौरव के अनुरूप ही होती हैं। संपादक-मंडल और सभा के अधिकारिवर्ग के परामर्श से यह निर्णय किया गया है कि उक्त दोनों अंक एक साथ, एक जिल्द में ही प्रकाशित कर दिए जायँ और सन् ६५, ६६ तथा ६७ के अंकों का प्रकाशन न कर '६८ से ही पुनः कार्यारंभ किया जाय। संपादक मंडल सभा की प्रबंध समिति के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करता है जिसके सहयोग से हमारी समस्या का समाधान हो सका और वार्षिकी को नया जीवन प्राप्त हुआ। संपादक मंडल उन समीक्षक लेखकों के प्रति भी आभारी हैं जिन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य में हमें सहयोग प्रदान किया।

नगेंद्र

संपादक



सन् १९६३



खंड : १

# हिंदी साहित्य की प्रगति



## कविता : १६६३

### डॉ० रमेश कुंतल मेघ

केवल एक वर्ष का काव्येतिहास लिखना बेहद असंभव सा और मुश्किल है। हम आलोचनात्मक सर्वेक्षण अवश्य कर सकते हैं। फिर, सन् '६३ ऐसी किसी महान् सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक घटना से भी गभित नहीं है जिमने हिंदी कवियों के बोध में कोई रोड़ा उपस्थित किया हो। एक प्रकार से यह तात्कालिक लघुग्रहीन और संभावित भविष्य का संवरण खंड माना जा सकता है। हम आधुनिक कविता की विभिन्नता तथा कवियों की चेतना एवं संवेदना की विलक्षणताओं का ही लेखाजोखा कर सकते हैं।

इस लघु अवधि में—और इस लेख की विवेचना सामग्री में—प्रधानतया गीतसंग्रह अधिक मिले हैं जिनमें माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'मरण ज्वार', रवींद्र भ्रमर कृत 'रवींद्र भ्रमर के गीत', उमाकांत मालवीय कृत 'मैंहदी और महावर' उल्लेखनीय है। माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का केंद्र जवानी का बलिदान तथा राष्ट्र का निर्माण है, रवींद्र भ्रमर प्रणय और लोक सामूहिकता से निबद्ध हैं, तथा उमाकांत मालवीय सौंदर्य संस्कारों के आह्लाद के गायक हैं।

इसी कड़ी में उदयशंकर भट्ट कृत 'अंतर्मथन' है जिसमें पूर्ववर्ती परंपरा का धारण करते हुए कुछ मिथकीय पात्रों के अंतस्संघर्ष का चित्रण ( विश्लेषण ) हुआ है। देवराज दिनेश कृत 'पुरवैया के तूपूर' में प्रेम और जवानी की चपलता और मस्ती के लोकरंजक घरातल उभरे हैं।

प्रधान आधुनिक कविता की धारा में जयसिंह नीरज कृत 'नील जल सोई परछाईयाँ' में सामाजिक व्यक्तिवाद ( सोशल इंडीविजुअलिज्म ) को शहरी अनुबोध मिला है, गोपीकृष्ण गोपेश कृत 'तुम्हारे लिये' में इतिवृत्त एवं निवर्णात्मकता की नई क्षमताओं की खोज हुई है, तथा सुरेंद्रपाल कृत 'शीत भीगा भोर' में नई कविता की बिबात्मक प्रेषणीयता का अभिधान हुआ है।

इस काल में तीन प्रमुख सहकारी संकलन भी निकले हैं जिनमें 'नई कविता ( अंक ७ )', 'कविता १९६३' और 'कविताएँ १९६३' प्रमुख हैं। इन संकलनों की योजना तथा दृष्टि नई कविता की उपलब्धियों को

एकत्र करती है, नई विधाओं एवं नई प्रतिभाओं को प्रस्तुत करती है, और नई कविता की आगत जड़ता को तोड़ने का प्रयत्न करती है।

अतएव इन चार आयामों पर हम सन् १९६३ की हिंदी कविता का निरीक्षण एवं सर्वेक्षण कर सकते हैं।

आधुनिक कविता के संकलन 'नील जल सोई परछाइयाँ' में जयसिंह नीरज की कविताएँ हैं। कवि की सरल तथा सहज अनुभूतियाँ हैं। उसे अहं एवं सेक्स का शैलीगत दंश नहीं चुभा है। उसमें सामाजिक न्याय तथा सामूहिक प्रतिबोध का घरातल आद्योपरांत विद्यमान है। इसी लिये वह शैलीगत प्राचरण में संबोधनपरक एवं बहुवचनमूलक सर्वनाम ('हम') इस्तेमाल करता है। इसके अलावा एक मामूली से शहर ( अलवर, भरतपुर ) की मामूली सी सौंदर्यवस्तुओं और व्यंगवस्तुओं के इर्दगिर्द वह अपना काव्यसंसार बिनता है। कवि ऐसे प्रत्यक्ष चिंतन की अपेक्षा संवेदना की, भावव्याकुलता की गहराई को उभारता है, जिससे सूत्रकथन या विश्लेषण की काव्ययात्राएँ स्थगित हो जाती हैं।

सृजनात्मक कार्य की दृष्टि से जयसिंह को छोटी छोटी वस्तुएँ ही उत्प्रेरक ( स्टिमुलस ) का काम करती हैं : उदाहरण आगिन में खिला गुलमोहर का वृक्ष कई कविताओं में कई बार आया है जो आगिन में, तन में, मन में, कई रूपों में उभर कर प्रतीकीकरण के स्तर उपलब्ध करता है। 'प्यार का मौसम' में डहडहे गुलमोहर की डाली पीने और छूने को उत्प्रेरित करती है। बहुधा ये कविताएँ स्वयंरूपेण कवि के सवक्तव्य व्यक्तित्व की आत्म व्याख्या करती हैं क्योंकि अभी तक उसका 'मैं' 'हम' है, अर्थात् वह 'हम' के माध्यम से 'मैं' का उद्घाटन करना चाहता है। अभिव्यंजना का यह पिराता हुआ द्वैत एक नए किस्म के सामाजिक व्यक्तिवाद का प्रश्न भी बनता है। हिंदी के अनेक उद्बुद्ध आधुनिक कवियों में भी यही द्वैत संचरण करता हुआ नजर आता है। 'भ्रम', 'छुटा गाएँ', और अंततः 'लोहे की बत्गा' इस प्रश्न को विशेषतः उभारते हैं। वस्तुतः 'टूटे व्यक्तित्ववाले मध्यवर्गीय' कवि की संचेतना दोनों ओर से नि-जड़ी हो जाया करती है। फलतः जयसिंह की संवेदित संचेतना भी विद्रोह एवं मर्यादा के बीच असंभावित संतुलन ढूँढ़ने की यूरोपियन चेष्टा है :

संस्कृति—हुल्लाहुप, नाचकूद

अंगप्रदर्शन और झाँकियाँ

महज भड़ोवा,

केवल बेलौस लाशों का  
तलछट पर तैरना' ( कला के मानदंड )

या

‘हम जूझ लेंगे कांटों से  
हम उलट देंगे परंपराओं को  
तोड़ भी लेंगे काराओं को,  
पर सच कहते हैं ।  
सौगंध खाते हैं  
कभी नहीं बनेंगे गुरुद्रोही ।’

इस संकलन में सरलता का रहस्य यह भी है कि कवि ने उपमाओं की लड़ियाँ नहीं भुलाई । बहुधा वह ऐंद्रियकता के रंगारंग में विभोर रहा है । चित्रात्मक होने के बावजूद भी उसे रंगों से उतना प्यार नहीं है जितना कि मुद्राओं ( जेस्चर्स ) से । ‘जार्ज कीट की नायिका से’ ( जो संभवतः सर्वोत्तम कविता है ), ‘एक चित्र देखकर’, ‘नील जल सोई परछाइयाँ’, ‘तीन पोज’, आदि मुद्रात्मक कविताएँ हैं । रंगों की किंचित् छटा ‘मूक मिलन’, ‘उद्दाम यौवन’ और ‘जार्ज कीट की नायिका’ में द्रष्टव्य है ।

कवि ने कुछ कविताओं में अवचेतन में भी ड्रवकी लगाकर विकल, विद्रूप और बीभत्स तथा रोगी मन को भी हल्के से देखा है -- ‘अंतर की गुहाओं का अस्पताल’, ‘शहनाई सुनकर’, ‘वाद्यवृंद सुनकर’, ‘कारा’, ‘ओ जोगिया किरणों’, ‘उलझन’ जैसी कविताएँ कुंठा के विस्फोट में, बैचैनी के उल्लास में, विषमता की बीभत्सता में रूपांतरित हो जाने के आयातों को पुंज ( पलक्स ) द्वारा मथ लाती हैं । इनमें साहचर्यों ( एसोशियेशंस ) की बेलौस अस्तव्यस्तता यह बता सकती है कि कवि के मन के कैनवास में बिंबों एवं अनुभूत बिंबों का जन्म किस प्रकार होता है । सबसे अहम बात यह है कि इस संकलन में न तो कोई आंदोलन है ( सन् '६३ में तब ऐसे साहित्यिक आस चुनावों का रिवाज नहीं था ) और न आडंबर । सहज की मामिकता और हल्कापन, दोनों का ही सहअस्तित्व इस संकलन में हुआ है ।

इस धारा के दूसरे छोर पर वक्तृता की सहजता समेटे हुए ‘तुम्हारे लिए’ प्राप्त है । यह गोपीकृष्ण गोपेश का काव्यसंग्रह है । इसकी अधिकांश कविताएँ आत्मपरक न होकर कविता की दुहरी आवाज ( ‘मैं’ + ‘तुम’ — उसमें भी मध्यम पुरुष की प्रधानता ) का माध्यम चुनती हैं । अतः विवरण एवं इतिवृत्तात्मकता का समावेश संभव है । इस विधि के द्वारा ये अनुभवों

का प्रभावात्मक धरातल पर सामूहिक संप्रेषण करने में सक्षम हैं। किंतु इसके लिये माध्यम थोड़ा दीर्घ होना चाहिए। गोपेश ने छोटी कविताओं में भी इतिवृत्तात्मक माध्यम चुना है। अतः इनमें एक प्रकार से एक कथा-वृत्ता और एक नाटकीयता तो अवश्य आ गई है लेकिन अवधारणाओं (कांसेप्ट्स) की रचना विलुप्त सी हो गई है। हम इसे कवि की, तथा संग्रह की सीमा मानते हैं। कवि ने कुछ प्रमुख बिंदु चुने हैं जिनमें बादल, चाँद और सितारे सर्वोपरि हैं। इनके माध्यम से उन्होंने अपनी कई कविताओं में चमत्कारगुण पूर्ण प्रश्नोत्तरविधि प्रस्तुत की है। भाव प्रतीक और मानव जीवन के सत्य ढूँढ़ने की यह विधि बहुत कुछ सूक्ष्म और गूढ़ हो गई थी तथा इसके पीछे छायावादी बोध ही प्रधान है। गोपेश द्वारा इस विधि के ग्रहण के कारण चित्रात्मकता और सहज साधारणीकरण तो पर्याप्त आ गया है लेकिन गहराई की यदाकदा हानि हुई है।

गीतों में 'प्यार का गगन उदास हो गया', 'आधा चैत हुआ, कि जैसे पूरा चैत हुआ' 'आज कि पहिला पानी बरसा मन हो गया उदास' अर्च्छ उभर सके हैं। कविताओं में 'यह वसंत की शाम कि जैसे', 'जेठ तपता है', 'दो वजे हं', 'बादल यहाँ आते हैं', तथा 'साँप हैं हम' शहरी बोध की आरंभिक प्रतिक्रिया को सहजस्फूर्त ढंग से अभिव्यक्त करती हैं।

इसी कड़ी में सुरेंद्रपाल कृत 'शांत भीगा भोर' है। इनकी भी अधिकांश कविताएँ प्रधानतः विवरणात्मक हैं। यद्यपि वे नई कविता के मुहारे से परे नहीं हैं। उनके व्याख्यांश ही उन्हें 'प्रयोग' के नजदीक ले आते हैं। इन कविताओं की मूल संवेदना में प्रयोगात्मकता के होते हुए भी प्रेषणीयता है। ये कविताएँ काव्यरचना का जो एक और पहलू स्पष्ट करती हैं, वह यह कि नई कविता के अंधानुकरणवाले (उस समय के—) फंशन से जो नई रुढ़ियाँ बनती जा रही हैं उन्हें एक बदले हुए अर्थ में कैसे ग्रहण किया जाय। कवि की कुछ कविताएँ (उपर्युक्त दृष्टि से) संभावनाओं के द्वार खोलती हैं। संग्रह से यह मुखर हो उठता है कि केवल अनुकरण ही कविता नहीं है बल्कि कविता एक नई प्रतिवस्तु स्थापना तथा आरोपण से परे की चीज भी है। इस संग्रह की कविताओं में शीर्षक के अनंतर 'सांस्कृतिक बिंबों' की एक लंबी सूची अनायास उपलब्ध हो जाती है। इन बिंबों के अंतर्गत सहज ऐंद्रियक भाव धारणा के भी बिंब हैं जो कविता को विशिष्ट भूमि प्रदान करते हैं। ऐसी कविताओं के लय तथा प्रवाह की दिशा के मध्य जीवानुभवों के विविध चित्र पिरो दिए जाते हैं। इस कृति में ऐसा ही

प्रयास हुआ है तथा काव्यशैथिल्य को तोड़ने के लिये कदम उठाया गया है ।

×

×

×

इसके उपरांत हम गीत तथा गीतपरक कविताओं की विधा को ले सकते हैं । इसमें सर्वसमर्थ कृति माखनलाल चतुर्वेदी की है ।

माखनलाल चतुर्वेदी—निराला और प्रेमचंद की तरह आयद अब एकांतिक कवि और बुद्धिजीवी हैं जिनमें जीवन की ऊर्जा समाज का विवेक और इतिहास की दमक तेजस्वी एवं कोमल आयामों में जीवित है । उनके 'मरण ज्वार' शीर्षक कविता में अस्तित्ववादी भय और त्रास नहीं बल्कि मरण को जीवन से भी उदात्त इहलौकिक और समष्टिधर्मा बनाने का खम है । संभवतः नवगीत और नई कविता—विशेष रूप से नवगीत का समारंभ भारतीय आत्मा से ही होता है । यह सूर्यपुरुष और लीलाकवि स्वतंत्रता की कीमत चुकाता रहा है, यंत्रणा और शोर के महागान को समझता रहा है, गांधी के राष्ट्रीयतावाद से प्रतिबद्ध रहा है; तथा देश और देश की संस्कृति एवं जनता का प्रवक्ता भी रहा है । आधुनिक युग में माखनलाल आधुनिकों के आधुनिक है । बदले हुए परिवेश में वे 'गांधी और विनोबा' को याद करते हैं । यही उनके मरण ज्वार का एकाकी बोध भी प्रकट करता है । उनका समाजपंथ बलिदान का है, उनका कवि एवं मनुष्य प्रतिरूप बलिपंथी है, तथा उनकी राष्ट्रीयता नारेबाजी नहीं है जिसमें अवसरवाद, दुलमुलवाद, फायदेबाजी के सौदे नहीं हैं । मरण ज्वार में बलिवेदी, श्रमवेदी और रणवेदी की त्रिवेणी है । सन '६२ के राष्ट्रीय अंधोन्माद के दौरान में राष्ट्रीय कविताओं का यह संकलन राष्ट्रीय विवेक और सामाजिक गंभीरता से इस ऐतिहासिक समस्या का दिग्दर्शन कराता है । भारत की युद्ध कविताओं के घटियापन की चर्चाएँ हुई हैं जिनके माध्यम से कवियों ने अपने जेबों गरम की थी । मरण ज्वार में कवि ने इसे अपने ढंग से देखा है—

‘उपमाएँ गरीब हो आई, अलंकार हैं फीके,  
दोनों तट वीरान दिख रहे अपनी साँस नदी के । ..  
नन्हें लेखक, तेरी तड़पन, तेरी आँखमिचौनी,  
सूरज की नवीन किरणों में पड़े नहीं छवि बौनी । ....  
उपमा पर, रूपक पर कथा, बलिदानों में शिर दे दे,  
आँसू आज उसाँसों में गंगा की धार पिरोदे ॥

वस्तुतः 'पुष्प की अभिलाषा' एक आर्घ्यबिंब है जो यंत्रणा और बलिदान का हेतु है। यही आर्घ्यबिंब इन सारी कविताओं में झिलमिलाता है। इसी केंद्रीय दृष्टि में कवि ने प्रणय के बजाय 'देशभक्ति' को रखा है। 'जवानी' की वेदी रणवेदी है, 'भावमयी छवि वाणी' की भूमि बलिवेदी है, तथा काव्य एवं जीवन का परम भागवत मुक्ति है। अतः सांस्कृतिक अंतर्दृष्टि, समर्पण भावना और बलिदान का मुक्तोत्सास ही कवि की सृजन भूमि है। इसमें मानवता के प्रति कवि की आस्था एक ज्वार की तरह प्रवाहित हुई है। अतः मरण ज्वार के दो तट हैं : बलिदान और निर्माण। यही नहीं, कवि की सृजन चेतना में भी दो ध्रुवांत आवेगों का समतोलन हुआ है : मधुरकवि और ओजस्वी सैनिक का, फूल और अंगार का। विपरीत संवेगों की लड़ा के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना कवि की अपनी चिर अभ्यस्त प्रणाली है। शब्दचयन में भी यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है अतः यहाँ शास्त्रीय रसभंग रसरंग हो जाता है। स्वयं कवि भी 'वाणी वीणा वेणी' की त्रिवेणी का समुपरंजन करता है। शब्दचयन में भी कवि की मौलिकता का रहस्य यही है। विरोधों का सामंजस्य कवि का जीवनदर्शन ही हो गया है। कुछ उदाहरण :

आती रहे अनंत जगत के आनंदों की घारी

दुलती रहें सड़क पर गिट्टी चुकती रहे उधारी।

( आजादी पर )

यह है सिरवालों का सौदा, यह है भुजदंडों का न्यौता।

आज प्रखरतम वार चाहिए, फेंक कतरनी, फेंक सरोता ॥

( बहने दो बलिपंथी घारा ,

बूढ़ों की क्या बात युगों की तरुणार्ई के दिन आए हैं ,

चट्टानों, खंदकों पहाड़ों की खाई के दिन आए है।

( चलो सजाओ सैन्य )

कवि का यही कुंतकीय विचित्र मार्ग 'मेरा है हिमशैल' शीर्षक प्रकृति-कविता में भी लक्षित है जिसमें कालिदासीय और छायावादी जमीनों को छोड़कर लोकांचलिक रमणीयता का आह्लाद है।

जवानी के राष्ट्रोत्सर्गवाले पक्ष को प्रणय की कोमलता और भावुकता में गुंथने के लिये रवींद्र भ्रमर तथा उमाकांत मालवीय के गीत निवेदित हुए हैं। इनमें प्रणय एवं सौंदर्य केंद्र में है किंतु इनके उपचार भिन्न-भिन्न हैं।

‘रवींद्र भ्रमर के गीत’—कवि रवींद्र भ्रमर के नए गीतों का संकलन है। नए गीत और नए गीतकार को लेकर काफी द्वंद्व हो रहा है। भ्रमर के अनुसार ‘नया गीतकार गीत की एक अति सहज परिभाषा देना चाहता है। वह गीतरचना के लिये न तो व्यक्तिनिष्ठता की कैद लगाना चाहता है और न ही रागात्मिका वृत्ति की। वह सिद्ध करना चाहता है कि कोई भी छंद, वाक्य अथवा पद जिसमें एक भावगत संगीत हो, गीत की संज्ञा का अधिकारी है’। भ्रमर नवगीत का स्रोत लोकगीतों में स्थापित करते हैं क्योंकि उनसे अनुसार लोकगीतों के माध्यम से प्रायः सामूहिक दुःख सुख की अभिव्यक्ति हुई है और वे सामाजिक यथार्थ की पीठिका पर आधारित जान पड़ते हैं। अतः नए गीतों में ( कवि ने ) लोकप्रचलित ग्रामगीतों की अनेक विशिष्टताओं को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार ‘नवगीत में तुकों के दुराग्रह को छोड़ दिया गया है……किंतु गीत-शिल्प में मुक्त छंद के लिये कोई गुंजाइश नहीं की जा सकी।’

इस भूमिका पर कवि ने अपने गीत निवेदित किए हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, निराला और जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी छायावादी धारा से मोड़ लेकर अपने अपने युगीन परिवेश में नवगीत के प्रयोग किए थे। भ्रमर ने तत्सम शब्दों को तद्भव बनाने तथा देशज शब्दों को अधिक लोकांचलिक बनाने की दिशा में अनूठे प्रयोग किए हैं जो उन्हें एक ओर तो समृद्ध गीत-परंपरा से जोड़ देते हैं तथा दूसरी ओर इन शब्दों की नई प्रकरणवृत्ता को उद्घाटित कर देते हैं। इनकी अतिरिक्त मिठास इन्हें शहरी बोध से काट भी देती है। भ्रमर के गीत शहरी बोध का आयत्तीकरण नहीं कर सके हैं। एक मध्यवर्गीय युवक की प्रणय संवेदनाओं के धरातल पर उन्होंने मांसल रागों की अन्वीक्षाएँ की हैं। ‘बाँध लिये अँजुरी में जूही के फूल’, ‘तुम बिन यह मौसम कितना उदास लगता है,’ ‘जितने क्षण बीते हैं तुम्हारे बिना,’ तोड़ो मौन की दीवार’, ‘बिना पुकारे शून्य सदन में’, ‘एक पल निहारा तुम्हें’ आदि में सौंदर्य तथा प्रीति के रंगों को हल्के शहरी संस्कारों से स्वीकारा गया है। लेकिन इनकी टक्कर में इनसे भी सशक्त गीत हैं लोकगीतों के बोध से संस्कारित एवं लोकतत्त्वों से समन्वित। ‘उनसे प्रीत करूँ पछताऊँ’, ‘बात है शब्द नहीं है’, ‘जादूगर की जात तुम्हारी मेरी विद्या तुमसे हारी’, ‘तुमसे नाता जनम-जनम का’, ‘बादल फिर घिर आये मेरे मारू देश’, ‘बनफुलवा फूले सिंगार के मलिनियाँ’ आदि। इन गीतों से भ्रमर अपने सर्वोत्तम स्वरूप में गूँजते हैं।

मूल प्रणयकेंद्र के अतिरिक्त प्रकृति गीत हैं ( अपेक्षाकृत कम ) जिनकी विलक्षणता मोहक है। 'नीम के जालीदार साये', 'फागुन की बदरी बरस गई', 'तान दिये चँदवे हरियाली के', 'चाँद को झुक-झुक कर देखा है', आदि।

अमर के नवगीत मानों लोकगीतों के बोध को आधुनिक युवक मन की गहराई एवं सरलता को उभार लाने का दुर्लभ कार्य करते हैं। जिस प्रणय के केंद्र में ये चकित हैं, उनमें इनका महत्त्व अक्षुण्ण है।

अमर के अग्रमान गीतधारा को ही लेकर चलनेवाले कवि उमाकांत मालवीय का 'मैंहदी और महावर' आह्लाद क्षणों के लालित्य और लावण्य को छूता है। ये मूलतः सौंदर्य गीत हैं जिनमें क्षण ( अस्तित्ववादी 'क्षण' नहीं ) अर्थात् एक भावकेंद्र अपने समस्त माधुर्य और चापल्य से भ्रम से घनीभूत हो गया है। कवि के सत्तासी गीतों में अस्सी गीत लघुतम हैं जो उपर्युक्त तथ्य को साबित करते हैं। इन गीतों में एक बात प्रकट है। ये अध्यात्म, रहस्य, कुहासवाली भाषा— इन तीनों से विमुक्त हैं। स्वयं कवि भी चाहता है कि बात धरती की ही रहे, आकाशी न हो जाय। कवि नई कविता की ऊँच ( मोनोटनी ) से तो छूटना चाहता है, लेकिन अरहस्यवादी छायावादी बोध के संमोहन में बँध जाता है। कवि का एक कथन द्रष्टव्य है : 'गीतों में वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, क्रमबद्धता के साथ गीतात्मक ऋतुजा ( लिрикल ल्युसिडिरी ) का मैं हिमायती हूँ, किंतु तथाकथित ऋतुजा, स्निग्धता के दुराग्रह के छोर पर शृङ्गार आधिपत्य और जनपदीय शब्दों की भरमार से उपजी लिबलिबाहट या चिपचिपाहट का समर्थन मैं नहीं करता।' इस कथन से कवि एक ओर माखनलाल चतुर्वेदी तथा दूसरी ओर रवींद्र अमर से भी पृथक् हो जाता है। यह सिद्ध करता है कि अभी नवगीत का स्वरूप नहीं उभर सका है—( सन् '६३ तक )। उक्त कथन के बावजूद भी कवि ने कई ग्रामगीतात्मक गीत लिखे हैं; जैसे, 'परछन की वेला है', 'मइया को देती अँकवार', 'कोहबर का दिया नेह बिना बुझा जा रहा' आदि। इसके अलावा गीतों में सर्वत्र लोकतत्त्वों एवं लोक अभिप्रायों ( फोक मोटिब्ज ) का इस्तेमाल हुआ है। अगर हम नवगीत को आधुनिक बोध से जोड़ते हैं, तो उसे आधुनिक प्रक्रिया के शहरीकरण से भी जोड़ना पड़ेगा अर्थात् शहरी वातावरण एवं औद्योगिक संस्कृति के भावों का वहन करना पड़ेगा। इस दृष्टि से हमें माखनलाल चतुर्वेदी ही गीर्वाणी वाली वाले लगते हैं।

जहाँतक प्रकृति का संबंध है, वह अलबत्ता गैर छायावादी स्वतंत्र रूप में मांसल होकर उभरी है। 'फालसाई घिरे बादल ज्यों किसी लड़कोर का

काजल लगा सा मलिन आँचल', 'भादों के भीगे दिन बीत चले रमते जोगी से घन मोरपखी विद्युत का वारे उपवीत चले', 'माली के छोरे की रेख भिनी आ रही, बासंती बगिया भी हो रही जवान है', 'फागुन के घन गुलाल बरसो', 'चितकबारे नभ की नीली गलियों से है गुजरा चाँद पहने घन का गजरा' आदि प्रमुखतया प्रकृति गीत हैं। वस्तुतः कवि पर संस्कारों का जवर्दस्त पहरा है जिनसे वह चाहकर भी गीतों को मुक्त नहीं कर सका। उनका बोध 'पुष्प घनेरे भी चयनिके हेरे तो आँचल, उसी भीड़ में पड़ा कहीं छोटा सा मन दुर्बल' वाला है। छोटे से फूल की तरह दुर्बल मनवाले ये गीत उसकी पोर-पोर में पिराते हैं। इसी प्रणयबोध के चलते वह कुछ मधुर रतिमुद्राएँ भी प्रस्तुत कर सका है।

नए प्रयोगों की भ्रजक भी मिलती है जिनमें 'संगमरमर अँगुलियों में क्रोशिया, और सुधियों में मँहकता है पिया', 'छिन रीझे, छिन रुठे, मनत भावन के ढंग अतूठे' शीर्षक दो गीत 'नव' हैं। नए प्रयोगों की छाया- 'ठौर ठौर लगे बौर', 'देसू टीस रहा', 'सुधि के इन्द्रधनुष कहते हैं', 'गाएँ बटोही स्वर आरोही', 'एक धाद, एक बली, चटखी तो लगी भली', 'सौदा है यह मन पटने का' आदि में मिलती है।

×

×

×

गीत एवं गीतपरक कविताओं की धारा में उदयशंकर भट्ट तथा देव-राज दिनेश की कृतियाँ आती हैं।

'अंतर्मथन' में उदयशंकर भट्ट ने कैकेयी, रावण, वैदेही और राम के अंतर्मथन के संघर्ष चित्र प्रस्तुत किए हैं। वस्तुतः ये चार लंबी कविताएँ हैं जिनमें शुष्क विवेचन विश्लेषण तो है किंतु काव्यरस नहीं। इस अंतर्मथन में अवचेतन की गहराई को भी नहीं छुआ गया है, बल्कि व्यवहारवादी मनोविज्ञान और नैतिक द्वंद्व के आधार पर इन पात्रों के चरित्रों के मार्मिक अंशों को ऊहापोह में जकड़ दिया गया है। कवि ने अपने ढंग से इन चरित्रों की वे पुनर्व्याख्याएँ की हैं जिन्हें मैथिलीशरण गुप्त ने नहीं करना चाहा।

वस्तुतः मिथकों की नई व्याख्याएँ एक सांस्कृतिक क्रियाधर्म है। जब वर्तमान में कोई सामाजिक तनाव या राष्ट्रीय संकट मौजूद होता है, तब मिथक पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। मिथक के प्रतीकात्मक चरित्र में प्रत्येक युग के अनुरूप अर्थ प्राप्त करने की क्षमता होती है। भट्ट के इन चारों पात्रों में मात्र पुनर्व्याख्या विनोद है। अलबत्ता यह आभासित होता है कि

कई व्याख्याओं में दिल्ली के राजनैतिक दबाव अवश्य उदात्तीकृत हुए हैं। अंतर्द्वंद्वों के विश्लेषण में गहराई और मार्मिकता नहीं आ पाई है। रावण संबंधी कविता पर तो प्रसाद कृत 'कामायनी' की विपुल छाप प्रतीत होती है। भाषाशैली में पद्यसंवादात्मक होते हुए भी ये कविताएँ नाट्य या काव्य दोनों कलाओं की विशेषताओं से वंचित रह गई हैं। यह संग्रह समानांतर यह बोध कराता है अबतक भी मात्र इतिवृत्तात्मक कविताएँ उत्तर-छायावादी शैली में प्रकाशित हो रही हैं। कैकेयी में ईर्ष्या एवं क्रोध एवं स्वार्थ की प्रेरक वृत्तियाँ उभारकर द्वंद का निराकरण इस बोध के द्वारा किया गया है कि उसके कारण ही राम की जय हुई, लोक-लोक में दिशा-दिशा में कीर्ति फैली ( कलंकिनी में हुई धन्य सुन कीर्तियाँ )। रावण में अहं और दंभ और काम का द्वंद दिखाया गया है; वाल्मीकि के आश्रम में रह रही वैदेही में पतिमिलन की चाह और स्वाभिमान के बीच द्वंद दिखाया गया है तथा राम में कुछ 'अमर्यादित' कार्यों ( बालिवध, सीता भू-प्रवेश, शंबूकबध ) को लेकर, संशय एवं अनास्था उभारने के बाद 'काल' द्वारा उनका औचित्य सिद्ध करा दिया गया है।

देवराज दिनेश उदयशंकर भट्ट से अधिक मुखर और शक्तिवाले हैं। जनचारण देवराज दिनेश कृत गीतों एवं कविताओं का संग्रह 'पुरवैया के नूपुर' बच्चन और नरेंद्र शर्मा की धारा में नीरज के समकक्ष आता है। दिनेश का स्पष्ट, स्वच्छ, सरल और नेक व्यक्तित्व इन गीतों में भी पारदर्शी है। कवि और उमकी इस कृति की जीवनदृष्टि यह है :

चाँद सितारों का शिकारी हूँ, पुजारी हूँ,  
प्रकृति के इस वक्ष पर निर्जन बिहारी हूँ,  
है लगन तुममें मुझे अपना बनाने की—  
चाँद तारों की नई बस्ती बसाने की !

प्रणय की स्वस्थ लीलाओं, भंगिमाओं और अनुभावों को सीधीसादा भाव एवं प्रभावपूर्ण भाषा में अभिव्यक्त करने की परंपरा में यह संकलन आता है। कवि दिनेश कविसंमेलनों के लोकप्रिय कवि एवं पाठकों की रुचियों के संस्कारकर्त्ता रहे हैं। उन्हें कविसंमेलन की विशिष्ट माँगों की खयाल भी रखना पड़ा है। अतः कलात्मक स्तर को काफी क्षति उठान पड़ी है।

माखनलाल चतुर्वेदी जवानी के बलिपंथ के सूर्यमुखी गीतकार हैं, और दिनेश जवानी के मधुपंथ के मस्त गायक हैं। जवानी की मस्ती, नवीनता,

शक्ति, मधुरता और कोमलता को उन्होंने खैय्यामी मिजाज से अभिव्यक्त किया है। इसलिये मधुवाला, मधुशाला, साकी, साकीवाला के प्रतीक लाक्षणिक ग्रंथों को भी ध्वनित करते हैं। अंतर्ज्वाला और अंतर्मंदिरा के बोध से मुक्त कवि के रिश्तों में नारी सखी और समान होकर आई है। उनका यह संग्रह 'जवानी' तथा 'प्यार' के आद्य भावों में गुँथा है। इस कवि में कृतित्व की अपार संभावित शक्ति है, अगर वह कविसंमेलन वाली उत्तेजना से मुक्त हो सके।

×

×

×

अब सबसे अंत में सहकारी संकलनों की चर्चा शेष रहती है।

साहित्यकारों के सहकारी प्रयासों की कड़ी अब सशक्त और सफल होने लगी है। बड़े बड़े प्रकाशन तंत्र और पूँजी पाखंडों से बचने के लिये, नई प्रतिभाओं को प्रस्तुत करने के लिये, अंतर भारती काव्य को प्रस्तुत करने के लिये, एक प्रदेश के उभरते हुए नए हस्ताक्षरों को आगे लाने के लिये, और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों पर विवाद-संवाद करने के लिये इन सहकारी संकलनों ने अपेक्षित साहस और सहयोग को संगठित किया है, और कमर कसकर मैदान में आ डटे हैं। कवियों के व्यक्तिगत संकलनों में ऐसी समष्टिगत परिणति नहीं हो सकती है। अतः यह नए प्रकार का काव्य-प्रसार दमकता हुआ हमारे सामने आया। 'नयी कविता', (अंक ७), 'कविता १९६३' तथा 'कविताएँ १९६३'—ये तीन महत्वपूर्ण संकलन प्रकाशित हुए। इन सभी संकलनों में अब कोई विशेष प्रयोगवाद, नई कवितावाद, कलावाद या एकतान जीवनदृष्टि नहीं नजर आती है। अतः इनका समग्र निरूपण कुछ कठिन काम भी है।

'नयी कविता (अंक ७)' जगदीश गुप्त एवं विजयदेव नारायण साही द्वारा संपादित है और एक निरंतरता का वहन करता है। पहले यह प्रयोगवाद के आगे एक नई दृष्टि के प्रस्थापन हेतु प्रस्तुत होता है किंतु अब इसमें सभी प्रकार का संचय है। इसमें नए एवं अप्रकाशित कवि अनाम को कुँवर नारायण ने प्रस्तुत किया है उनकी सत्रह कविताओं के साथ। इसके बाद 'आधुनिकता : स्वरूप और प्रयोजन' पर एक परिचर्चा छपी है जिसमें विपिनकुमार अग्रवाल, रामस्वरूप चतुर्वेदी, मलयज, नित्यानंद तिवारी तथा जगदीश गुप्त के लेख संकलित हैं। इस परिचर्चा में तथाकथित अप्रतिबद्ध लोगों की अराजनीतिक राजनीति का खेल बड़ा हसीन है।

सौंदर्य के कलात्मक धरातलवाला जगदीश गुप्त का एक गंभीर और श्रेष्ठ लेख भी छापा है : 'काव्य विव : समस्या और स्वरूप ।' उड़िया कविता में आधुनिकता पर गोपालचंद्र मिश्र का लेख भी है । शेष कविताएँ हैं जो अकारांत क्रम से छपी हैं । इनका स्तर श्रेष्ठतर है । ओम प्रभाकर, कैलाश वाजपेयी, गंगाप्रसाद विमल, गिरिजाकुमार माथुर, मलयज, शमशेर बहादुर सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि की कविताएँ संवेद्य हैं ।

इनके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक एवं संध्यासयुक्त युद्ध कविताएँ अलग से संकलित हैं ।

'कविता १९६३' नंदचतुर्वेदी तथा भागीरथ भागवत द्वारा संपादित है । इस महकागी संकलन में भी पूर्ववर्ती वितरण द्रष्टव्य है । विशिष्ट कवि के अंतर्गत ओम प्रभाकर, जयसिंह नीरज योगेश चौधरी, श्यामसुंदर घोष तथा श्रीकांत जोशी की कविताएँ सवक्तव्य छपी हैं । 'नयी कविता, नयी और कविता' शीर्षक एक परिचर्चा में रामदरश मिश्र, गंगाप्रसाद विमल और राजीव सक्सेना ने भाग लिया है । प्रादेशिकी स्तंभ के अंतर्गत अममिया, उड़िया, कश्मीरी, तेलगू, बंगला तथा मराठी कविताओं को अनूदित किया गया है । इसके अलावा 'गीतिका' खंड में नरेश सक्सेना, सोम ठाकुर, रवींद्र अमर, रामदास मिश्र, जुगमंदिर तायल के उत्तम नवगीत प्रस्तुत हुए हैं । इस संकलन की यही ताजी एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि है । संभवतः नवगीत की धारा पर सर्वाधिक विचार राजस्थान में चलवर और बीकानेर में हुआ है ।

तीसरे खंड ( कविताएँ ) में आनंदभैरव साही, कोशल मिश्र, नंद चतुर्वेदी, राजीव सक्सेना की कविताएँ अच्छी हैं; तथा अनामिका, भागीरथ भागवत, रमा भट्ट, वीरेंद्र कुमार जैन की कविताएँ सहज अथवा चिंतना से संयुक्त ।

यह संकलन समकालीन कविता की दिशा और उपलब्धि को परखने का एक उत्साहपूर्ण प्रयास है । हिंदी कविता में कितनी तेजी से गुणात्मक परिवर्तन हो रहे थे, तथा कितनी जटिलता से बोध बदल रहे हैं, इसका प्रतिबिंब इस संकलन में भी लक्षित हो रहा है ।

अंततः इस कड़ी में 'कविताएँ १९६३' नामक संकलन आता है जिसे किरोड़ीमल कालेज ( दिल्ली ) के हिंदी विभाग की ओर में अजितकुमार एवं विश्वनाथ त्रिपाठी ने संपादित किया है । यह प्रतिनिधि एवं श्रेष्ठ

कविताओं का संकलन है जो सन् ५४ को अकारण आधार (इंडेक्स बेस) मानकर सन् '६३ तक हिंदी काव्य की यात्रा में भाषा, संवेदना एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से विचार करवाने का आग्रह करता है। इसी संकलन से यह बात स्पष्ट हो सकी है कि हिंदी में सभी प्रकार की शैलियाँ—नई पुरानी भाषाधाराएँ, आदि समानांतर चल रही हैं, कुछ नई विधियाँ उन्मीलित हुई हैं, 'क्षण' से 'इतिहास' तक का समाहार हुआ है, तथा वस्तुओं एवं भावनाओं की विविधता प्रचुर हो गई है। एतद् और दृष्टि से इस संकलन की विशिष्टता है कि यह केवल एक वर्ष के काल माध्यम में तथानाम तथागुण 'वार्षिक संग्रह' है जो 'इस साल की स्प्रिट को प्रकट' करता है। इसमें संपादकों का ध्यान प्रतिनिधित्व एवं कवित्व दोनों पर रहा है। संपादकों ने संचयन में अपनी सुरुचि का डी नहीं, 'ईमानदारी तथा तटस्थता का भी एक नमूना' पेश किया है। इनका यह मन है कि यह संकलन वर्तमानसंभूत होकर भी अतीत और भविष्य के बीच एक सेतु बन सकेगा। इन आधुनिक कविताओं के विषय में संपादकीय अंग इस अंश से हम सहमत हैं : 'इन कविताओं में आधुनिक ज्ञान की अनुभूति की सच्चाई और उस अनुभूति को प्रेषणीय बना सकने की आकुल साधना तो देखी ही जा सकती है। आज के कवि की अनुभूति प्राचीन कवि की अनुभूति से भिन्न है; साधारण शब्दावली में, वह अधिक जटिल है। उस भिन्न अनुभूति को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने के लिये उसे अपनी ओर से कुछ साधना करनी पड़ती है; केवल परंपरा का निर्देश शिरोधार्य करके वह ईमानदार नहीं बना रह सकता।' अतः प्रतिनिधित्व एवं श्रेष्ठता, सुरुचि एवं ईमानदारी के निकषों पर उतरी इन कविताओं में गीत, लंबी कविताएँ, मनःस्थितियोंवाली कविताएँ, सूत्रसूक्तिपरक कविताएँ, प्रकृति कविताएँ, नवगीत आदि एक साथ समुपस्थित हुए हैं। इन चारों कसौटियों के आधार पर अजितकुमार, अज्ञेय, अशोक वाजपेयी, आग्नेय, ओम प्रभाकर, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, कैलाश वाजपेयी, दूधनाथ सिंह, नरेश मेहता, नागार्जुन, माखनलाल चतुर्वेदी, रांगेय राघव, राजीव सक्सेना, रामदास मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, शकुंत माथुर, शेखर जोशी, श्रीराम वर्मा, त्रिलोचन आदि की कविताएँ विविधतानुगामी तथा अच्छी हैं।

X

X

X

इस भाँति केवल सन् १९६३ की कविता की काव्यपुस्तकों एवं सहकारी संग्रहों के निरूपण में हम स्पष्टतः देखते हैं कि सभी प्रकार की कलाधाराएँ

प्रवाहित होती चल रही हैं, लेकिन प्राथमिकता एवं प्रधानता आधुनिक कविता की ही है। इस कालखंड में नई कविता अपनी दुरूहता एवं कुहासेपन से, सूक्तिवाद से भी आजाद होती हुई दीखती है, नई कविता अन्य प्रादेशिक कविताओं से भी सह परिचय प्राप्त करती है, तथा नवगीत की विधा का अन्वेषण करने की ओर भी उन्मुख होती है। इनमें से कम से कम कुछ कविताएँ तो अवश्य ही अपनी अमिट छाप छोड़ेंगी—भविष्य में।

---

## नाटक : १९६३

### श्री नेमिचंद जैन

हिंदी में उल्लेखनीय या विचारणीय नाटक इतने कम लिखे जाते हैं कि एक वर्ष की सीमित अवधि के नाट्यलेखन के सर्वेक्षण में किन्हीं छिटपुट नाटकों की चर्चासमीक्षा ही संभव है, उसमें किसी व्यापक विकास सूत्र को पहचानने का प्रयास सामान्यतः बहुत फलदायी नहीं हो सकता । किसी किसी वर्ष में तो कोई ऐसा छिटपुट नाटक भी प्रकाशित नहीं होता जिसकी समीक्षा सार्थक हो सके और तब शायद नाम गिनाने के सिवाय कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता । सौभाग्यवश १९६३ का वर्ष इस दृष्टि से किसी हद तक इतना बंजर नहीं है । उसमें कम से कम दो नाटक ऐसे अवश्य प्रकाशित हुए जिनकी समीक्षा सार्थक हो सकती है । वे हैं मोहन राकेश का 'लहरों के राजहंस' और दुष्यंतकुमार का 'एक कंठ विषपायी' । इनके अतिरिक्त एकाध कामदी, कुछ चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि में लिखे गए नाटक और कुछ अनुवाद संभवतः ऐसी चर्चा का आधार बन सकते हैं जिससे हिंदी नाटक लेखन की कुछ सामान्य दिशाओं और समस्याओं का संकेत किया जा सके ।

हिंदी नाटक की एक बड़ी भारी दुर्बलता यह रही है कि बड़े लंबे समय तक उसका किसी रंगमंच से कोई जीवंत संबंध नहीं रहा, बल्कि एक समय तो वह आया जब नाटककार के सामने किसी प्रकार का कोई भी सक्रिय रंगमंच नहीं था, और नाटक अधिकांशतः पाठ्यपुस्तकों के लिये लिखे जाते थे । जयशंकर प्रसाद के सामने कम से कम पारसी रंगमंच तो था, पर उनके बाद बीस वर्ष से भी अधिक समय तक हिंदी नाटक एक रंगमंचीय रिक्तता में लिखे जाते रहे । दूसरी ओर जाने अनजाने हिंदी नाटक लेखकों के मन में बहुत दिनों तक यह भाव रहा कि नाटक तो मनोरंजन का साधन है, वह काव्य या कथा-उपन्यास के स्तर पर किसी गहरी अनुभूति और सार्थक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हो सकता । फलतः पौर्बे दशक तक लिखे जानेवाले अधिकांश नाटकों की कथावस्तु पाठ्यपुस्तकोपयोगी और रूपबंध शिथिल तथा मिथ्या स्फीति से आक्रांत होता था । नाटक के रूप में वास्तविक प्रखरता और कसावट रंगमंच के संदर्भ में ही आती है और

आ सकती है। उसके प्रभाव में नाटक लेखन अधिक से अधिक एक प्रकार की संवादात्मक कथाओं का लेखन मात्र बन पाता था।

इस स्थिति में परिवर्तन दूसरे महायुद्ध के दिनों से, विशेषकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से, होना शुरू हुआ और पाँचवें दशक में आकर नाटक का संबंध रंगमंच से अधिक स्पष्ट रूप से जुड़ने लगा। उर्दूनाथ अश्व के 'मलग मलग रास्ते' और 'भँवर', जगदीशचंद्र मायुर के 'कोणार्क' और 'शारदीया' के अनिरिक्त, धर्मवीर भारती का 'अंधायुग', मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' आदि इसी दशक में लिखे गए। इस दशक के अंत में संगीत नाटक अकादमी की हिंदी नाटक और प्रदर्शन प्रतियोगिताओं ने अच्छे नाटकों के लिखे जाने और प्रदर्शन को ही प्रोत्साहन नहीं दिया, बल्कि उनके कारण अनामिका जैसी मंडलियाँ भी सामने आईं। हिंदी क्षेत्र के शहरों में, विशेषकर महानगरों में, बहुत से ऐसे दल बने जो हिंदी नाटक खेलते थे या खेलना चाहते थे। अभिनय और प्रदर्शन की कलाओं के विषय में गंभीरता में वृद्धि हुई। दिल्ली में १९५९ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना हुई जिसमें हिंदी में ही नाटक खेले जाने का आयोजन था। इसमें कोई संदेह नहीं कि छठे दशक का हिंदी नाटक रंगमंचसंबंधी इन परिवर्तनों से—बदलती हुई बाह्य परिस्थितियों और मानसिक प्रवृत्तियों से—बहुत अधिक प्रभावित और निर्धारित है। इस दशक का नाटकलेखन कलात्मक और मर्जनात्मक स्तर पर अपने आप में चाहे जितना दुर्बल या शिथिल हो, पर वह लिखा गया है एक विशिष्ट रंगमंचीय परिस्थिति के संदर्भ में। इस कारण उसकी आंतरिक और बाह्य रचना में कुछ विशेष प्रकार के रुझान स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

१९६३ के नाटकलेखन को इन्हीं संदर्भों में देखना उचित होगा। क्योंकि उसके बिना इस वर्ष के नाटकों की, बल्कि किसी भी नाटक की, वास्तविक सार्थकता या असफलता का ठीक ठीक आकलन नहीं हो सकता।

जैसा कि ऊपर कहा गया, मोहन राकेश का 'लहरों के राजहंस' इस वर्ष का सबसे उल्लेखनीय नाटक है—और इस वर्ष के ही नहीं, पूरे प्रसादोत्तर नाटक साहित्य में भी उसका एक विशेष स्थान है। साथ ही वह एक ओर मोहन राकेश के नाटकलेखन के अगले चरण का संकेत करता है, और दूसरी ओर उनकी नाट्यदृष्टि की कुछ तीव्र सीमाओं का। 'लहरों के राजहंस' अण्वधोष के सौंदरानंद काव्य की भाँति राजकुमार नंद और उसकी रूपवती पत्नी सुंदरी के आंतरिक संघर्ष को प्रस्तुत करता है। पर वास्तव में नंद

और सुंदरी तो निमित्त मात्र हैं; नाटक की वास्तविक भाववस्तु आज के व्यक्ति का अंतर्द्वंद्व है। किसी व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य कोई अन्य व्यक्ति नहीं निर्धारित कर सकता; प्रत्येक को अपनी मुक्ति का पथ स्वयं ही खोजना पड़ता है; किसी दूसरे का खोजा हुआ रास्ता उसके काम नहीं आ सकता, चाहे वह कितना ही गौरवशाली और लोकसम्मत हो, अथवा कितना ही महज मोहक, आकर्षक और सुविधाजनक हो। 'लहरों के राजहंस' में मोहन राकेश ने राजकुमार नंद द्वारा सुंदरी के रूपपाश से मुक्त होकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते के प्रसंग को नंद के वैयक्तिक अंतर्द्वंद्व का आधार देने का प्रयास किया है जिसके लिये उन्होंने सौंदरानंद में प्रस्तुत कथानक में कुछ परिवर्तन भी किए हैं। ढाई हजार वर्ष पुराने इस अर्ध ऐतिहासिक कथानक में आधुनिक अंतर्द्वंद्व का यह प्रक्षेपण निस्संदेह आधुनिक नाट्यदृष्टि के अनुरूप है। किंतु वह जहाँ सहज ही नाटक को एक से अधिक धरातल पर अर्थवान् बनाता है और मुख्य पात्रों के व्यक्तित्वों को एक से अधिक आयाम और गहराइयाँ देता है, वहीं अनिवार्य रूप से उसके कारण नाटककार का कार्य कहीं अधिक जटिल और कठिन भी हो जाता है और नाटककार से बड़ी उर्वर कल्पना और प्रखर संवेदनशीलता की माँग करता है।

किंतु नाटकीय उद्देश्य और नाट्यपद्धति की दृष्टि से मूल्यवान् होने पर भी, नाट्यरचना और रूपबंध की दृष्टि से इस नाटक में एक मूलभूत अंतर्विरोध है। नाटक के पहले अंक में दृष्टिकेंद्र में सुंदरी है जिसने, यह जानकर भी कि अगले दिन यशोधरा भिक्षुणी होनेवाली है, एक कामोत्सव का आयोजन किया है। आयोजन सफल नहीं होता और सुंदरी के रूपगर्व को बड़ा गहरा आघात लगता है। नंद इस अंक में एक लुब्ध मुग्ध पति मात्र है जो सुंदरी के इस आयोजन की नियति जानता है पर उसे रोक नहीं पाता, कुछ इसलिये भी कि वह सुंदरी की निराशा का क्षण अधिक से अधिक देर तक टालना चाहता है, और हलका सा यह भाव भी उसके मन में है कि शायद कोई रास्ता निकल आए। जो भी हो, पहले अंक के पूरे गठन में, मुख्य कार्यव्यापार की गति और अंतिम परिणति में, कहीं भी नाटक के चरम अंतर्द्वंद्व का आभास नहीं मिलता, यद्यपि अपने आपमें यह अंक अत्यंत कुशलता से, बड़े शब्दसंयम से स्थितियों के नाटकीय समझीकरण को अंत तक प्रस्तुत करता है। दूसरे अंक में दृष्टिकेंद्र बदलने लगता है और कुछ हलका सा आभास नंद की आंतरिक उलझन का मिलता है, यद्यपि अब भी इस उलझन का रूप स्पष्ट नहीं होता। पिछले रात की निराशा के

बाद सुंदरा कुछ उदास है। नंद अपने प्यार से उसका जी हलका करना चाहता है, पर वह भी कुछ अनमना है। तभी उसे समाचार मिलता है कि गौतम उसके महल के द्वार पर भिक्षा के लिये आकर लौट गए। इस समाचार से वह चंचल हो उठता है। सुंदरी उसकी इस चंचलता को देखती है और शीघ्र ही वापस लौटने का वचन लेकर उसे गौतम से मिलने जाने देती है।

यह अंक स्त्रीपुरुष के परस्पर आकर्षण और प्रेम का ऐसा संयत और सधा हुआ किंतु फिर भी अत्यंत सघन और तीव्रतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, जो हिंदी नाटक में अनोखा है। इस चित्र में दो भिन्न भावस्थितियों को, बाह्य तथा आंतरिक तनाव के भिन्न बिंदुओं पर जीवित व्यक्तियों के अनुभव और व्यवहार को कई स्तरों पर व्यंजित किया गया है जिसमें एक गहरा नाटकीय संघात है। पर अब भी नंद का अंतर्द्वंद्व गौण है; मंच के केंद्र में, भाव और गति दोनों की ही दृष्टि से, अब भी सुंदरी ही है। नंद गौतम से मिलने अपने प्रमाद की क्षमायाचना करने जाता है, अपने जीवन के उद्देश्य को लेकर किसी विकलता का समाधान खोजने नहीं।

नंद का पूरा मानसिक संघर्ष और तनाव नाटक के तीसरे अंक में, चरम बिंदु के बहुत समीप, अचानक ही विस्फोट के साथ प्रकट होता है। गौतम बुद्ध ने बलपूर्वक उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे दीक्षित कर दिया, उसके केश कटवा दिए। पर वह तो यह नहीं चाहता था। उसे नहीं लगता कि बुद्ध का रास्ता ही उसका रास्ता है। वह अत्यंत विक्षुब्ध हो उठने के कारण तुरंत सुंदरी के पास नहीं लौट पाता, वन में एक व्याघ्र से संघर्ष करके आहत होकर लौटता है। उसके साथ भिक्षु आनंद भी है जिसके साथ वार्तालाप में नंद के संघर्ष को बड़ी तीव्रता से अभिव्यक्ति मिलती है। किंतु आनंद के जाने के बाद सुंदरी उसके मुंडित मस्तक को देखकर प्रायः चीख उठती है। वह समझती है कि नंद भिक्षु हो गया। नंद उसकी इस प्रतिक्रिया से अपमानित अनुभव करता है, उसके मन में अचानक यह सत्य उद्घाटित होता है कि सुंदरी भी उसे नहीं समझती। यदि गौतम ने बलपूर्वक उसे भिक्षु बनाना चाहा तो सुंदरी उसे अपना अनुगत बनाकर ही रखना चाहती है। पर दोनों में से कोई भी मार्ग उसे स्वीकार नहीं है। वह अपना पथ अपने आप खोजने के लिये सुंदरी से बिना कुछ कहे चला जाता है।\*

\* मांहन राकेश ने पिछले दिनों इस नाटक को फिर से लिखा है और उसमें

जैसा पहले कहा गया, नाटक का यह अंत, नंद का अपना सही रास्ता खोजने के लिये निकल पड़ने का निश्चय, किसी हद तक आकस्मिक और आरोपित लगता है। साथ ही वह किसी गहरे संघर्ष की परिणति नहीं, बल्कि पतिपत्नी की आपसी गलतफहमी का नतीजा जान पड़ता है। बुद्ध द्वारा बलपूर्वक दीक्षा दिए जाने का प्रसंग भी ठीक स्थापित नहीं होता। चरम बिंदु पर स्थितियों और व्यक्तियों के संघात की यह शिथिलता नाटक की उपलब्धि और सार्थकता को कम कर देती है, महत्त्वपूर्ण होकर भी विषयवस्तु स्थापित नहीं हो पाती, पात्र पहले दो अंकों में बड़ी सूक्ष्मता और संवेदनशीलता और गहराई से परिकल्पित और प्रस्तुत होकर भी अंत में अविश्वसनीयता, क्षुद्रता और निरर्थकता के जाल में उलझ जाते हैं। 'लहरों के राजहंस' एक अत्यंत समर्थ कृति होते होते रह जाता है।

आंतरिक रचना के स्तर पर यह अंतर्विरोध शिल्प के कई पक्षों में भी है। इस नाटक में बिंबों का बड़ा व्यापक उपयोग है। आहत राजहंस, क्लांति से मृत मृग, व्याघ्र से आत्मरक्षा में क्षतविक्षत नंद, टूटा हुआ दर्पण, सूखा हुआ विशेषक, पृष्ठभूमि से उठनेवाले विभिन्न स्वर इत्यादि। नंद के अंतःसंघर्ष को रेखांकित करने के लिये श्यामांग की विक्षिप्तता और उसके प्रलाप के स्वर तथा सुंदरी और नंद के संबंधों के समानांतर और विसदृश अलंकार और श्यामांग के स्नेह संबंध का उपयोग भी बड़ी नाटकीय कल्पना-शीलता सूचन करता है। पर इनमें भी सभी जगह सार्थकता और अनिवार्यता नहीं आ सकी है। विशेषकर राजहंसों के बिंब और श्यामांग के व्यक्तित्व के उपयोग में किसी हद तक अराजकता है जिससे समग्र प्रभाव टूटने लगता है।

किसी हद तक इसी दुर्बलता के कारण इस नाटक का प्रदर्शन बहुत दिनों तक नहीं हुआ और अब उसके संशोधित रूप का ही प्रदर्शन संभव हो पाया है। कुल मिला कर 'लहरों के राजहंस' महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय तो है, पर पूरी सार्थकता के स्तर तक नहीं पहुँचता। वह हिंदी नाटक को एक चरण आगे तो नहीं ले जाता, पर हिंदी रंगमंच की समर्थता की दिशा में बढ़ने के साथ निश्चित रूप से जुड़ा हुआ है।

---

कुछ व्यापक संशोधन किए हैं। अब नंद सुंदरी से बिना मिले नहीं, उससे वार्तालाप के बाद और उसके फलस्वरूप ही जाता है। नया संशोधित रूप पहले से कहीं अधिक प्रभावकारी होने पर भी, कुल मिलाकर वह मूल अंतर्विरोध पूरी तरह दूर नहीं होता जिसका यहाँ उल्लेख किया गया है।

इस वर्ष का दूसरा विचारणीय नाटक है दुष्यंतकुमार का 'एक कंठ विषपायी' । यह 'अंधा युग' की भाँति पद्य में है और इसकी विषयवस्तु भी युद्ध की विभीषिका, व्यर्थता तथा अमानवीयता ही है । उसका कथानक दक्ष-यज्ञ; सतीदाह और उसके कारण शंकर के क्रोध और देवताओं के युद्ध से संबंधित है । शंकर के आक्रमण करने पर ब्रह्मा इंद्र को युद्ध की अनुमति नहीं देते क्योंकि उनके विचार में सत्य इंद्र के पक्ष में भी नहीं है । अंत में विष्णु कुछ उपाय करते हैं और युद्ध नहीं होता ।

इस नाटक पर 'अंधा युग' का प्रभाव बहुत है । पर वह भी ऊपरी है । 'एक कंठ विषपायी' की स्थितियों में अतिरंजना और कृत्रिमता है, वस्त्रिक उसमें स्थितियाँ कम, विवाद और बहस अधिक है । इसलिये किसी मानवीय भावतीव्रता का क्षण प्रायः नहीं आता । ब्रह्मा और विष्णु की दार्शनिकता सतही और अप्रासंगिक लगती है; शंकर की प्रतिक्रिया और व्यवहार में किसी 'ट्रैजिक' मानवीय नियति के बजाय भावुकता अधिक है । इस भावुकता का चरम रूप है सर्वहत्त । उसके व्यक्तित्व का कोई आधार नहीं, उसकी कोई अनिवार्यता नहीं, नाटक की मूलस्थिति से उसका कोई आधार-भूत संबंध नहीं । इसलिये उसकी बातें अतिरंजित, आरोपित और बेहद छिछली लगती है । एक स्थान पर वह कहता है :

इस दुखांत नाटक का पटाक्षेप

मेरे

मंच पर आने से पूर्व हो चुका था ।

सारे दर्शक

सारे अभिनेता चले जा चुके थे ।

मैं तो केवल

निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था :

मात्र भृत्य !

मैं यह नाटक क्यों देखता भला ?

मुझसे

या हमसे

यह आशा कब की जाती है

कि हम नाटक देखें

उसमें भाग लें ।

हाँ,

पटाक्षेप होने पर

मंच की सज्जा सामग्री को सँजोने के लिये

किसी भृत्य को आना चाहिए था

मैं यथासमय आया हूँ ।

सर्वहत्त के सभी वक्तव्यों में इसी प्रकार की भावुकता है जो नाटक को कोई गहरा अर्थ नहीं प्राप्त करने देती ।

परिकल्पना में इस दुर्बलता के कारण नाटक किसी तीव्रतापूर्ण चरम स्थिति तक नहीं पहुँचता न व्यक्तित्व के ही किसी गहन मानवीय रूप का उद्घाटन करता है । इसलिये उसमें भावों का न तो कोई गहरा विस्फोटक संघान है, न कार्यव्यापार की कोई झकझोर देनेवाली परिणति । उसमें किसी गहरे संकट या तोड़ द्वंद्व से साक्षात्कार नहीं । उसका काव्य वर्ण-नात्मक और सतही है, कोई गहरी व्यंजना नहीं प्रस्तुत करता । यह नीरस भावहीनता और इतिवृत्तात्मकता भाषा में भी है । न केवल भाववस्तु का संयोजन नाटकीय और समर्थ नहीं है, बल्कि रंगहीन, मपाट भाषा और अभिव्यक्ति उसे न सार्थक काव्य बनने देनी है न सक्षम नाटक । कुल मिलाकर 'एक कंठ विषपायी' प्रशंसनीय प्रयास होने पर भी, उसकी नाटकीय संभावनाएँ बड़ी सतही और सीमित हैं ।

सर्जनात्मक स्तर पर हिंदी नाटक का एक और बड़ा अभाव है कामदी नाटकों का । यह एक बड़ा विचित्र अंतर्विरोध है कि यद्यपि रंगमंच पर साधारणतः मंडलियों में कामदी नाटकों की बड़ी माँग रहती है, फिर भी हिंदी में उनकी ही सबसे ज्यादा कमी है । जो कामदी नाटक हैं भी, वे अधिकांश बड़े हलके, छिछले और फूहड़ हैं । उनमें न मानवीय चरित्र और व्यवहार की कोई सही समझ है, और न उनके माध्यम से स्थूल उद्देश्य-परकता से अधिक गहरे जाकर किसी तीखी या सार्थक मानवीय स्थिति का साक्षात्कार । आज सारे संसार में बहुत सा सार्थक नाटकलेखन कामदी के रूप में हो रहा है जिसमें बड़ी गहराई में जाकर आज के जीवन की विडंबना, और अर्थहीनता का प्रस्तुतीकरण मिलता है । इन कामदी नाटकों में हास्यास्पद और करुण का ऐसा तीखा और अपूर्व मिश्रण होता है जो दर्शक या पाठक को चेतना के कई स्तरों पर झकझोरता है । हमारे देश में बंगला और मराठी में भी अचछी कामदियों का इतना अभाव नहीं । किंतु हिंदी में तो साधारण कोटि का मनोरंजक कामदी लेखन भी नहीं के बराबर है । दुर्भाग्यवश जो छिटपुट प्रयत्न इस दिशा में होते हैं वे प्रायः उन लोगों द्वारा

ही होते हैं जिनका जीवन से साक्षात्कार बहुत सतही और महत्वहीन स्तर पर है। किंतु हिंदी रंगमंच की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि अधिक कल्पनाशील और सूक्ष्म स्तर के कामदी लेखन की ओर ध्यान दिया जाय।

इस दृष्टि से इस वर्ष प्रकाशित संतोषनारायण नोटियाल के कामदी नाटक 'चाय पाटियाँ' का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें दिल्ली के जीवन की कृत्रिमता और मानवीय संबंधों के पीछे क्षुद्रता और स्वार्थपरता का उद्घाटन है। नाटक में दिखाया गया है कि चाय पाटियाँ दिल्ली के जीवन में तरह तरह के काम बनाने, महत्वपूर्ण व्यक्तियों से 'संपर्क' स्थापित करने इत्यादि के लिये किस प्रकार काम में आती हैं और कैसे मानवीय संबंधों को भ्रष्ट करती हैं। पर नाटक बड़े सतही ढंग से इस स्थिति को प्रस्तुत करता है। उसमें संबंधों की क्षुद्रता किसी गहरे स्तर तक नहीं उतरती और साथ ही घटनाओं, परिस्थितियों और व्यक्तियों का प्रस्तुतीकरण और संघात कृत्रिम तथा आरोपित ही नहीं, प्रायः अविश्वसनीय है। इसलिये किसी हद तक मनोरंजक होने पर भी नाटक कोई कलात्मक स्तर नहीं प्राप्त करता।

इस वर्ष में एक अन्य प्रकार के नाटक बहुत लिखे गए जिन्हें उद्देश्य-परक या प्रचारात्मक कहा जा सकता है। चीनी आक्रमण ने बहुत से लेखकों को 'देश को जगाने' के कार्य की ओर प्रेरित किया जान पड़ता है, जिसके लिये नाटक को स्वभावतः ही अधिक उपयोगी साधन समझा गया। संभवतः सरकारी प्रचार विभाग की ओर से ऐसे नाटकों की विशेष माँग भी हुई थी। 'घाटियाँ गूँजती हैं' (शिवप्रसाद मिश्र), 'सीमांत के बादल' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'नेफा की एक शाम' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री), 'अपनी घरती' (रेवतीशरण शर्मा), 'मोर्चे पर' (चतुर्भुज) आदि नाटक इसी कोटि के हैं। वे चीनी आक्रमण के फलस्वरूप किसी गहरे मोहभंग या आत्म-साक्षात्कार को नहीं, बल्कि एक प्रकार के ऊपरी आक्रोश को, छिछली भावुकता को, बड़ी कृत्रिम, मनगढ़ंत, और प्रायः अविश्वसनीय स्थितियों के सहारे प्रस्तुत करते हैं। प्रायः सभी में बर्बर नृशंस अमानवीय चीनी आत-तायी और उसका स्वेच्छा से या परिस्थितिवश साथ देनेवाले विश्वासघाती भारतीय 'पंचमांगी' के साथ ईमानदार, मानवीय भावनाओं से अनुप्राणित और बलिदान के लिये प्रस्तुत भारतीय स्त्रीपुरुषों का संघर्ष दिखाया गया है। ये काले सफेद के खानों में बँटे हुए जीवन के चित्र इतने किशोरसुलभ सरलीकरण से आक्रांत हैं कि उनकी कोई कलात्मक सार्थकता नहीं है। इस

तरह के अधिकांश लेखन की भाँति वे प्रायः निर्जीव हैं और न अच्छा प्रचार हैं न अच्छा नाटक ।

अनुवादों में इस वर्ष ओनाल का नाटक 'लंबे दिन की यात्रा रात में' (उपेन्द्रनाथ अशक) और रूमानियन लेखक सेवेस्सियन के 'छपते छपते' का रूपांतर (विनोद रस्तोगी) महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है । इनमें 'छपते छपते', जो पूँजीपतियों द्वारा समाचार पत्रों का अपने स्वार्थ के लिये उपयोग करने पर व्यंग्य करनेवाला कामदी नाटक है, कई जगह प्रदर्शित हो चुका है और बड़ा मनोरंजक और लोकप्रिय है । ओनाल का नाटक गंभीर है, पर उसका भी प्रदर्शन संभव हो सकना चाहिए । निस्संदेह उसके लिये किसी हद तक सक्षम, संवेदनशील और अनुशासित नाटक मंडली की आवश्यकता है । पर हिंदी में इस नाटक का उपलब्ध होना शुभ है ।

एक वर्ष के हिंदी नाटकलेखन का यह सर्वेक्षण स्पष्ट ही कोई बड़ी उपलब्धिसूचक स्थिति नहीं प्रस्तुत करता । किंतु एक स्तर पर वह इस नए दौर के हिंदी नाटकलेखन की कई नई दिशाओं को अवश्य सूचित करता है । हिंदी नाटककार नाटक को निरा मनोरंजन मानने के भ्रम से निकल आया है और नाटक के माध्यम से यथार्थ के साक्ष्य अधिक सार्थक और गहरे साक्षात्कार का प्रयास करने लगा है । इस प्रक्रिया में वह ऐसी भाषा का अन्वेषण करने की ओर भी उन्मुख हुआ है जो रंगमंच पर बोली जाने के उपयुक्त होने के साथ साथ काव्यात्मक व्यंजना और नाटकीय विब-मयता का सहारा लेती हो । पर हिंदी में सर्जनात्मक कार्य की अन्य विधाओं के प्रायः अनुरूप ही, हिंदी नाटक में यथार्थ के साथ यह साक्षात्कार बहुत सीमित और अपर्याप्त है । इसी प्रकार रंगमंच के साथ हिंदी नाटककार और नाटक अब रंगमंच से पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संपृक्त है और इस प्रकार अपने परिप्रेक्ष्य को अपेक्षाकृत अधिक संगत और सार्थक बना सका है । पर अभी तक यह संबंध बड़ा मतही और सीमित है जिसका एक प्रमाण है स्तरीय कामदी नाटकों का अभाव । इसी का एक अन्य रूप है फिल्मी ढंग की भावुकतापूर्ण उद्देश्यपरकता, जिससे हिंदी कहानी और कविता तो किसी हद तक मुक्त हो रही है, पर नाटक लिखते समय बहुत से लेखक उन्हीं में उलझे रह जाते हैं । यह आशा करनी चाहिए कि हिंदी नाटक इस अव-यस्कता से शीघ्र ही छुटकारा पा सकेगा और एक सार्थक अभिव्यक्ति विधा का दर्जा प्राप्त करेगा ।

## कहानी : १९६३

डॉ० गोपालराय

इस शीर्षक पर निबंध लिखने के पूर्व इससे संबद्ध एक आधारभूत प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है। '१९६३ ई० के कहानी साहित्य' के अंतर्गत इस वर्ष पुस्तक रूप में प्रकाशित कहानी संग्रहों को लिया जाय अथवा विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों को। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो अनेक अच्छी कहानियाँ, जो केवल इस वर्ष की पत्रपत्रिकाओं में ही प्रकाशित होकर रह गई हैं, संग्रहों के रूप में नहीं आई हैं, विवेचित होने से रह जाएँगी। फिर, इस वर्ष प्रकाशित संग्रहों की अधिकतर कहानियाँ इसके पूर्व पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः १९६३ के कहानी साहित्य के अंतर्गत इन कहानियों के विवेचन का कोई औचित्य नहीं दीखता। अतः हमने इस वर्ष की पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों को ही, निबंध की विवेच्य सामग्री के रूप में स्वीकार किया है।

परिमाणतः १९६३ का वर्ष कहानीलेखन की दृष्टि से अग्रणी माना जा सकता है। इस वर्ष लगभग २७५ कहानीलेखकों ने पाँच सौ से ऊपर कहानियों की रचना की। कहानीलेखकों के इस विशाल जुटाव को देखकर विस्मय हुए बिना नहीं रहता। इस जमात में ६० वर्ष से ऊपर के वयवाले बूढ़े भी हैं और २०-२२ वर्ष के किशोर भी; युवक भी हैं और प्रौढ़ भी; स्त्रियाँ भी हैं; कहानीक्षेत्र के पुराने दिग्गज भी हैं और नौसिखुए छोकरे भी। अब सवाल पैदा होता है कि इस विशाल साहित्य की खूबियों को किस कोण से, किस अवलोकन बिंदु से, देखा जाय ?

इस वर्ष के कहानी लेखकों को आयु और प्रसिद्धि की दृष्टि से तीन पीढ़ियों में विभक्तकर उनका विवेचन करना समीचीन प्रतीत होता है। प्रथम पीढ़ी में उन लेखकों को रखा जा सकता है, जो अपने काल के, सन् १९५० के पूर्व के, सरदार थे। यह पीढ़ी प्रेमचंद के बाद उभरी थी और १९५० तक कहानी साहित्य में इसी का बोलबाला था। दूसरी पीढ़ी सन् १९५० के आसपास चमकी और उस पूरे दशक में इसकी चकाचौंध

ध्यात रही । अब एक तीसरी पीढ़ी सामने आई है, (जिसका आरंभ, जैसा कि इस पीढ़ी के लेखकों को अभिमत है) सन् १९६० से माना जाना चाहिए । यह उल्लेखनीय है कि सन् १९५० या १९६० ऐसे खूँटे नहीं हैं, जिनसे एक एक पीढ़ी को बाँधकर संतोष कर लिया जाय । वस्तुतः यह कामचलाऊ बँटवारा है, जिससे हिंदी कहानी के विकास को समझने में सहायता मिलती है ।

पुरानी पीढ़ी के कहानीकार—पीढ़ियों के उपर्युक्त सीमानिर्धारण का यह तात्पर्य नहीं कि बुजुर्गों की पीढ़ी ने १९५० में लिखना बंद कर दिया, या कि, मध्यवर्ती पीढ़ी १९६० के बाद निष्क्रिय हो गई है । वस्तुतः ये तीनों पीढ़ियाँ आज भी एक साथ सृजन में रत हैं और कहानीकार अपने अपने दृष्टिकोण, संवेदना और भावबोध के अनुरूप कहानियाँ लिख रहे हैं । सन् १९६३ के कहानीकारों की सूची पर दृष्टिपात करने से इस कथन की पुष्टि हो जाती है । पहली पीढ़ी के दशाधिक लेखकों ने, जिनमें जेनेद्र, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्वक, मन्मथनाथ गुप्त, यशपाल, अमृतराय, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त आदि प्रमुख हैं, इस वर्ष दो दर्जन से अधिक कहानियाँ लिखीं, जिनमें कुछ, जैसे अमृतराय की 'स्टिल लाइफ', ( न० क० नव० ६३ ), अमृतलाल नागर की 'जुएँ' ( न० क० अप्रैल १९६३ ), मन्मथनाथ गुप्त की 'चंपा' ( न० क० जनवरी १९६३ ) तथा यशपाल की 'चोरी और चोरी' ( न० क० फरवरी १९६३ ) श्रेष्ठ कहानियों में परिगणित हो सकती हैं । पर इस पीढ़ी के लेखकों को कहानियाँ पढ़कर, कुल मिलाकर, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इनको संभावनाएँ चुक गई हों । यद्यपि यशपाल, अमृतराय और नागर अपनी कहानियों में सामाजिक यथार्थ के विविध पक्षों का उद्घाटन बहुत सफलता के साथ करते हैं, पर इन कहानियों में जीवन का स्पर्दन और ताजगी नहीं मिलती । ऐसा लगता है कि ये किसी 'विचार' या 'दर्शन' या 'अभिप्राय' को केंद्र में रखकर कहानी बुन देते हैं । इनमें जीवनभोग की सहजता और तीव्रता नहीं है । 'स्टिल लाइफ' और 'चोरी और चोरी' जैसी प्रभावोत्पादक कहानियाँ भी, जिनमें उच्चकोटि का सामाजिक व्यंग्य है, इस कृत्रिमता से रहित नहीं हैं ।

जेनेद्र की, इस वर्ष लिखित, एक ही कहानी मुझे मिल सकी है—  
'छः पन्न दो राहें' ( न० क० अगस्त १९६३ ) । इस कहानी में जेनेद्र का

वही पुराना विषय—नारी प्रेमिका या पत्नी ?—चित्रित हुआ है। इस कहानी को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के वर्तमान प्रवाह से जैनेंद्र का संबंध छूट गया है, उनकी अनुभवों की पूँजी खत्म हो चुकी है और पाठकों को देने के लिये उनके पास कुछ नया नहीं है। अश्वक, नागर, मन्मथनाथ गुप्त, चंद्रगुप्त विद्यालंकार आदि की, इस वर्ष की कहानियों में भी कोई ताजगी नहीं है।

**मध्यवर्त्ती पीढ़ी :** 'नई कहानी' के रचनाकार—बुजुर्गों को पीढ़ी से ज्यादा सक्रिय कहानीकारों की मध्यवर्त्ती पीढ़ी है, जो कहानी के माध्यम से वर्तमान जीवन की नानाविध संवेदनाओं और 'संकटों' को पकड़ने का प्रयास कर रही है। इस पीढ़ी में कहानी के बड़े बड़े उस्ताद हैं, जैसे कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, फणीश्वरनाथ रेणु, मन्नू भंडारी, अमरकांत, उषा प्रियंवदा, केशवप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, राजकमल चौधरी, रामकुमार, लक्ष्मीनारायण लाल, शरद जोशी, शानी, शिवप्रसाद सिंह, जैनेश मटियानी, कमल जोशी, चंद्रकिरण सौनरेक्शा, ठाकुरप्रसाद सिंह, रघुवीर सहाय, शरद देवडा, रमेश बक्षी आदि। इन लेखकों ने जीवन को भिन्न कोणों से देखा है, चेतना के अनेक क्षणों को तीव्रता से भोगा है तथा नए संदर्भ में बनते नए मूल्यों और मानवीय संबंधों का अनुभव किया है। इन नई संवेदनाओं की अभिव्यक्ति इनकी कहानियों में मिलती है। सुविधा की दृष्टि से उपर्युक्त कहानीकारों की उपलब्धियों का अलग अलग विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कमलेश्वर ने इस वर्ष चार कहानियाँ लिखीं—'दुनिया बहुत बड़ी है' ( न० क० मार्च १९६३ ), जो लिखा नहीं जाता' ( न० क० मई १९६३ ), 'अब और नहीं' ( सारिका, जन० १९६३ ) तथा 'लोहित नदी के किनारे' ( धर्मयुग, ६ जनवरी १९६३ )। इनमें 'लोहित नदी के किनारे' चीनी आक्रमण के संदर्भ में लिखित कहानी है और सामयिक दृष्टि से ही इसका महत्त्व है। शेष तीन कहानियों में सामाजिक यथार्थ के विविध पहलुओं का उद्घाटन हुआ है। 'अब और नहीं' में आज के मध्यवर्गीय युवक के पारिवारिक जीवन की घुटन और बेवसी का, एक ऐसी जिदगी का, जिसमें एक भी अच्छा दिन बीतते बीतते रह जाता है, पर्याप्त विश्वसनीय चित्रण है, यद्यपि इसका आरंभिक अंश, जिसमें दार्शनिकीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, उबानेवाला है। 'जो लिखा नहीं जाता' में प्रेम और दांपत्य के संघर्ष से उत्पन्न संकट की अभिव्यक्ति हुई है। 'दुनिया बहुत बड़ी है' सामा-

जिक व्यंग्य की दृष्टि से एक बहुत ही सफल कहानी है। इस कहानी में कहानीकार का विशिष्ट अनुभव, कि 'दुनिया बहुत बड़ी नहीं है', सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है। अन्नपूर्णा के जीवन के कोमल क्षणों को पकड़ने में, उसकी विवशता, हताशा और टूटते हुए विश्वास के चित्रण में, सर्वत्र लेखक को सफलता मिली है।

इस वर्ष मोहन राकेश की दो कहानियाँ प्रकाश में आईं : 'फोलाद का आकाश' ( धर्म, १७ नवंबर १९६३ ) और 'ग्लासटैंक' ( न० क० मई १९६३ )। 'फोलाद का आकाश' वस्तुतः एक उच्च कोटि की कहानी है। आधुनिक दांपत्य जीवन की एकरसता, खोखलापन, कृत्रिमता, और यात्रिकता की संवेदना इस कहानी में बहुत विश्वसनीयता के साथ उभरी है। 'ग्लासटैंक' में उच्च मध्यवर्गीय जीवन की समृद्धि के बीच अकेलेपन की पीड़ा से छटपटाती युवतियों की मनोदशाओं तथा आत्महत्या की प्रवृत्ति से ग्रस्त आत्मरत युवक की व्यथा को चित्रित करने का प्रयास लक्षित होता है, पर कहानीकार इन मनोदशाओं को विश्वसनीय बनाने में समर्थ नहीं हो पाया है। लगता है, प्रतीक का मोह—ग्लास टैंक में तैरती रंगीन मछलियाँ और उच्च मध्यवर्ग की समृद्धि के बीच अकेलेपन की पीड़ा से छटपटाती युवतियाँ—कहानी को ले डूबा है। जैसा कि मोहन राकेश ने लिखा है, 'जरा भी 'अनकन्विंसिंग' होते ही एक सुंदर संकेत के रहते हुए भी कहानी असमर्थ हो जाती है', यह कहानी स्वयं लेखक का कमीटी पर ही असमर्थ होने को बाध्य है।

राजेंद्र यादव की इस वर्ष प्रकाशित दो कहानियाँ, 'माध्यम का विद्रोह' ( सारिका, मई १९६३ ) और 'टूटना' ( न० क० प्रेमकथा विशेषांक '६३ ) में अतिम, लंबी होने पर भी, अधिक सफल है। इसमें किशोर नामक पात्र की अदम्य इच्छा शक्ति, दृढ़ आत्मविश्वास और निर्मम प्रतिशोध भावना का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण है; साथ ही, विजय के संतोष के क्षण को उसकी संपूर्ण तीव्रता में संवेदित करने में कहानी पूर्णतः सक्षम है। 'माध्यम का विद्रोह' जीवन के एक साधारण, पर रोचक प्रसंग पर आधृत कहानी है, जिसमें एक साथ ही मन में उठनेवाले घृणा और प्यार की भावना को अभिव्यक्ति दी गई है।

१. कहानी : नए संदर्भों की खोज ( नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति; पृष्ठ ६३ )।

मन्नू भंडारी की तीन कहानियाँ—प्राकाश में आईने में ( सारिका, जनवरी १९६३ ), 'ऊँचाई' ( न० क०, दिसं० १९६३ ) और 'बाँहों का घेरा' ( धर्मयुग, १० फरवरी १९६३ )—में 'ऊँचाई' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस कहानी में प्रेम और विवाह का एक नवीन संकट सर्वथा नए और ताजे रूप में संवेदित हुआ है। प्रेमी को शरीर देकर भी पति के प्रति भावनात्मक रूप से ईमानदार रहने की अनुभूति का चित्रण इस कहानी में बहुत विश्वमनीयता के साथ किया गया है।

अमरकांत की इस वर्ष प्रकाशित दो कहानियाँ हैं—'मछुआ' ( कहानी, जनवरी १९६३ ) और 'क्रानिक मलेरिया' ( कहानी, नवंबर १९६३ ), जिनमें दूसरी—क्रानिक मलेरिया—उच्च कोटि की कहानी है। इस कहानी में मध्यवर्गीय पारिवारिक संबंधों के खोखलेपन का—पारिवारिक शोषण का—बहुत ही विश्वसनीय चित्रण है। मध्य वर्ग की आर्थिक विवशता, प्राचीन मूल्यों के फलस्वरूप उत्पन्न संकट, आदि की मार्मिक व्यंजना इस कहानी में हुई।

उषा प्रियंबदा की इस वर्ष प्रकाशित कहानियाँ—'एक और विदाई' ( न० क०, मई १९६३ ) और 'सागर पार का संगीत' ( ज्ञानोदय, जनवरी १९६३ )—में विदेशी वातावरण में भारतीय स्त्रियों—नमिता और देवयानी—के व्यथाभोग और विफलता की अनुभूति का चित्रण है। दोनों ही कहानियाँ अधिक लंबी होने के कारण ऊब पैदा करती हैं, वैसे इन कहानियों में एक नयापन है।

निर्मल वर्मा ने इस वर्ष तीन कहानियाँ प्रस्तुत कीं—'खोज' ( न० क०, मई १९६३ ), 'बाहर' ( कहानी, जन० १९६३ ) और 'पहाड़' ( धर्मयुग, ६ जनवरी १९६३ )। इन कहानियों के पात्र असामान्य मनःस्थिति के व्यक्ति हैं और उनकी विशेष मनःस्थितियों का चित्रण ही इन कहानियों का लक्ष्य है। जो बात सबसे ज्यादा खटकती है, वह है, इन कहानियों के पात्रों के व्यापारों की रहस्यात्मकता, जो जटिल मनःस्थिति के नाम पर प्रस्तुत की गई है। ये पात्र अकेले, असहाय और अन्तर्मुखी हैं, यह दोष नहीं; दोष यह है कि कहानियाँ इन संवेदनाओं को बहुत तीव्रतापूर्वक नहीं जगा पातीं। एक चमत्कार, एक अस्पष्टता और रहस्यमयता का भाव ही पैदा होकर रह जाता है। 'खोज' में दो बहनों के अकेलेपन की व्यथा को उभारने का प्रयास है, पर कहानीकार पाठकों में यह दर्द जगा पाने में समर्थ नहीं हो पाया है। 'बाहर' की कहानी के बदले संस्मरण कहना ज्यादा

युक्तिसंगत है। निर्मल वर्मा में अंग्रेजी शब्दों के प्रति अनावश्यक मोह, दोष की सीमा तक पहुँचा हुआ है।

कृष्ण बलदेव वैद निर्मल स्कूल के ही कहानीकार है और उनकी इस वर्ष प्रकाशित कहानी 'शैडोज' ( कहानी, जन० ६३ ) में एक पात्र का मोचना ही मोचना है। यह चिन्तन कहानी को लंबाई प्रदान करने के अतिरिक्त और कोई सार्थक कार्य नहीं करता। कहानी के दो पात्र अचला और 'वह' (पुरुष पात्र का नाम नहीं दिया हुआ है) असामान्य हैं। अचला जैसी स्त्रियाँ भारतीय समाज में जन्म ले रही हैं, जो बलबों में नृत्य करती हैं, शराब पीती हैं; और ऐसी स्त्रियों का चित्रण मृत्यु का ही चित्रण है। इस कहानी का पुरुषपात्र 'वह' असामान्य परिस्थितियों में पलने के कारण विकृति और व्याधिग्रस्त—माँबिड—बन गया है और उसकी इस माँबिडिटी, अंतर्मुखीनता, असहायता, मानसिक उलझाव, व्यक्तित्व के बिखरेपन आदि का चित्रण इस कहानी में हुआ है। पर विषय की नवीनता के बावजूद कहानी अमफल है, क्योंकि पात्र के व्यक्तित्व के निर्माण की परिस्थितियाँ विश्वसनीय नहीं बन पाई हैं। उसके माता पिता के असामंजस्यपूर्ण दांपत्य जीवन का चित्रण बिलकुल गढ़ा हुआ और भूठा लगता है। फिर इस कहानी में 'चिन्तन' इतना अधिक है कि वह कोई संवेदना जगाने के बदले ऊब पैदा करता है।

इस वर्ष की अन्य उल्लेखनीय कहानियों में शैलेश मटियानी की दो कहानियाँ—'दो दुखों का एक सुख' ( न० क०, दिसंबर १९६३ ) और 'नीत्सी' ( न० क०, जुलाई १९६३ ), कमल जोशी की 'बरसात के दिन' ( न० क०, अगस्त १९६३ ), केशवप्रसाद मिश्र का 'उस रात के बाद' ( न० क०, सित० १९६३ ), राजकमल चौधरी की 'भयाक्रांत' ( सारिका, अप्रैल ६३ ) और 'जैसे एक काँच की दीवार' ( सा० हि०, २६ सितंबर १९६३ ), रामकुमार की 'जनीन' ( न० क०, मई १९६३ ) और 'हर शाम' ( कहानी, जन० ६३ ) तथा नरेश मेहता की 'वर्षा भीगी' ( न० क०, अप्रैल १९६३ ) आदि परिगणनीय हैं, जिनमें अस्तित्व के विशिष्ट क्षणों, संकटों, मनःस्थितियों या अनुभवों की सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'नीत्सी' और 'दो दुखों का एक सुख' के पात्र निम्नवर्गीय हैं और मटियानी ने उनके आर्थिक पहलू का चित्रण करने के साथ साथ उनकी विशिष्ट मनःस्थितियों का, जो अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं, प्रभावशाली अंकन किया है। कमल जोशी की 'बरसात के दिन' में मध्यवर्ग की चक्की में पिसते हुए मनुष्य के स्वाभिमान का खोखलापन

और व्यर्थता तीव्रता सर्वादत हुई है। इस वर्ष की कहानियों में, प्रभाव की दृष्टि से, यह कहानी प्रथम पंक्त्याश्रित मानी जायगी।

इस वर्ष, फणीश्वरनाथ रेणु, लक्ष्मीनारायण लाल, शिवप्रसाद सिंह, रमेश बख्शी, शरद देवड़ा, शानी, शरद जोशी, रघुवीर सहाय आदि बिचलो पीढ़ी के कुछ प्रमुख कहानाकारों द्वारा प्रस्तुत कहानियाँ उल्लेखनीय नहीं जान पड़ती। लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसाद सिंह की ग्राम कथाओं 'अभिमन्यु नाटक' ( न० क०, सितंबर, ६२ ) और 'खंखर भए पलास' ( धर्मयुग, ७ अप्रैल, ६३ )—की संवेदना अत्यंत सतही है। रमेश बख्शी की कहानियों 'खुली हुई आंखें' ( न० क०, अगस्त, ६३ ) और 'चिड़िया' ( सारिका, जनवरी, ६३ ) में कथ्य और शिल्प के नएपन पर विशेष बल है; इनकी संवेदना में कोई विशेष जान नहीं है। शानी की 'साये' ( कहानी, जनवरी ६३ ) और 'कही की नहीं' ( न० क०, मई ६३ ) कोई गहरी अनुभूति जगा पाने में समर्थ नहीं हो पातीं। इन कहानियों में किसी गहरे अर्थ का अभाव है और इनकी गंभीरता और आधुनिकता भी आरोपित एवं बेजान प्रतीत होती है। 'कहीं की नहीं' में जिस अकेलेपन के दर्द के चित्रण का प्रयास है, वह विश्वसनीय और प्रभावशाली नहीं हो सका है।

इस पीढ़ी के दो कहानीकारों—चंद्रकिरण सोनरेक्सा और ठाकुरप्रसाद सिंह ने—चीनी आक्रमण के मंदभं में दो कहानियाँ—'नासमझ' ( सारिका, मार्च १९६३ ) और 'माध्यम : हम' ( धर्मयुग, १३ जनवरी १९६३ ) की रचना की, जो इस विषय पर साधारणतः अच्छी कहानियाँ मानी जा सकती हैं।

नई पीढ़ी के कहानीकार : सन् '६० के बाद उभरी पीढ़ी—इस वर्ष के सर्वाधिक उल्लेख्य कहानीकार, मेरी दृष्टि में, नई पीढ़ी के वे लेखक हैं, जिनका उदय कहानीकार के रूप में, छठे दशक में ही हो चुका था, पर जिन्होंने सन् साठ के बाद साहित्य में अपना स्थान बनाना आरंभ किया। नई पीढ़ी के लेखकों में, जिन्होंने सन् '६३ में कहानियाँ लिखीं, मनहर चौहान, इसराइल, गिरिराज किशोर, गंगाप्रसाद विमल, रवींद्र कालिया, अवधनारायण मुद्गल, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, नरेंद्र कोहली, नीलकांत, श्रीकांत वर्मा, महेंद्र भट्टा, प्रयाग शुक्ल, अतुल भारद्वाज, अनीता ओलक, अवधनारायण सिंह, काशीनाथ सिंह, देवेन गुप्त, धर्मेन्द्र गुप्त, परेश, प्रदीप पंत, महीप सिंह, रामनारायण शुक्ल,

विजय चौहान, विश्वजीत, सुदर्शन चोपड़ा. निर्मला वर्मा, मार्कंडेय सिंह आदि प्रमुख माने जा सकते हैं ।

यदि कोई मुझे इस वर्ष के मेरे सबसे प्रिय कहानीकार का नाम पूछे तो मैं मनहर चौहान का नाम लूँगा । चौहान ने अपनी इस साल की लगभग आधा दर्जन कहानियों में नागरिक और मध्यवर्गीय जीवन की अनेक विडंबनाओं और मनःस्थितियों का बड़ा ही मार्मिक और विश्वसनीय चित्रण किया है । 'बीस सुबहों के बाद' ( धर्मयुग, २ जून ६२ ) 'घो घो घोड़ा' ( न० क०, सितंबर, ६३ ) और 'वयू और टीना पामर' ( सारिका, दिसंबर, ६३ ) में बंबई और दिल्ली जैसे नगरों के जीवन की व्यस्तता, औपचारिकता, अकेलेपन, अभाव और खोखले आदर्शों की संवेदनाओं को पकड़ने का सफल प्रयास है । 'काँच' ( न० क०, नितंबर, ६३ ) 'कभी न मरनेवाला कोई' ( सारिका, फरवरी, ६३ ) और 'घरघुसरा' ( सारिका, अप्रैल, ६३ ) प्रेम की विविध मनोदशाओं का निर्भावुक और संकेतपूर्ण चित्रण करती है । मनहर चौहान की कहानियाँ—सभी की सभी—मन को छूती एवं गहरी संवेदना जगानी हैं ।

मनहर चौहान की तरह ही, पर बिल्कुल दूसरे घरातल पर, प्रभावित करनेवाली गंगाप्रसाद विमल, अवधनारायण 'मुद्गल' और रवींद्र कालिया की कहानियाँ हैं । विमल की कहानियाँ—'एक और बिदाई' ( कहानी, नवंबर, ६३ ) और 'मृत्युभोग' ( धर्मयुग, २८ जुलाई, ६३ ) आधुनिक मनुष्य की विवशता, छटपटाहट और पीड़ाभोग की कहानियाँ हैं । इन कहानियों में कथावस्तु नहीं, केवल कार्यव्यापार हैं, जिनके भीतर से एक गंभीर अर्थ की झनझनाहट सुनाई देती है । 'एक और बिदाई' में तलाक देकर अलग हो गए दंपति की तर्कातीत व्यथा और अधर में लटके रहने की बेवसी का—जो आधुनिक अभिशाप्त जीवन की एक नई संवेदना है—बड़ा ही तटस्थ चित्रण है । 'मृत्युभोग' में 'मैं' की पीड़ा का भावुकतारहित चित्रण है । इस कहानी में बिना दाँत भींचे, बिना चेहरा बिगाड़े, ऑपरेशन की पीड़ा भेल लेने जैसी बात है । इस कहानी का पात्र—मुद्गल की कहानी का पात्र भी—रोमांटिक लेखकों के पात्रों की तरह कष्ट में बिलबिलाने नहीं लगता । यह दर्द पहाड़ के नीचे बहनेवाले सोते की तरह है, जिसका आभास पा लेना साधारण संवेदना संपन्न व्यक्ति के लिये संभव नहीं होता । अवधनारायण मुद्गल की कहानी 'और कुत्ता मान गया'

( धर्मयुग, १६ मई, ६३ ) में भी क्लर्क पति के, जिसकी पत्नी समाजसेविका है, दर्द और विवशता का भावुकतारहित चित्रण है ।

रवींद्र कालिया की कहानी 'नी साल छोटी पत्नी' में पति पत्नी के नवीन संबंध की तलाश है । कहानीकार ने आधुनिक दंपत्य जीवन की एक सर्वथा अद्वितीय संभावना को, नई नैतिकता और दंपति के बीच समंजसता ( एडजस्टमेंट ) के नवीन घरातल को पकड़ने का प्रयास किया है । चित्रण की निस्संग बोद्धिकता, वस्तुपरकता और निर्मम तटस्थता कहानी को प्रभावशाली बनाने में समर्थ हुई है ।

नई पीढ़ी के लेखकों में 'महेंद्र भल्ला' काफी चर्चित कहानीकार हैं । इनकी इस वर्ष की कहानियों में 'तीन चार दिन' ( कल्पना, मई, ६३ ), 'बदरंग' ( कहानी, अप्रैल, ६३ ), 'एक दिन' ( कहानी, जून, ६३ ), 'पुत्र की परछाई' ( कहानी, सितंबर, ६३ ) तथा 'छुट्टियाँ और बिल्लियाँ' ( कहानी, नवंबर ६३ ) आदि हैं । भल्ला की कहानियों के पात्र प्रायः अभिजातवर्गीय, आधुनिक, बुद्धिवादी और चिंतनशील होते हैं और इस वर्ग के नवीन जीवन-मूल्यों, संबंधों और मनःस्थितियों के अंकन का प्रयास इन कहानियों में दीख पड़ता है । भल्ला की कहानियों में एक सहजता है, जो मुग्ध करती है । ऊपर से दीख पड़नेवाली साधारणता के भीतर एक अस्पष्ट सा गहरा अर्थ और सांकेतिकता होती है, जो कहानी को प्राणवंत बना देती है । हम कहानी में डूबते नहीं, कुछ हलका हलका सा महसूस होता है और कहानी समाप्त हो जाती है । भल्ला की कहानियों में एक ही बात खटकती है, वह है पात्रों के कार्यव्यापारों का रहस्यमय होना । इनकी 'तीन चार दिन' जैसी चर्चित कहानी में यह दोष सर्वाधिक खटकता है ।

इस वर्ष के दूसरे चर्चित कहानीकार हैं गिरिराज किशोर, जिनकी 'तार द्वारा वापसी' ( कहानी, जुलाई ६३ ), 'तीमारदार' ( कहानी सितंबर ६३ ), 'अंतहीन रास्ते' ( कहानी, नव० ६३ ), 'एक थी माँ' ( सा० हि०, ३० जून ६३ ), 'पोली सड़क' ( कहानी, मई ६३ ), 'कड़िऐ' ( धर्मयुग, २१ जुलाई ६३ ) आदि कहानियों में आधुनिक मनःस्थिति के पात्रों की विभिन्न संवेदनाओं का अंकन है । इन कहानियों के पात्र भी बुद्धिजीवी, चिंतनशील और आत्मरत हैं । 'तीमारदार' और 'पोली सड़क' इनकी इस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं ।

दूधनाथ सिंह की इस वर्ष दो कहानियाँ प्रकाशित हुईं, 'रक्तपात' ( न० क०, अक्टूबर ६३ ) और 'बिस्तर' ( सारिका, अप्रैल ६३ ) । हिंदी

में इन दोनों कहानियों की बहुत चर्चा हुई है, यद्यपि बात समझ में नहीं आती। 'रक्तपात' में अपनी परिस्थितियों से थके और दूटे एक मध्यवर्गीय युवक की कुंठा, अंतर्मुखीनता और हताशा की अनुभूति का चित्रण है, पर पात्र की बेवसी और टूटन उसके व्यक्तित्व पर उढ़ाई हुई प्रतीत होती है। 'बिस्तर' के रूमानी प्रेम का 'नयापन' बस इतना ही है कि पहले की कहानियों में वह पत्नी के पक्ष में हुआ करता था, इस कहानी में उसे पति के खाते में डाल दिया गया है। कहानीकार पात्रों के कार्यव्यापारों और मनःस्थितियों को तर्कसंगत बनाने में भी समर्थ नहीं हो पाया है।

नीलकांत की इस वर्ष प्रकाशित कहानियों की संख्या छह है, जिन्हें देखते हुए लगता है, कहानी लेखन में सबसे अधिक प्रयोग नीलकांत ने ही किया है। इनकी इस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानी 'पत्थरों के देश में' (कहानी, सितंबर ६३) है, जो इस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ ग्रामकहानी भी है। इस कहानी में एक निम्नवर्गीय ग्रामीण स्त्री—सिताबी धोबिन—की शोषणजन्य विवशता और टूटते हुए विश्वासों का ऐसा निर्भावुक और निस्संग, फिर भी अत्यंत मार्मिक, चित्रण है कि प्रेमचंद की 'पूस की रात' जैसी कहानियों का स्मरण हो आता है। 'नीलकांत' की अन्य कहानियाँ—'दस्तक' (कहानी, जनवरी ६३), 'मीरा का भाई' (कहानी, मार्च ६३), 'खरोंच' (कहानी, मई ६३), 'कंदला' (कहानी, जून ६३) और 'प्रतीक्षा' (कहानी, नवंबर ६३)—प्राधुनिक मनःस्थितियों और संवेदनाओं की कहानियाँ हैं, जिनमें प्राधुनिक मनुष्य की पीड़ा, छूटपटाहट, घुटन और बेचैनी का विषयसनीय अंकन है।

इस वर्ष के नए कहानी लेखकों में इसराइल दो कारणों से विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम, कि मुसलमान होकर इन्होंने ऐसी हिंदी लिखी है, जो हिंदीवालों के लिये भी ईर्ष्या है। द्वितीय, कि एकमात्र कारखानों की जिदगी को विषय बनाकर कहानी लिखनेवाले ये अकेले कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ—'दरबे की रोशनी' (कहानी, मार्च ६३), 'नए मकान के खंडहर' (कहानी, फरवरी ६३), 'उसका बेगाना' (कहानी, नवंबर ६३), 'लक्खी' (कहानी, जुलाई ६३) और 'दर्द का रिश्ता' (कहानी, सितंबर ६३) में कारखानों के मजदूरों की विवशता, दर्द, प्रेम, आदि मनोभावों का प्रभावशाली अंकन है। इसराइल की कहानियाँ सहजता और वैचित्र्यहीनता में जीवन की कतरन सी मालूम पड़ती हैं। जैसे खेतों की अनाकर्षक मिट्टी से गंध निकल कर हमारी घ्राण चेतना को प्रभावित कर जाती है, वैसे ही

इनकी संवेदना हमें छू जाती है। इन कहानियों में कोई विदु नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, कोई संकट का क्षण नहीं, बस जीवन की एक कतरन है, जिसमें ऊपर से कोई वैशिष्ट्य नहीं दिखाई पड़ता। अनुभव की प्रासंगिकता और तीव्र संवेदना ही इन कहानियों को प्राणवान् बनाती है। इसराइल की कहानियों की भाषा चुस्ती, तराण, मितव्ययिता, सटीकता और गठन में अद्वितीय है।

श्रीकांत वर्मा की इस वर्ष आठ कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें कुछ जैसे 'ठंड' ( साप्ताहिक, जून ६३ ), 'लड़की' ( ज्ञानोदय, अक्टूबर ६३ ), 'ब्यू मर' ( न० क०, जुलाई ६३ ), 'मिचली' ( कल्पना, जनवरी ६३ ) आदि श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। श्रीकांत वर्मा की कहानियों में पात्रों की विशेष मनःस्थितियों का अंकन ही प्रधान होता है। इनकी कहानियों में कहानीपन नहीं के बराबर होता है। जिसे हम चरमविदु या 'संकट का क्षण' कहते हैं, उसका इनमें अभाव है। फिर भी कहानियाँ मन को छूती हैं, और इसका कारण यह है कि इनमें पात्रों की मनःस्थितियों को बड़े ही सहज ढंग से, बिना किसी आडंबर के, रख दिया गया है। 'ठंड' इस दृष्टि से बहुत ही उल्लेखनीय कहानी है।

कहानियों की संख्या की दृष्टि से प्रयाग शुक्ल इस वर्ष के उल्लेखनीय कहानीकार माने जा सकते हैं, और कुछ आलोचकों ने इनके नाम का यत्र-तत्र, जैसे कृपावश, उल्लेख भी कर दिया है; पर इनकी कहानियाँ नितान्त कमजोर हैं। इन्होंने निर्मल वर्मा की नकल पर कहानियाँ लिखी हैं, पर वे नकल ही बनकर रह गई हैं, संवेदना के घरातल पर इनकी निर्जीवता निर्विवाद है। प्रयाग शुक्ल अपनी कुछ सतही प्रतिक्रियाओं, पिछली अनुभूतियों और तथ्यात्मक स्मृतियों को पात्रों के गले मढ़कर ही समझते हैं, कहानी का दायित्व पूरा हो गया। इनकी कहानियों में 'एक अपरिचय' ( न० क० मई ६३ ) ही कुछ स्तरीय है।

इस वर्ष की वतिपय श्रेष्ठ कहानियों में नरेंद्र कोहली की 'पछतावा' ( कहानी, सितंबर, ६३ ) और 'होनेवाली पत्नी' ( साप्ताहिक, अप्रैल ६३ ), ज्ञानरंजन की 'खलनायिका और बारूद के फूल' ( वर्षायुग, ५ मई ६३ ), अवधनारायण सिंह की 'चेहरें' ( ज्ञानोदय, अगस्त ६३ ), आलोक शर्मा की 'बंद बावाज' ( न० क० जून ६३ ) और 'वातावरण का विष' ( कहानी, दिसं० ६३ ), काशीनाथ सिंह की 'आखिरी रात' ( कल्पना, जून ६३ ), देवेन गुप्त की 'उसका पहला प्यार' ( न० क० अगस्त ६३ ), निर्मला वर्मा

की 'संगम' ( कहानी, फरवरी ६३ ), परेश की 'प्रश्न सलीब नहीं होते' ( न० क० अगस्त ६३ ), मुद्राराक्षस की 'एकरसता की परतें' ( सारिका, मार्च ६३ ), मार्कण्डेय सिंह की 'आवाज एक रोते हुए बालक की' ( कल्पना, नव० ६३ ), रामनारायण शुक्ल की 'अंत का संमोहन' ( कल्पना, फरवरी ६३ ) और 'एक दिन' ( कहानी, जन० ६३ ), विजय चौहान की 'सपना' ( सारिका, जून ६३ ) और 'मिजराब' ( कहानी, सितंबर ६३ ), विश्वजीत की 'जनमत' ( कल्पना, जुलाई ६३ ), सुंदर लोहिया की 'टूटे पंखोंवाली जिंदगी' ( कहानी, अगस्त ६३ ), सुदर्शन चोपड़ा की 'लूज शटिंग' ( न० क० नवंबर ६३ ) तथा हिमांशु जोशी की 'बूंद पानी' ( कहानी, फरवरी ६३ ) और 'अंधेरा' ( कहानी, मई ६३ ) परिगणनीय हैं। इन कहानियों में प्राधुनिक मनुष्य की विविध मनोदशाओं, परिस्थितियों और जीवनखंडों का अंकन है, जिनके भीतर से आज के बनते हुए नए संबंधों, बदलते हुए मूल्यों, और नई चेतना की किरणें फूटती सी दीख पड़ती हैं। इन कहानियों में प्राधुनिक मनुष्य अपने समस्त परिवेश में सामने आया है।

इस वर्ष की कहानियों पर समग्रतः दृष्टिगत करने पर—पीढ़ियों का सवाल यहाँ नहीं उठता—तीन धाराएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। निश्चय ही, हम यह निष्कर्ष उन्हीं कहानियों के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं, जो कम से कम 'कहानी' है, 'कथा' या 'उपदेशाख्यान' मात्र नहीं। प्रथम कोटि में—यह 'कोटि' श्रेष्ठता का परिचायक विलकुल नहीं है—वे कहानियाँ आती हैं, जिनमें सामाजिकता की ओर झुकाव स्पष्ट है। इसका मतलब यह नहीं कि इनमें किसी 'सामाजिक दर्शन' का प्रचार या निदर्शन है। इस वर्ग में वे कहानियाँ आती हैं, जिनकी संवेदना सामाजिक है; अर्थात् जिनमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन से उत्पन्न अभिशाप और मोहभंग की स्थितियों, शोषण, मूल्यहीनता, अनास्था, बेवसी, असंतोष, पारिवारिक विघटन और भ्रष्टाचार के बीच दम तोड़ते मध्यवर्गीय मनुष्य की पीड़ा तथा नए बनते संबंधों एवं मूल्यों की प्रभिव्यक्ति हुई है। इस वर्ग की कहानियों में यशपाल की 'चोरी और चोरी', अमृतराय की 'स्टील लाइफ', कमलेश्वर की 'दुनिया बहुत बड़ी है', राजेंद्र यादव की 'माध्यम का विद्रोह', मन्नू भंडारी की 'आकाश के आईने में', अमरकांत की 'क्रान्तिक मलेरिया', शैलेश मटियानी की 'नीत्सी', कमल जोशी की 'बरसात के दिन', रामकुमार की 'हर शाम', केशव प्रसाद

मिश्र की 'उस रात के बाद', मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद' और 'ब्यू और टीना पामर', अवधनारायण मुद्गल की 'और कुत्ता मान गया', रवींद्र कालिया की 'नौ सात छोटी पत्नी', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', निर्मला वर्मा की 'संगम', आदि परिगणनीय हैं।

सामाजिक चेतना संपन्न कहानियों में कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जिनका संबंध अभिजात एवं उच्च मध्यवर्ग से है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि इन कहानियों का विषय प्रेम, काम और दांपत्यविषयक मूल्यसंकट है। ऐसी कहानियों में मोहन राकेश की 'फोलाद का आवाश' और 'प्लास-टैंक', मन्नू भंडारी की 'ऊँचाई', उषा प्रियंवदा की 'सागर पार का संगीत', गंगाप्रसाद विमल की 'एक और विदाई', महेंद्र भट्टा की 'तीन चार दिन', राजकमल चौधरी की 'जैसे एक काँच की दीवार', गिरिराज किशोर की 'तार द्वारा वापसी', मुद्राराक्षस की 'एकरसता की परतें' आदि उल्लेखनीय हैं।

निम्न और निम्न मध्यवर्ग से संबद्ध कहानियों में इसराइल की सभी कहानियाँ, कमलेश्वर की 'दुनिया बहुत बड़ी है', शैलेश मटियाणी की 'दो दुखों का एक सुख', मनहर चौहान की 'घो घो घोड़ा', नीलकांत की 'पत्थरों के देश में', विश्वजीत की 'जनमत' आदि परिगणित की जा सकती हैं।

दूसरी कोटि में हम उन कहानियों को रख सकते हैं, जिनकी संवेदना, सापेक्षता, सामाजिक से अधिक वैयक्तिक है। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि कोई भी मानवीय संवेदना सामाजिक संदर्भ या परिवेश से नितान्त कटी हुई नहीं हो सकती। यहाँ हमारा तात्पर्य उन कहानियों को रेखांकित करना है, जिनमें आज के बदलते हुए संबंधों या मूल्यगत संकटों का नहीं, आज की विशिष्ट परिस्थितियों में साँस लेते पात्रों की विभिन्न मनःस्थितियों का चित्रण हुआ है। इस प्रकार की कहानियों में उषा प्रियंवदा की 'एक और विदाई', राजकमल चौधरी की 'भयाक्रांत', गंगाप्रसाद विमल की 'मृत्यु-भोग', नीलकांत की 'प्रतीक्षा', श्रीकांत वर्मा की 'ठंड', मार्कंडेय सिंह की 'आवाज एक रोते हुए बालक की' आदि को लिया जा सकता है।

तीसरी कोटि में उन कहानियों को सूचीबद्ध किया जा सकता है जिनके पात्र असामान्य, मनोग्रंथियुक्त, आत्मकेंद्रित, अतिचिंतनशील और कुंठित मनोभाव के व्यक्ति हैं। ये पात्र अपने को अकेला, फालतू (स्पर्स) 'मिसफिट', अभागा, पराजित आदि के रूप में अनुभव करते हैं और इन

बोधों से छिटकनेवाली संवेदनाओं की अभिव्यक्ति इन कहानियों का लक्ष्य है। इन कहानियों के संबंध में बार बार यह शंका उठती है कि इनमें अभिव्यक्त कुंठा, पराजय, अकेलापन और हताशा आदि हमारे अपने परिवेश से उद्भूत हैं या यह पश्चिम की नकलमात्र है। इन कहानियों में दिनकर के शब्दों में 'अगोचर पर आक्रमण' है, जो अधिकांशतः 'अंधेरे की चीख' के रूप में व्यक्त हुआ है। जैसा कि कमलेश्वर ने एक स्थान पर लिखा है, 'अमूर्त की अभिव्यक्ति एक खोज है, पर गलत संदर्भों में यही पलायन भी है।' प्रश्न उठता है, इन कहानियों को 'अंधेरे में पलायन' माना जाए या विशिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यक्ति? विभिन्न शिविरों से आनेवाली पक्ष और विपक्ष की आवाजों को सुनकर किसी भी निर्णय पर पहुँचना कठिन प्रतीत होता है। जहाँतक कहानियों के माध्यम से फैसला देने का सवाल है, आलोचक की समझ का सवाल पैदा होता है। मेरी समझ से निर्मल वर्मा की 'खोज' और 'बाहर', उषा प्रियंवदा की 'एक और विदाई', कृष्ण बलदेव वेद की 'शैडोज', दूधनाथ सिंह की 'बिस्तर', शानी की 'वहीं की नहीं', प्रयाग शुक्ल की 'साँसें', महेंद्र भल्ला की 'एक दिन', नीलकांत की 'खरोब', श्रीकांत वर्मा की 'उसका क्रास', अतुल भारद्वाज की 'उनका षडयंत्र' आदि कहानियाँ अपने परिवेश से उद्भूत न होकर 'नएपन' के लोभ में उधार ली हुई संवेदनाओं की बैसाखियों पर खड़ी हैं। इसके विपरीत इस वर्ष की कुछ कहानियाँ, जैसे राजकमल चौधरी की 'भयाक्रांत', गंगा-प्रसाद विमल की 'मृत्युभोग'; और 'एक और विदाई', महेंद्र भल्ला की 'पुल की परछाई', गिरिराज किशोर की 'अतहीन रास्ते', नीलकांत की 'दस्तक', परेश की 'प्रश्न सलीब नहीं होते' आदि काफी हद तक विश्वसनीय और अपने परिवेश से जुड़ी हुई हैं।

यहाँ, उपर्युक्त विवेचन से उत्पन्न होनेवाले एक भ्रम की ओर संकेत कर देना समीचीन प्रतीत होता है। कहानियों के इस विभाजन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इन्हें एक दूसरे से सर्वथा अलग करके, विभिन्न खानों में बाँट करके, देखा जा सकता है। वस्तुतः इस प्रकार के वर्गीकरण ने कथालोचन को अबतक काफी गुमराह किया है। आज की कहानियों में संवेदना सामाजिक संदर्भ से गंध और मिट्टी की तरह जुटी होती है, और इसलिये सामाजिक और वैयक्तिक 'संवेदना' की अलग अलग चर्चा करना

बेईमानी सा लगता है। इसके बावजूद हमने जो उपर्युक्त वर्गीकरण का सहारा लिया है, उसका उद्देश्य सन् १९६३ के कहानी साहित्य के विस्तार और वैविध्य को पकड़ना ही है, और यह तो है ही कि कहानियों में सामाजिकता या वैयक्तिकता की ओर 'भुकाव' काफी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, भले ही उन्हें अलग करके देखना कठिन है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि १९६३ का हिंदी कहानी साहित्य परिमाण और प्रकार दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध, वैविध्यपूर्ण और श्रेष्ठ है। यह देखकर स्पष्ट लगता है कि यह दशक कहानियों का है।

---

## उपन्यास : १६६३

डॉ० रामदरश मिश्र

उपन्यास अपने काल की सामाजिक चेतना से ही जीवंत और शक्तिशाली हो सकता है भूटे शिल्प प्रयोगों से नहीं यह बात फिर एक बार स्पष्ट हो जाती है जब हम १९६३ के हिंदी उपन्यासों को देखते हैं। किंतु यह बात भी उतनी भी स्पष्टता से उभरती है कि रचना के मूल धर्म को छोड़कर सतह पर फैले सामाजिक विस्तार का विवरण प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास कला और समाज किसी की चेतना को नहीं पकड़ पाता। इस संदर्भ में एक बात और उभर कर आती है कि नगर जीवन के आधुनिक बोध के नाम पर सीमित व्यक्तित्वों की लीपापोती करनेवाले और कृत्रिम शिल्प का ताना बाना बुननेवाले उपन्यासों की संभावना अब चुक रही है तथा अनुभव की परिधि में उगनेवाले जीवंत आंचलिक जीवन को उसकी समस्त संश्लिष्ट वास्तविकताओं के साथ चित्रित करनेवाले उपन्यासों के लिये अनंत संभावनाएँ हैं।

इस वर्ष जो उपन्यास लिखे गए उनमें चार चंद्रलेख को छोड़कर कोई ऐसा उपन्यास नहीं है जिसे इस वर्ष की उपनब्धि कहा जाय। किंतु ऊपर मैंने जिन शक्तियों और सीमाओं की बात कही है उन्हें आकार देनेवाले सभी तरह के उपन्यास अवश्य दिखाई पड़ते हैं। 'चार चंद्रलेख' की कथा यद्यपि मध्य काल की है किंतु उसमें आधुनिक जीवन की भी चेतना स्पंदित है तथा जिस काल को लिया गया है उसे भी उसके समस्त सामाजिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। इसी लिये यह उपन्यास अपनी कुछ अशक्तियों के बावजूद एक महत्वपूर्ण रचना बन सका है और अपने बोध में आधुनिक कहलाने का दावा करनेवाली अनेक कृतियों से आधुनिक कहा जा सकता है। दूसरी ओर अशक का 'शहर में घूमता आईना है' जो बहुत सतही और विवरणात्मक ढंग से शहर के जीवन के तथ्यों को बटोरता है। तीसरी ओर रेणु की 'दीर्घतपा', और नागार्जुन की 'उग्रतारा' कृतियाँ हैं जो बहुत महत्वपूर्ण न होकर भी आंचलिक उपन्यासों की जीवंतता, जीवन संश्लिष्टता और संभावनाओं से अनुप्राणित हैं। चौथी और

शिल्प और बोध की आधुनिकता के नाम पर आया हुआ राजेंद्र यादव और मन्नू भंडारी का उपन्यास 'एक इंच मुसकान' है। 'चारु चंद्रलेख' में मध्यकाल का भारतीय जीवन चित्रित हुआ है।

मध्यकाल का भारतीय जीवन बड़ा ही विघटित और अंधकारमय रहा है—अंधकारमय इस अर्थ में कि शक्तियाँ सामूहिक जीवन की सृष्टि और संघशक्ति के चिंतन में रत न होकर बल्कि उससे उदासीन होकर व्यक्तिगत शीर्षप्रदर्शन, व्यक्तिगत धर्मसाधना और तंत्रसाधना में डूबी रही हैं और देश की रक्षा में असमर्थ रही हैं। बाहर की संघ शक्तियाँ बार बार इस देश को पदाक्रांत करती रही हैं। और अंधकारमय इस अर्थ में भी कि इसका बहुत कुछ वास्तविक इतिहास अंधेरे में डूबा हुआ है। द्विवेदीजी ने मध्यकालीन भारत के इतिहास को अंधेरे में से उबारा है दोनों अर्थों में—उसके विच्छिन्न विघटित जीवन के व्यक्तिवादी स्वर को संघशक्ति के आलोक की ओर उन्मुख कर उसे सामाजिक मूल्य से जोड़ना चाहा है और तत्कालीन साहित्य, किंवदंतियों, कथाओं और उपलब्ध इतिहासों के अध्ययन, चिंतन और नवीन व्याख्याओं के द्वारा बिखरे हुए लुप्त जीवन को एक विराट् फलक पर मूर्तिमान किया है। 'चारु चंद्रलेख' उपन्यास को इसलिये मध्यकालीन भारत का दर्पण भी कहा जा सकता है।

किंतु इस उपन्यास को मध्यकाल का दर्पण कहकर अनजाने ही हम उसे एक काल की सीमा में बाँध देंगे जब कि सत्य यह है कि द्विवेदीजी इतिहास को इतिहास के रूप में नहीं देखते उसे एक जीवंत काल के व्यक्तित्व रूप में देखते हैं जो अपनी समस्त शक्तियों, अशक्तियों, विसंगतियों, छबियों से हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है। दर्पण उतना ही देता है जितना बिंब से पाता है। सर्जन मात्र दर्पण नहीं हो सकता। मध्यकालीन जीवन-कथा भी उ्यों की त्यों नहीं है, उसमें लेखक की सर्जन शक्ति से नई जीवन छवि उभरी है और दूसरे उसने उन मूल्यों, प्रश्नों और संवेदनाओं को उद्भासित किया है जो मध्यकाल से फूटकर भी मध्यकाल के ही नहीं, वर्तमान जीवन के भी हैं, बल्कि वर्तमान जीवन को प्रभावित करने के लिये ही आधुनिक दृष्टिकोण से उनका संयोजन किया गया है। अतीत तो जैसे अपनी जीवंतता के साथ इसी जीवन मूल्य की पृष्ठभूमि बना है। कहना न होगा कि मानव जीवन के सामूहिक विकास में लेखक की प्रदम्य आस्था है किंतु यह आस्था काल्पनिक नहीं है बल्कि समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। मानव जीवन की महत्ता और उसके सुंदर भविष्य के प्रति

अदम्य विश्वास लेखक की हर कृति में प्राप्त होता है। यह विश्वास लेखक के लिये रचना की सामग्री नहीं है वरन् स्वयं रचनाशक्ति है। लेखक की दृढ़ धारणा है कि सामाजिक यथार्थ से असंपृक्त साहित्य सशक्त साहित्य नहीं हो सकता, वह हमारे प्राणों को आंदोलित नहीं कर सकता। और सामाजिक यथार्थ क्या है? क्या सतह पर दिखाई पड़नेवाली विकृतियाँ ही, पशुसुलभ वासनाएँ ही यथार्थ हैं? नहीं इन विकृतियों और वासनाओं से हजारों साल से लड़ते हुए मानव की जिजीविषा, ऊपर उठने का संघर्ष सत्य है। सिसृक्षा इसी का परिणाम है। इस विश्वास और जिजीविषा के अभाव में रचना की सार्थकता ही क्या?

तो चारुचंद्र लेख? हाँ चारुचंद्र लेख मध्यकाल का दर्पण मात्र नहीं है वह प्रकारांतर से हमारे राष्ट्र (और वृहत्तर रूप में समस्त मानव की) सार्वकालिक चेतना का वह प्रकाश है जो अँधेरे से लड़ता हुआ उसे तोड़ने को व्याकुल है। मध्यकाल की विकृतियाँ दूसरे रूप में आज भी हैं और उनसे छूटने की चेष्टा आज भी है। हमारा मध्यकाल अनेक असंगतियों और बाह्याडंबरों का शिकार हो गया था। जीवन की मूल स्वच्छंद चेतना बाह्याचार, कर्मकांड, कृच्छ्र तंत्र साधना, अंधविश्वास, अहंकार और भेदभाव के पाटों में दबकर मर रही थी। राष्ट्र की शक्ति संघटित होकर देश की रक्षा में तत्पर होने के स्थान पर तांत्रिक सिद्धियाँ और दैय्यिक प्रतिष्ठा पाने में डूबी हुई थी। सीदी मौला उस काल की परिस्थिति और उसके प्रति सामाजिक चेतना की प्रतिक्रिया को बहुत जीवंत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं : 'आध्यात्मिक शक्ति का संधान पाकर भी यदि मनुष्य अंतःकरण और बाह्य जगत् का सामंजस्य नहीं खोज सका तो भयंकर तमोगुण का शिकार हो जाता है।' सीदी मौला को यह सत्य मिला है, यह उस काल के योगियों और तांत्रिकों को नहीं मिला। सीदी मौला देश विदेश घूमे हैं, उन्होंने मध्य एशिया के तुर्कों का सामूहिक जीवन देखा है और देखा है कि वे अपनी संघशक्ति और साहस से देश पर देश परास्त करते चले जाते हैं और हमारा इतना बड़ा देश भारतवर्ष अपनी अंतर्मुखी साधना और विघटन के कारण बार बार परास्त होता है। जिस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति के अभाव में संघशक्ति तमोगुणी बन जाती है उसी प्रकार संघशक्ति के अभाव में आध्यात्मिक शक्ति।

लेखक तरह तरह से अनेक पात्रों के माध्यम से मध्यकालीन अंधकार में से देश की चेतना को (जो आज के लिये भी उतनी ही सत्य है) उद्बुद्ध

करता है। व्यक्तिगत साधना कितनी भी बड़ी क्यों न हो वह समूह के किस काम की ? और समूह के नष्ट होने पर उसका भी अस्तित्व कहाँ ? भारत आध्यात्म का देश है, योगियों, साधुओं और महात्माओं का देश है। यह आध्यात्मिक साधना पूरे देश के प्रति उदासीन रही है और देश विदेशियों से पदाक्रांत होता रहा है। इस सत्य को लेखक ने बड़ी स्पष्टता से देखा है और चाहा है देश की आध्यात्मिक ज्योति के साथ साथ उसके संघटित शौर्य को जगाना। इस सत्य को लेखक ने अपने अनेक पात्रों के माध्यम से जगह जगह उभारा है। भदंत अमोघबज्र राजा से कहते हैं—बहुत हाल तक मैं अपने मन को संतोष देता रहा हूँ कि सभी मार्गों का मूल लक्ष्य एक है—‘चित्तात्म का उन्मेष, अचित् का पराभव। परंतु पिछले एक दो वर्षों से मेरा मन संदेहवादी हो गया है। मैं देख रहा हूँ कि सिद्धियों के पीछे पागल बने लोगों ने देश को निर्वीर्य और कायर बना दिया है। माया को पराभूत करने का ढोंग रचनेवाले लोग माया के मजबूत वाहन सिद्ध हुए हैं। काम क्रोध को शत्रु घोषित करनेवाले उनके क्रीत दास सिद्ध हुए हैं। सारा समाज पाखंड और मिथ्याचार से अभिभूत हो गया है।’...व्यक्ति चित्त का परिष्करण केवल असफल प्रयास ही नहीं है अनावश्यक भी है। मैं समाज चित्त के परिष्करण को मान देने लगा हूँ। मैं और भिसिलपाद नाना देशों, पर्वतों, जंगलों के बीच ऐसे नेता के संधान में घूमते फिरे हैं जो समाज चित्त को स्फूर्ति दे सके और इन वैयक्तिक साधनाओं की माया भाड़ सके।’ इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र में विश्वास रखनेवाले विद्याधर भट्ट भी ग्रह नक्षत्रों के प्रति विद्रोह का स्वर व्यक्त करते हैं और सीदी मोला भी संघशक्ति की महत्ता पर बार बार बल देते हैं।

उपन्यास इतिहास पर आधारित नहीं है, इतिहास के उन सत्यों पर आधारित है जो उस काल के जीवन में व्याप्त थे। मध्यकाल के साहित्य और इतिहास से उस काल के जीवन का जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे प्रतीत होता है कि वह काल बड़ा विघटित और व्यक्तिर्केद्रित था। लेखक ने अपनी विराट् कल्पना शक्ति से उस काल का बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित किया है और देश काल का बड़ा विराट् फलक लिया है। इसलिये तत्कालीन जीवन के सघन अंधकार को बहुत दूर तक और नाना रूपों में फैलने का अवसर मिला है। तत्कालीन साहित्य और धर्म के आधार पर काल का चित्र उभारने के कारण लेखक जीवन के गहन वैविध्य में अधिक उतरा है, कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पात्रों के जीवन की सीमाओं में ही सीमित न रहकर

जनजीवन की ओर यात्रा की है और तभी उसे यह बड़ा सत्य मिला है कि देश की रक्षा केवल राजा नहीं कर सकता, सामान्य प्रजा को जगाना चाहिए ताकि वह देश को हारजीत को राजा की हारजीत न समझ कर अपनी हारजीत समझे और प्राणपण से शत्रु का सामना करे। राजा और रानी जनता के मन में जागरण का यह भाव भरने के लिये देश की जनता के बीच जाते हैं, उसे जगाते हैं किन्तु यह उस काल की असंगति ही तो है कि प्रजा को जगाने का मंत्र देनेवाली रानी बाद में स्वयं सिद्धियों के चक्कर में पड़ जाती है और एक बार पड़ जाती है तो अंत तक उसकी चेतना एक विचित्र प्रकार के रहस्य से आच्छन्न ही दिखाई पड़ती है। बीच बीच में उसे अपने सामाजिक कर्त्तव्य का बोध अवश्य चौंका जाता है किंतु इस उवलंत व्यक्तित्व की परिणति एक निष्क्रिय अवसाद में ही होती है। इसका जिम्मेदार कौन है ? लेखक या उस काल की द्विधाग्रस्त संघचेतना ग्रासिनी वास्तविकता ? शायद कालगत वास्तविकता ही अधिक जिम्मेवार है। शायद यही परिणति अधिक सत्य होती।

उस काल के मिथ्या दर्प और विसंगतियों का बड़ा जीता जागता चित्र प्रस्तुत हुआ है इस उपन्यास में। इससे बड़ी असंगति और क्या हो सकती है कि धर्म के नाम पर संघटित अपने ही लोग धर्म की महत्ता को भूलकर देश में ही लूटमार करें और दिल्ली के सुलतान को प्रसन्न रखने के लिये स्वदेशी राजाओं पर आक्रमण करें, मंदिरों तक को रक्तपात से अपवित्र करें। अमोघवज्र के स्वर में जैसे लेखक बोलता हुआ कहता है—‘इस देश की राजनीति विच्छेद को नीति पर खड़ी हुई है’ ‘अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र हर समय साथ नहीं चलते। देवी के चरणों पर सिर रखकर शपथ कर कि तू सीधे जनता से संपर्क रखेगा, किसी को छोटा किसी को बड़ा नहीं मानेगा। धरती को बपौती नहीं, धरोहर समझेगा, सामंती प्रथा का उच्छेद करेगा, ऐसा करके ही तू वीर विक्रमादित्य की परंपरा का उत्तराधिकारी बनेगा।’

लेखक स्पष्ट देखता है कि जनजीवन से कटकर कोई राष्ट्र या समाज न तो पनप सकता है और न कायम रह सकता है। लेखक ने जनता की शक्ति और महत्व की स्थापना करने की भरपूर चेष्टा की है इसी लिये चारुचंद्र लेख में ऐसे ऐसे पात्र उभरे हैं जो सामान्य जीवन से लिए गए हैं—सीधी-मौला, मैना, बोधा, भंमल, बधेला, अमोघवज्र सीधे जीवन से फूटे हैं, इसलिये जीवन के सत्य को बड़ी प्रत्यक्षता से बिना किसी लाग लपेट के देख लेते हैं। जब कोई द्विधा का क्षण आता है, राजा अपने निष्क्रिय आभिजात्य से

आच्छादित रहता है, विद्याधर भट्ट कोई जटिल योजना बना रहे होते हैं तब मैना या बोधा बड़ी सहजता से अपना कर्णध्वनि निश्चित कर लेते हैं। आच्छादन जितना कम होगा, सत्य की सहज प्रतीति उतनी ही अधिक होगी। इसी लिये लेखक ने सामान्य जीवन से लिए गए पात्रों को बड़ी ऊष्मा से उभारा है। उनके भीतर उमड़ती संवेदना, द्वंद्व, निश्चय और सत्य के प्रति समर्पण के भाव को बहुत सजीव रूप में अंकित किया है। ये पात्र अपनी सामान्यता में भी महान हो उठे हैं और इसी प्रकार राजा सातवाहन, चंद्रलेखा, विद्याधर भट्ट और पहुँचे हुए सिद्धों को भी उनके आभिजात्य के कठोर कवच से न जकड़ कर उन्हें सामान्य मानवसुलभ चिंतन, अनुभव और आत्मस्वीकृतियों की भाँच में तपाया है। राजा सातवाहन तो यहाँ से वहाँ तक देश और रानी को लेकर विकल्पों और द्वंद्वों के उद्वेलन से प्रादोक्षित है। वह चंद्रलेखा को पाकर भी नहीं पाता और खोकर भी नहीं खो पाता। चंद्रलेखा और देश के संदर्भ में एक अद्भुत यातना उसे डँसती रहती है। इसी प्रकार नटी माता की शांति को लेखक ने कहीं अतल गहराई में उद्वेलित किया है और उनकी जीवनयातना के भीतर से उन्हें उभार कर बड़ी महिमा प्रदान की है। द्वंद्व की लीला हर जीवंत पात्र के साथ चलती रहती है। इसी लिये बड़ा से बड़ा पात्र भी हमें अपने बीच का दिखाई पड़ता है। और व्यथा, कलंक और अवमानना के मंथन से निकली हुई नारी की जीवंत गरिमा से तो लेखक कहीं बहुत गहरा परिचित और प्रभावित है। नटी माता, मैना, विष्णुप्रिया, चंद्रलेखा सभी समाज के लांछनों के भीतर से उभरी हैं और लेखक की मानवतावादी दृष्टि ने इन पात्रों को कीचड़ में लपेटने के स्थान पर उन्हें उनकी अंतरस्थ जीवनी शक्ति के बल पर उठाया है। यह कहा जा सकता है कि लेखक की दृष्टि सम्मानपूर्ण होकर भी विद्रोहात्मक नहीं है, ये नारियाँ अपने महत्व में भी मूलतः समर्पणमयी हैं। ऐतिहासिक संदर्भ में शायद इतना ही हो सकता था।

इस जीवंत उपन्यास को पढ़ते समय पाठक जहाँ मध्यकालीन जीवन की धाराओं में बहता है, आज भी झुकझोरेवाली कुछ समस्याओं के परिवेश में लेखक का संघर्ष, देशप्रेम और नवीन मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित होता है, वहाँ वह यह सहज ही जिज्ञासा भी कर सकता है कि सातवाहन राजा में ऐसा क्या है कि वह जनता का इतना प्यारा बना हुआ है, राज्य सत्ताधिकारियों में वह इतना श्रेष्ठ है। क्यों उसका बार बार जय जयकार होता है? जनता की शक्तियों में अद्भुत आस्था रखनेवाले

लेखक ने सातवाहन जैसे निश्चयहीन परसंचालित और भोलेभाले राजा को राजा के रूप में इतना महत्व क्यों दिया कि सारी प्रजा उसके प्रति अपने को समर्पित करती रहती है। सातवाहन अपने आप में बहुत प्यारा और मनुष्य के रूप में बहुत संवेदनशील व्यक्ति है किंतु एक प्रिय राजा की विशेषताएं कुछ और होती हैं। सातवाहन कोई निश्चय ले ही नहीं पाता, वह सदैव दूसरों की इच्छाओं और निश्चयों से संचालित होता है। अपनी प्रिया चंद्रलेखा से भी वह दूसरों की योजना के अनुसार मिलता बिछुड़ता है। वह जैसे एक विराट् रहस्य में भटकता हुआ प्राणी है जिसकी बागडोर स्वयं उसके हाथ में नहीं। राजा स्वयं अपनी इन कमजोरियों से परिचित है। वह स्वयं अपने से पूछता है कि उसमें ऐसा क्या है कि लोग जय जयकार करते हैं।

जीवन से ऊपम इस उपन्यास में धाराएँ तो बहुत हैं किंतु वे संश्लिष्ट होकर एक संघटित व्यक्तित्व की रचना करने के स्थान पर अनियंत्रित भाव से फैल जाती हैं अर्थात् वस्तु संघटन की दृष्टि से यह उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा की सी गरिमा नहीं पा सका है। द्विवेदीजी बातचीत में कहा करते हैं कि वे उपन्यास नहीं गप्प लिखते हैं। गप्प उपन्यास की तरह नियंत्रित हो यह आवश्यक नहीं—वह तो अपने ढंग से अपनी बात कह देता है। गप्प कहने का अभिप्राय शायद यही हो। किंतु लेखक की यह विनम्रता भी चारुचंद्र लेख को उपन्यास होने से बचा नहीं सकती। और उपन्यास है तो उसके वस्तु संघटन संबंधी शैथिल्य से पाठक को शिकायत होना स्वाभाविक है। राजा अपनी निष्क्रियता और निश्चयहीनता को लेकर उपन्यास के आदि से अंत तक एक ही प्रकार की जिज्ञासा से पीड़ित है। समूह जीवन की ओर उन्मुख होने का सत्य वह बारबार पाता है, हर जीवंत पात्र उसे यह सत्य देता है और उसे हर बार लगता है कि उसे नया सत्य मिला है। कभी सीदी मौला में, कभी विद्याधर भट्ट में, कभी मैना में, कभी बोधा में, कभी भगवती विष्णुप्रिया में, कभी नटी माता में, कभी कापालिक वज्रपाणि में उसे यही जीवन सत्य तैरता हुआ दिखाई पड़ता है और वह जिसके भी संपर्क में आता है उसी से अभिभूत सा दिखाई पड़ता है। उसे लगता ही नहीं कि यह सत्य प्रकारांतर से वह पहले भी पा चुका है और उसे विभिन्न संदर्भों में विकसित करना चाहिए। इस संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि जीवन और जनता संबंधी बातें थोड़े बहुत अंतर से अनेक पात्रों से कहलाई गई हैं। यह निश्चय करना

कठिन हो जाता है कि वह पात्र जो बात कह रहा है वह उसी तरह की बातें करनेवाले अन्य पात्र क्यों नहीं कह सकते थे ? मूलतः दोनों पात्रों के जीवन संबंधी स्वरो में कहाँ भिन्नता है ? यदि थोड़ी सी भिन्नता या भिन्नता की भंगिमा हो तो भी इसके लिये एक अलग पात्र की अवतारणा की सार्थकता क्या ? मसलन वज्रपाणि जो बात कह रहे हैं उसी के पासपास सीदी मौला भी बोलता है। वज्रपाणि और सीदीमौला के व्यक्तित्व में अंतर है। और उन अंतरों के कारण उपन्यास में दोनों के व्यक्तित्व की अपनी अपनी महत्ता और सार्थकता है किंतु जहाँतक इन दोनों की या अन्य जीवनोन्मुख पात्रों की समूहशक्ति और जनता संबंधी बातों का संबंध है सब एक दूसरे को दुहराते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस दुहराव का बोध अधिक इसलिये भी होता है कि सबका लक्ष्यभूत खोत राजा है जैसे वह यहाँ से वहाँ तक सुनने के लिये ही हो और थोड़े बहुत अंतर से एक सी बातें।

स्वभावतः ध्यान चला जाता है बाणभट्ट की आत्मकथा की और और तुलना का भाव उपजने लगता है। लगता है कि चारुचंद्र लेख अपने विराट फलक के बावजूद अपने संघटन और प्रभाव में इतना तीव्र नहीं है जितना कि बाणभट्ट की आत्मकथा। किंतु दोनों उपन्यास मानवीय गरिमा से मंडित होकर भी बहुत यथार्थवादी हैं और दोनों का प्रभावशाली अंत यथार्थवादी ढंग से यातना की एक कौंध के साथ हुआ है।

‘शहर में घूमता आईना’ कलेवर की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस ४७५ पृष्ठों के उपन्यास में लेखक का आईना चेतन बनकर जालंधर शहर में घूमता रहा है और उसमें दिखाई पड़नेवाली सूरतों को उनकी पुष्टतैनी फिहरिस्त के साथ पेश करता है। लेखक से यदि आपकी शिकायत हो कि वह उपन्यास न लिखकर अनेक लोगों की अलग अलग जीवनियाँ दे रहा है और यदि उनमें एकसूत्रता है तो केवल इसलिये कि चेतन इन सारी घटनाओं का कहीं दर्शक के रूप में, कहीं श्रोता के रूप में, कहीं भोक्ता के रूप में साक्षी होता है, तो लेखक का उत्तर हो सकता है कि उसने एक नया प्रयोग किया है और प्रयोग को पहचानने के लिये पर्याप्त पकड़ और विवेक आपके पास न हो साहब तो इस उपन्यास को इसके सूरते हाल पर छोड़ दें और इतजार करें कि शायद इसकी महत्ता और सार्थकता कभी समझ में आ जाय।

‘दीर्घतपा’ फणीश्वरनाथ रेणु का एक छोटा सा उपन्यास है। इसे भी प्रांचलिक ही कहना चाहिए। रेणु आज की नई पीढ़ी के एक ऐसे कथाकार हैं जिनमें मुझे जीवनानुभूति की सघनता सबसे अधिक दिखाई पड़ती है। इसी लिये प्रांचलिकता इनके लिये रोमानी दृष्टि का योग न बन कर यथार्थ की अभिव्यक्ति की अपरिहार्य आवश्यकता बन जाती है। रेणु जो कुछ देखते हैं ईमानदारी से देखते हैं तथा अपने और उस सत्य के समग्र व्यक्तित्व को साथ देखते हैं। प्रस्तुत उपन्यास या उनका कोई भी परवर्ती उपन्यास ‘मैला आंचल’ के समान सशक्त नहीं बन सका किंतु प्रत्येक उपन्यास अपनी अनुभूति सघनता, जीवन की संश्लिष्टता और लेखक की मानवीय दृष्टि से संयुक्त है इसी लिये हर उपन्यास अपनी रचनात्मक सार्थकता प्रमाणित करता है। ‘दीर्घतपा’ में बाँकीपुर में स्थापित वकिंग विमेंस होस्टल में चलनेवाली जिंदगी की अनेक विसंगतियों और विद्रूपताओं को बड़ी तल्लीनता से उभारा गया है। उस हास्टल की आन्दोली सेक्रेटरी हैं श्रीमती उयोस्ना आनंद जो स्वयं चरित्रहीन हैं और होस्टल की लड़कियों को अपने व्यावसायिक लाभ के लिये काम में लाना चाहती हैं। मिल बेसा गुप्त होस्टल की सुपरिण्डेंट और केयर टेकर हैं जो अपने व्यक्तिगत जीवन में मानवीय यातनाओं का शिकार हो चुकी हैं और उन यातनाओं में आलोक भरा है। इसी लिये इन दोनों में लड़कियों को लेकर संघर्ष शुरू होता है। श्रीमती आनंद और उनकी समर्थक चरित्रहीन लड़कियों के षड्यंत्र से मिस बेला की बदनामी होती है और उन्हें जेल भी जाना पड़ता है। बेला गुप्ता निर्दोष होने पर भी अपने बचाव के लिये कुछ नहीं करती और मानों यातनाभरे जीवन की एक और बड़ी यातना को समर्पित कर देती हैं। होस्टल में तरह तरह के पेशे और स्वभाव की लड़कियाँ रहती हैं, श्रीमती आनंद और मिस बेला गुप्ता के बीच की दूरी में जीवन की तरह तरह की धाराएँ बहती और टूटती हैं और जीवन के छायाप्रकाश एक दूसरे को काटते निकल जाते हैं। भाषा के स्तर पर रेणु से फिर शिकायत की जा सकती है कि रचनात्मक स्तर पर रची गई होकर भी स्वगत भाषण की खिचड़ी भाषा की परंपरा बहुत स्वस्थ प्रभाव नहीं उभारती है। कहीं कहीं बात तो उलझ जाती है केवल ध्वनि शेष रह जाती है।

‘कुब्जा कुंदरी’ ठाकुर प्रसाद सिंह का उपन्यास है जिसमें एक व्यक्ति के संघर्ष और टूटन की कथा है। उपन्यास आत्मकथा शैली में लिखा गया है और यह आत्मिक नहीं है क्योंकि लेखक की निकट से जाननेवाला व्यक्ति

आसानी से परख सकता है कि इसमें लेखक के अपने जीवन का अधिकांश परिवेश और प्रतिक्रिया व्यक्त है। पठन काल से लेकर काफी बाद तक की परिस्थितियाँ लेखक की निजी परिस्थितियाँ हैं इसलिये वह उन्हें बड़ी ईमानदारी और आत्मीयता से उभार सका है और इसी लिये उपन्यास का अभिप्रत प्रभाव पड़ता है। लेखक का या 'मैं' पात्र का जीवन इतनी विविध यातनाओं और संघर्षों से गुजरा है कि यह निजता सहज ही अपनी इकाई में खंडित न होकर अपने आसपास के जीवन से जुड़ गई है इसी लिये इसमें शक्ति आई है। उपन्यास का मैं पात्र संज्ञा नाम की एक लड़की के संपर्क में आता है। यह संबंध ऊपर से बहुत कुछ तटस्थ मित्रों का संबंध मालूम पड़ता है किंतु कुछ दिन बाद जब संज्ञा की बहन सुषमा 'मैं'—पात्र के संपर्क में आती है तब संबंधों की जटिलता का अहसास तीव्र होने लगता है और अनेक मानसिक गुत्थियाँ 'मैं', संज्ञा और सुषमा को आक्रांत करने लगती हैं। 'मैं' एक और इन मानसिक गुत्थियों से लड़ता है—दूसरी ओर अपने जीवन की विषम परिस्थितियों से। उन परिस्थितियों की ही ओट में किसी लड़की को स्वीकार करने में संकोच अनुभव करता है। इस संकोच या द्विधा का परिणाम यह होता है कि सुषमा 'मैं' के रास्ते से हटकर दूसरा रास्ता पकड़ लेती है और संज्ञा कलकत्ता जाने के क्रम में बीच में उतर कर नायक के साथ उसके घर चली जाती है तब उसे लगता है कि उसके भीतर एक नारी का जन्म हुआ है। संज्ञा की संज्ञा मर जाती है और नारी जन्म लेती है। तब ? तब कुछ नहीं उपन्यास खत्म हो जाता है। लेखक ने जगह जगह फैंटेसी, लोककथा, कविता आदि का बड़ा कुशल उपयोग कर उपन्यास में सांकेतिका और मार्मिकता भरी है।

एक इंच मुस्कान राजेंद्र यादव और मन्तू भंडारी द्वारा लिखा गया सहकारी उपन्यास लेखन का एक सफल प्रयोग है। सफल इस अर्थ में कि एक की छोड़ी हुई कथा को दूसरे ने इस तरह पकड़ा और निबाहा है कि कथा में कहीं जोड़तोड़ नहीं मालूम पड़ता। इतना जरूर है कि दोनों लेखकों के व्यक्तित्वों के अनुसार उनके द्वारा लिखे गए अंशों का वैचारिक और भावात्मक रूप कुछ अलग अलग दीखता है। राजेंद्र यादव के अंशों में मनो-वैज्ञानिक सूक्ष्मता है जो कहीं कहीं सहज है और कहीं कहीं आयासजन्य। आयासजन्य मनोवैज्ञानिकता उसे कृत्रिमता और अनावश्यक घिराव प्रदान करती है और इस मनोवैज्ञानिक गहनता के सायास निर्माण के बावजूद एडोलेसेंस का अभाव नहीं है। मन्तूजी वाले अंश में अधिक सहजता और

खुलापन है, भावस्पर्दन है फिर भी एडोलेसेंस नहीं । शायद पुरुष और नारी मन का सत्य भी इसका उत्तरदायी हो ।

उग्रतारा नागाजुन का उपन्यास है । उग्रतारा उर्फ उगनी कामेश्वर नाम के एक युवक से प्रेम करती है । उग्रतारा विधवा है, परम सुंदरी है । नर्मदेश्वर की भाभी नए विचारों की नारी हैं, वे कामेश्वर को उग्रतारा के प्रति उकसाती हैं । कामेश्वर और उग्रतारा के बीच दकियानूस समाज है इसलिये कामेश्वर उग्रतारा को लेकर भागता है और पकड़ जाता है । कामेश्वर को नौ मास की सजा देकर गंगा पार के किसी जेल में भेज दिया जाता है और उग्रतारा को एक मास की सादी कैद मिलती है । वार्ड के सिपाही भीखनसिंह उसके प्रति आकृष्ट होते हैं । जेल से छूटने के बाद उसके सामने कोई चारा नहीं होता या तो वह आत्महत्या करे या भीखनसिंह का प्रस्ताव मान ले । वह भीखनसिंह की पत्नी बनकर दिन काटती है । फिर एक दिन कामेश्वर जेल से छूट कर आता है, फेरीवाले के रूप में और उग्रतारा को देखता है । उपाय करके ले भागता है और नर्मदेश्वर की भाभी की सहायता से सुख से रहने लगता है । उग्रतारा के कोख से पैदा होनेवाले भीखनसिंह के बच्चे को भी बड़े स्नेह से स्वीकारता है ।

उपन्यास बहुत रोचक है नई नारी और नये पुरुष को लेखक ने बहुत स्वाभाविक ढंग से उभारा है, नारा नहीं उभरने पाया है । भीखनसिंह जैसे पुराने संस्कार के सिपाही को भी उनकी समस्त असुंदरताओं, सुंदरताओं के साथ चित्रित किया गया है जिससे वे बहुत सजीव लगते हैं । लेखक ने बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से जगह जगह बहुत मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित किए हैं । किंतु कुल मिलाकर उपन्यास अपना कोई वैशिष्ट्य प्रमाणित नहीं करता—न शक्ति की दृष्टि से, न आंतरिक गहराई की दृष्टि से ।

‘दिशाहीन’ मध्यमताय गुप्त का लिखा हुआ एक लघु उपन्यास है । उपन्यास आकारलघु होकर भी सशक्त है । इसमें ढाकू जीवन के नृशंस अत्याचारों और क्रूर कर्मों के पीछे छिरी उसकी विवशता का जीवंत चित्र है ।

## आलोचना : १६६३

डॉ० कुमार विमल

वर्तमान दशक की प्रकाशन सूचियों पर ध्यान देने से पता चलता है कि आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी अंगों में आलोचना ही सर्वाधिक पुष्ट होती जा रही है। यूँ यह किसी भी साहित्य के लिये अस्वाभाविक विकास है, क्योंकि प्रकृत्या रचनात्मक कृतियों की वृद्धि गुण और परिमाण — दोनों ही दृष्टियों से आलोचनात्मक कृतियों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। आलोच्य अवधि में आलोचना का विकास भी परिमाण की दृष्टि से ही अधिक हुआ है, गुण दृष्टि से कम। 'एकेडेमिक' ढंग से लिखी हुई आलोचना पुस्तकें छात्रोपयोगी होने के कारण अधिक प्रकाशित हो रही हैं और वास्तव में आलोचना को समृद्ध करनेवाले शास्त्रीय, सैद्धांतिक या पाठाद्धत समीक्षा ग्रंथ कम छप छप रहे हैं। अतः हिंदी आलोचना की प्रगति का वार्षिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते समय दो बातें तुरंत स्पष्ट हो जाती हैं। एक यह कि अनेक आलोचक आलोचना के नाम पर छात्रोपयोगी साहित्य लिखते हैं और दूसरी बात यह कि जो प्रौढ़ या प्रतिष्ठित आलोचक हैं, वे भी अधिकतर निजी पूर्वाग्रहों के कारण निर्वैयक्तिक शास्त्रचिंतन को अपनी आलोचनात्मक कृतियों में अबाधित नहीं रहने देते हैं।

आलोच्य वर्ष में प्रकाशित सभी समीक्षा ग्रंथों की चर्चा स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं है। अतः इस संक्षिप्त सिंहावलोकन में अर्चचित ग्रंथों को सर्वथा महत्वहीन मानना भ्रांति को न्योतने जैसा होगा।

आलोच्य अवधि में कवि विशेष पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें 'युगचारण दिनकर' और निराला पर नागार्जुन की पुस्तक 'एक व्यक्ति : एक युग' विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'एक व्यक्ति : एक युग' बहुत ही प्रभाववादी शैली में लिखा गया है, जब कि 'युगचारण दिनकर' व्यवस्थित और वस्तु-निष्ठ ढंग से लिखा गया एक विस्तृत ग्रंथ है। इसमें दिनकर की जीवनी और

व्यक्तित्व पर भी अच्छी सामग्री दी गई है। प्रबंध पद्धति पर लिखे गए इस ग्रंथ में पांच प्रमुख अध्याय हैं—‘दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि’, ‘दिनकर की समष्टिपरक काव्यचेतना का विकास’, ‘दिनकर की शृंगारचेतना और नारी भावना का विकास’ और ‘दिनकर का काव्यशिल्प’। ग्रंथ में उपसंहार और परिशिष्ट भी हैं। गुण तथा आकार—दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रंथ दिनकर पर अद्यपर्यंत प्रकाशित आलोचना पुस्तकों के बीच सर्वोत्कृष्ट है।

नागार्जुन ने अपनी छोटी, किंतु, विलक्षण पुस्तक<sup>१</sup> में निराला के जीवन और साहित्य पर कवि दृष्टि से अच्छा प्रकाश डाला है। इसे पढ़ते समय आलोचना से अधिक सर्जनात्मक गद्य पढ़ने का आनंद मिलता है। बीच-बीच में नागार्जुन ने समाज की उन मलीमस परिस्थितियों पर गहरा आक्रोश व्यक्त किया है, जिनके चलते निराला के लिये एक दुःखद अंत अनिवार्य बन गया था। हिंदी समाज की इस दायित्वहीनता और प्रत्यवाय पर नागार्जुन ने घन की चोट की है। समूची पुस्तक में निराला की मृत्यु पर लिखित नागार्जुन की ‘उसे मरने दिया हमने’ शीर्षक कविता की इन चार पंक्तियों का ही विस्तृत गद्यात्मक व्याख्यान है—

बाल भ्रूवरे दृष्टि पैनी, फटी लुंगी, नग्न तन  
किंतु अंतर्दीप्त था आकाश सा उन्मुक्त मन,  
उसे मरने दिया हमने रह गया घुटकर पवन  
अब भले ही याद में करते रहें सौ सौ हवन।

फलस्वरूप, लेखक की आत्मनिष्ठ भावुकता, आलोच्य कवि की जीवनी तथा साहित्य के त्रिपुटीकृत हो जाने से इस पुस्तक का आलोचनात्मक महत्व, साहित्यिक मूल्य रहने पर भी, अधिक नहीं है।

इसी वर्ष निराला पर विश्वंभर मानव की एक पुस्तक<sup>२</sup> प्रकाशित हुई जो आलोचना की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। किंतु, इस पुस्तक का नाम—‘काव्य का देवता : निराला’—किसी संतुलित दृष्टिकोण को संकेतित नहीं करता है। यद्यपि इस पुस्तक का उद्देश्य अंधश्रद्धा और पक्षधरता से बचकर निराला के मन, बुद्धि और आत्मा का निष्पक्ष अन्वेषण बतलाया गया है, तथापि इसमें निष्पक्षता का सर्वतोभावेन निर्वाह नहीं है। इतने उपशीर्षकों—

१. एक व्यक्ति : एक युग, नागार्जुन परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६३।

२. काव्य का देवता : निराला, विश्वंभर मानव, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६३।

जीवन, व्यक्तित्व, हिंदी काव्य, प्रकृति, प्रेम, अध्यात्म चिंतन, प्रार्थना गीत, सौंदर्य के चित्र, श्रोज की अभिव्यक्ति, करुणा के प्रसंग, हास्यव्यंग्य, स्वतंत्र विषय, प्रशस्तियाँ, व्यक्तिपरक रचनाएँ, संस्कृति का प्रश्न, वादविवेचन, कल्पना की दिशाएँ, कला : उपलब्धि और सीमाएँ तथा काव्य का देवता— के रहने पर भी इस पुस्तक में निराला के काव्यसौष्ठव का समुचित उद्घाटन नहीं हो सका है। विश्वंभर मानव ने 'कृतिवास का प्रभाव' शीर्षक टिप्पणी में ( पृष्ठ २०३ ) बहुत ही भ्रामक गर्वोक्ति की है कि निराला की 'राम की शक्ति पूजा' पर कृतिवास रामायण के प्रभाव की सूचना उन्होंने हिंदी जगत् को सबसे पहले दी है और यह उनकी मौलिक खोज है। लेखक की यह गर्वोक्ति नितांत भ्रामक है क्योंकि इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व इस प्रभाव की एकाधिक बार चर्चा हो चुकी है। उदाहरण के लिये, 'ज्योत्स्ना' नामक मासिक पत्रिका ( पटना, फरवरी १९६२ ) में प्रकाशित 'निराला की कविता के कुछ विशिष्ट पक्ष' शीर्षक निबंध इसका प्रमाण है, जिसमें निराला की 'राम की शक्तिपूजा' एवं कृतिवास रामायण के एतादृश स्थलों का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

विष्णुकांत शास्त्री के निबंधसंग्रह 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध'<sup>१</sup> में भी निराला काव्य में अभिव्यक्त मर्मस्पर्शी वेदना पर एक विस्तृत निबंध है। इस संग्रह के अन्य निबंध विविध विषयक हैं, जिनका साहित्यिक स्तर कहीं सामान्य और कहीं विशिष्ट है। कविविशेष पर लिखी गई पुस्तकों में 'सुमित्रानंदन पंत : कला, काव्य और दर्शन'<sup>२</sup> की भी गणना की जा सकती है। किंतु, बटुकतोषिणी पोथियों के स्तर के कारण यह पुस्तक केवल छात्रोपयोगी है। इसकी छात्रोपयोगिता का पता इसके विषयक्रम से ही चलता है— परिचय, पंत और उनकी कला, गीति काव्य और पंत, छायावाद और पंत, पंत और अरविंद दर्शन, इत्यादि।

कविविशेष पर प्रकाशित ग्रंथों के बीच आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'मृत्युंजय रवींद्र'<sup>३</sup> उच्चकोटि का है। यद्यपि इसमें संकलित रवींद्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व, कृतित्व और काव्य से संबद्ध निबंध समय समय पर लिखे गए हैं तथा पुस्तकाकार मुद्रित होने के पूर्व विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में

१. हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६३।

२. नीरज और सुधा सक्सेना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९६३।

३. हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, १९६३।

प्रकाशित हो चुके हैं तथापि इन निबंधों में आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व और साहित्य रुचि की अखंडता आद्यंत निर्भर है। समूची पुस्तक में कृति-साहित्य के गद्य की रसोच्छलता सुरक्षित है। अतः कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में रवि बाबू के कृतित्व और काव्य के मूल्यांकन से अधिक उनके रसास्वादन का प्रयास है। आलोचनात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से पुस्तक का दूसरा खंड, जो रवि बाबू के कृतित्व से संबद्ध है, अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इस खंड के कुछ निबंध, जैसे— 'रूप और अरूप', 'रवींद्रनाथ की हिंदी सेवा', 'रवींद्रनाथ और आधुनिक हिंदी साहित्य' तथा 'रवींद्रनाथ और हिंदी साहित्य' सामान्य पाठकों के लिये ही नहीं, विशेषज्ञों के लिये भी उपादेय हैं।

आलोच्य काल में समसामयिक साहित्य और उसकी नवीनतम प्रवृत्तियों पर जो दो चार आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनमें 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य'<sup>१</sup> उल्लेखनीय है। यह पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है—साहित्यिक मूल्य, आधुनिक काव्य और नई प्रवृत्तियाँ। इन तीन खंडों के अंतर्गत संकलित निबंध क्रमशः इस प्रकार हैं—मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदंड, दायित्व और स्वातंत्र्य : अविच्छिन्न मूल्य, साहित्य का प्रगतिशील मानदंड, साहित्य में प्रयोगवाद, रस सिद्धांत और आधुनिक मनोविज्ञान, आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध, छायावाद से प्रयोग युग तक, स्वातंत्र्योत्तर काव्य की दिशा, नई कविता की समसामयिक भावभूमि, नई कविता का सामाजिक परिवेश, नकेन के प्रपद्य, पुरानी कथा और नई संवेदना, नई कविता की समस्या, युग जीवन की संपृक्ति, आधुनिक काव्य की ऐंद्रजालिक परिणति और आधुनिकता का नया स्वर। इन विविध प्रकार के शीर्षकों से यह स्पष्ट है कि इस पुस्तक में रचनात्मक संघटन के साथ ही चिंतन की एकसूत्रता और विषयवस्तु की एकरूपता का किंचित् अभाव है। फलस्वरूप, कई स्थलों पर असंगतियाँ और विरोधाभास भी हैं। प्रायः विवरणात्मक प्रतिभावाली लेखनी जब अंतराल दे दे कर कुछ लिखती है, तो ऐसा हो जाया करता है। लगभग सभी निबंधों में 'अॉब्जेक्टिव अध्ययन' के नाम पर विषय की सूक्ष्मता के स्पर्श से बचकर स्थूल विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

समसामयिक या अत्याधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों पर लिखे गए

आलोचनात्मक ग्रंथों के बीच 'नई कविता, नई आलोचना और कला' की भी गणना की जा सकती है। इसके प्रकाशित होने पर कई प्रतिष्ठित पत्रिकाओं ने ध्रुवांत प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। कुछ पत्रिकाओं ने उन्मुक्त प्रशंसा की और कुछ ने उग्र विरोध किया, क्योंकि इसमें लेखक ने युग बोध के साथ साहित्य एवं कला से संबद्ध निर्भीक और अपरंपरित मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। पुस्तक तीन उपखंडों में विभाजित है, जिनमें संकलित निबंध इस प्रकार है—नई कविता : उपलब्धियाँ और अभाव, भविष्य की कविता, नई आलोचना : एक सर्वेक्षण, कोचे का कला दर्शन, कला और जन-संस्कृति, पाश्चात्य कला के कुछ आधुनिक 'वाद' और भारतीय कला की कुछ विशेषताएँ। इन निबंधों में 'कला और जन संस्कृति' शीर्षक निबंध इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें कलाशास्त्रीय निरूपणों को समाज-शास्त्रीय आधार दिया गया है। नए विचार क्षितिज के उद्घाटन की दृष्टि से 'नई आलोचना : एक सर्वेक्षण' संकलित निबंधों के बीच सर्वाधिक विशिष्ट है, क्योंकि यह हिंदी आलोचना में एक नए प्रवर्तन की सूचना देता है और आलोचना के कलाशास्त्रीय आधार को अनिवार्य घोषित करता है। समीक्षकों की दृष्टि में इस पुस्तक की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इसके उपखंडों और निबंधों में उस एकसूत्रता का अभाव है जिसके चलते कोई भी संकलन पुस्तक 'विविधा' बनने से बच जाती है। लेखक ने एक विस्तृत प्राक्कथन के द्वारा इस दोष के मार्जन का, शायद, असफल प्रयास किया है।

अत्याधुनिक साहित्य से संबद्ध पुस्तकों में तीसरी उल्लेख्य पुस्तक है—'नई कविता और उसका मूल्यांकन'।<sup>१</sup> इसमें नई कविता का मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया गया है। संपूर्ण पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में नई कविता की पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है और लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि हिंदीकाव्य तीव्रगति से विवशवकाव्य की प्रगति का मुकाबला करने के लिये तत्पर हो रहा है। सचमुच, 'लिरिकल बैलेड्स' और 'पल्लव' के प्रकाशन में जहाँ एक शताब्दी से भी अधिक का अंतर था, वहाँ 'वेस्ट लैंड' और 'तारसप्तक' के बीच लगभग पचीस वर्षों का ही अंतर है। द्वितीय अध्याय में नई कविता के शिल्प-वैचित्र्य का विवेचन है, जिसके अंतर्गत बिंब, प्रतीक, छंद, उपमान और

१. कुमार विमल, भारतीभवन, पटना, १९६३।

२. सुरेशचंद्र सहल, आमाराम एंड संस, दिल्ली, १९६३।

भाषाशैली का विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय में लेखक ने नई कविता की प्रवृत्तिगत विशेषताओं का आकलन करते हुए नई कविता की क्षणासक्ति पर कालदर्शन के संदर्भ में अच्छा विचार किया है। तदनंतर, चतुर्थ अध्याय में नई कविता की सीमाओं और संभावनाओं का सतर्क विश्लेषण है। प्रायः सभी अध्यायों में लेखक ने नई कविता को पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में जहाँ जहाँ पाश्चात्य काव्य, विशेषकर अंग्रेजी की अत्याधुनिक कविता का उल्लेख है, वहाँ अद्यतन सामग्री का उपयोग नहीं किया गया है। केवल लुई मेकनीस और बी० पी० बागची के विचारों का उल्लेख पाश्चात्य साहित्य और अत्याधुनिक अंग्रेजी कविता के साथ लेखक के रंक परिचय का प्रमाण है। पाश्चात्य प्रभावस्रोत के विश्लेषण की दृष्टि से नई कविता के साथ 'बीट जेनरेशन', 'एंग्री यंगमेन ग्रुप', 'एक्शन पेंटिंग' या स्वतः मानसिक चालनयुक्त शिल्प की तुलना अनावश्यक नहीं है।

आलोच्य वर्ष में साहित्य के विविध विषयों से संबद्ध कई ऐसे निबंध-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं, जिनका आलोचनात्मक मूल्य अकूत है। जैसे, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा का निधनोत्तर प्रकाशित निबंधसंग्रह 'मानदंड'।<sup>१</sup> यह 'मानदंड' नलिनजी के निबंधों और भिन्न भिन्न अवसरों पर लिखी गई टिप्पणियों का संकलन है, जिसे चार खंडों में बाँट दिया गया है—आलोचनासंबंधी, शोधसंबंधी, कलाकारसंबंधी और संस्कृत साहित्यसंबंधी। इस संग्रह के महत्वपूर्ण निबंध ये हैं—'वर्तमान आलोचना : उपलब्धि और अभाव', 'तात्त्विक शोधसमस्या', 'बर्नार्ड शॉ : पृष्ठभूमि, उपलब्धि और पराजय' तथा 'वेद में विष्णु'। यद्यपि अन्य निबंध और टिप्पणियाँ अल्पाकार हैं, 'मुक्तक में चिंतन' हैं, तथापि उनपर एक मनीषी आचार्य के मनन की अभिज्ञेय छाप है।

छात्रोपयोगी आलोचनात्मक निबंध संग्रहों के बीच डा० भगीरथ मिश्र की पुस्तक 'कला, साहित्य और समीक्षा'<sup>२</sup> उल्लेखनीय है। इसमें कुल मिलाकर ५३-५४ निबंध संकलित हैं, जो उच्च वर्ग के छात्रों की उपयोगिता को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। संपूर्ण पुस्तक इन तीन खंडों में विभाजित है—'कला और साहित्य', 'काव्य प्रवृत्तियों की समीक्षा' और

१. मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९६३।

२. भारतीय साहित्य मंदिर, फर्रुखाबाद, दिल्ली; १९६३।

‘साहित्य समीक्षा’। इन निबंध संग्रहों के अलावा कुछ ऐसे निबंधसंग्रह भी प्रकाश में आए हैं, जिनका सीधा संबंध हिंदी साहित्य की किसी विशेष विधा या उसके आलोचनात्मक पक्ष से नहीं है, किंतु, जिनका साहित्यिक महत्व उपेक्षणीय नहीं है। जैसे, डा० मुंशीराम शर्मा की ‘वैदिक निबंधावली’।<sup>१</sup> ‘प्रथमजा’ और ‘संध्याचिंतन’ के बाद डा० शर्मा का यह तीसरा निबंधसंग्रह है, जिसमें पचीस निबंध संगृहीत हैं। ये सभी निबंध वैदिक विषयों से संबद्ध हैं और संक्षिप्त, सुचितित तथा सुस्थ हैं। ‘ऋत की महिमा’ शीर्षक निबंध में ऋत और सत्य का बारीक पार्थक्यनिरूपण निबंधकार की सूक्ष्मेक्षणा प्रतिभा के साथ ही आस्था और तर्क के संतुलन कोशल का परिचय देता है। इसी तरह वैदिक शब्दों के चयन में निबंधकार की सरचावृत्ति प्रशंसनीय है। इस संदर्भ में परिचयात्मक निबंधसंग्रहों की भी चर्चा की जा सकती है। जैसे—ठाकुर राजबहादुर सिंह की पुस्तक ‘नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार’,<sup>२</sup> जिसमें सत्तावन नोबल पुरस्कार विजेताओं के जीवन और साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

आलोच्य वर्ष के अतृदित ग्रंथों में ‘नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक’ तथा ‘सौंदर्य तत्त्व और काव्य सिद्धांत’ विशेष रूप से गण्य हैं। ‘नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक’<sup>३</sup> में दशरूपक तथा उसपर धनिक की वृत्तियों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। प्रारंभ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा पर एक विस्तृत निबंध लिखा है और अंत में परिशिष्ट के अंतर्गत धनिक की मूल संस्कृत वृत्तियों का समावेश कर दिया गया है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की हिंदी भाष्यपरंपरा इससे समृद्ध हुई है। ऐसा ही समृद्ध कार्य १९६२ में प्रकाशित ‘भामह विरचित काव्यालंकार’ के पांडित्यपूर्ण भाष्य में आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा ने किया है। इसी तरह ‘सौंदर्य तत्त्व और काव्य सिद्धांत’<sup>४</sup> अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। यह ग्रंथ हिंदी के प्रख्यात

१. चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३।

२. राजपाल एंड संस, दिल्ली, १९६३।

३. हजारीप्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६३।

४. डा० सुरेंद्र बारलिगे, अनुवादक, डा० मनोहर काले, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।

मनीषी डा० नगेंद्र के निर्देशन में संचालित 'हिंदी अनुसंधान परिषद्' ग्रंथमाला ( दिल्ली विश्वविद्यालय ) का तीसरा पुष्प है । इस ग्रंथ के द्वारा प्राचीन काव्यशास्त्र में न्यस्त सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं को दार्शनिक दृष्टि से विवेचित कर सामान्य पाठकों के लिये सुलभ बनाया गया है । इसमें डा० सुरेंद्र बारलिंगे के कुछ निबंध, जो मूलतः अंग्रेजी तथा मराठी में लिखे गए थे, संकलित हैं । प्रस्तुत ग्रंथ में इनका हिंदी अनुवाद डा० मनोहर काले ने प्रस्तुत किया है । डा० बारलिंगे की यह कृति सौंदर्य सिद्धांत और काव्य सिद्धांत के वांछित समीकरण को उदाहृत करती है । इसमें कुल ग्यारह निबंध संकलित हैं, जिनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं—सौंदर्यवाचक विधानगत विधेय, सौंदर्यवाचक विधानगत उद्देश्य, रस का स्वरूप, मूल रससिद्धांत और कतिपय आलोचक, रससौंदर्य और आनंद, रससंख्या, रससिद्धि, कला के हेतु और काव्यदर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप । इन निबंधों में कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ परंपराभुक्त परिपाटी से विलग होकर नवीन मौलिक चिंतन के लिये प्रयत्न किया गया है ।

तदनंतर, आलोच्य वर्ष के आलोचना साहित्य को समृद्ध करने में विभिन्न विश्वविद्यालयों से पी-एच० डी० और डी० लिट्० के लिये स्वीकृत शोधप्रबंधों का महत्वपूर्ण योग रहा है । शोधप्रबंधों का लेखन विश्वविद्यालयों में रचे जानेवाले साहित्य का, शायद, उत्तमांश है और इन शोधप्रबंधों में से कुछ ने हिंदी आलोचना को, निस्संदेह, उत्तमिष्ठ स्तर प्रदान किया है ।

सन् १९६३ में शोधप्रबंधों का प्रकाशन पृथुल मात्रा में हुआ है । तुलनात्मक काव्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से डॉ० मनोहर काले का दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध 'आधुनिक हिंदी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' उल्लेखनीय है । इसमें एक हिंदीतर भारतीय भाषा के काव्यशास्त्र की गहन विवेचना हिंदी काव्यशास्त्र के तुलनात्मक संदर्भ में की गई है । इसे हम हिंदी आलोचना साहित्य के क्षेत्र में एक पथिकृत् या अग्रेसर कार्य कह सकते हैं । निश्चय ही ऐसे तुलनात्मक काव्यशास्त्रीय अध्ययन से काव्यशास्त्र के पुनराख्यान की प्रणाली समृद्ध होगी और अभिनव काव्यशास्त्र के निर्माण की दिशाएँ उद्घाटित होंगी । इस प्रबंध के अंतर्गत डॉ० काले ने रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, रीति सिद्धांत, ध्वनि सिद्धांत, वक्रोक्ति सिद्धांत और औचित्य सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन

स्तुत करते हुए हिंदी तथा मराठी साहित्यशास्त्र की विकास परंपरा का ऐतिहासिक सर्वेक्षण भी उपस्थित किया है। इन दोनों साहित्यशास्त्रों के विभिन्न सिद्धांतों में सौंदर्यशास्त्रीय परिणति की जो अल्प या अनल्प संभावनाएँ निहित हैं, उनका भी विस्तृत विश्लेषण किया जाता तो इस प्रबंध की उपयोगिता भावी अध्येताओं के लिये अवश्य ही बढ़ जाती। इस अवधि में आधुनिक हिंदी काव्य में रूप विषाण<sup>१</sup>, आधुनिक हिंदी काव्य में वात्सल्य रस<sup>२</sup>, आधुनिक हिंदी काव्य में विरह भावना<sup>३</sup>, आधुनिक हिंदी कविता में शिल्प<sup>४</sup>, कूटकाव्य : एक अध्ययन<sup>५</sup>, गोरखनाथ और उनका युग<sup>६</sup>, दक्षिण के हिंदी प्रचार आंदोलन का समीक्षात्मक इतिहास<sup>७</sup>, मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव<sup>८</sup>, हिंदी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना<sup>९</sup>, हिंदी काव्य में मानव तथा प्रकृति<sup>१०</sup>, हिंदी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना<sup>११</sup> इत्यादि जैसे कई शोध प्रबंध प्रकाशित हुए, जिनकी परिचयात्मक विवेचना स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं है।

इन दिनों पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से भी आलोचना साहित्य समृद्ध हो रहा है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संमेलन पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की परिषद् पत्रिका जैसी कुछ पत्रिकाएँ हैं, जिन्होंने आलोच्य अवधि में समीक्षा और शोध के विकास में उल्लेखनीय योग दिया है। कादंबिनी, ज्ञानोदय, लहर, ज्योत्स्ना, नई धारा और कल्पना जैसी मासिक पत्रिकाओं में भी अच्छी समीक्षाएँ और आलोचनात्मक निबंध छपते रहे हैं। 'कल्पना' में प्रकाशित अधिकांश आलोचनाएँ पूर्वाग्रहयुक्त तथा असंतुलित होती हैं। साप्ताहिकों के बीच 'धर्मयुग' का भी योग इस दिशा में ध्यातव्य है, किंतु,

१. डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।
२. डा० श्रीनिवास शर्मा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९६३।
३. डा० मधुर मालती सिंह, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९६३।
४. डा० कैलाश वाजपेयी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९६३।
५. डा० रामधन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३।
६. डा० रांगेय राघव, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९६३।
७. श्री पी० के० केशवन नायर, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ, १९६३।
८. डा० सरलादेवी त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६३।
९. डा० सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९६३।
१०. डा० लालताप्रसाद सक्सेना, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ, १९६३।
११. डा० श्यामनारायण पांडेय, रामा प्रकाशन, लखनऊ, १९६३।

‘धर्मयुग’ सामान्य पाठकों के लिये रोचकता पर इतना अधिक ध्यान देता है कि उसमें प्रकाशित आलोचना प्रायः पत्रकारिता के धरातल पर उतर जाती है ।

यह प्रसन्नता की बात है कि अनेक खामियों के बावजूद अर्थाधुनिक हिंदी आलोचना का विकास साहित्यालोचन के अंतरराष्ट्रीय मानदंडों के आधार पर हो रहा है और उसमें सौंदर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय मान्यताओं को स्वायत्त करने की रुचि पैदा हो रही है । सचमुच, आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के संपूर्ण विस्तार को स्वायत्त कर लेने के बाद ही हिंदी आलोचना का वास्तविक अभ्युदय या स्वर्ण काल प्रारंभ होगा ।

---

# विविध साहित्य : १६६३

डॉ० शिवनंदन प्रसाद

विश्व इतिहास कोष ( द्वितीय खंड )

विश्व इतिहास कोष का प्रस्तुत खंड हमारे आलोच्य वर्ष के जुलाई मास में प्रकाशित हुआ । इसके संपादक श्रीचंद्रराज मंडारी और प्रकाशक ज्ञान-मंदिर प्रकाशन, भानुपुरा, मध्यप्रदेश हैं । ६१८ पृष्ठों की रॉयल साइज की इस पुस्तक का मूल्य १२ रुपए ५० पैसे है । इस खंड में 'इ-ई तथा 'उ-ऊ' के संपूर्ण तथा 'ए-ऐ' से प्रारंभ होनेवाले विश्व इतिहास के अधिकांश नामों का संकलन है । इन नामों में कितना वैविध्य है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक ओर तो इकबाल जैसे उर्दू फारसी कवि, इंद्राणी रहमान जैसे भारतीय नृत्यकार, इलाचंद्र जोशी जैसे हिंदी उपन्यासकार और उपेन्द्रभंज जैसे उड़िया कवि का समावेश हुआ है, दूसरी ओर एन्क्वीस ( ईसाई धर्म की अदालत ) और एकलेशिया ( एथेंस की जनसभा ) जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्द आए हैं जो संदर्भसापेक्ष हैं । इस कोष में साहित्यिकों ( कवियों, कहानीकारों, उपन्यासकारों, नाटककारों, आदि ) के नाम भी आए हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सभी महत्त्वपूर्ण नाम उल्लिखित हो ही गए हैं । साहित्य के अध्येता की दृष्टि से कतिपय प्रसंग रोचक और उपयोगी हैं, जैसे ईरानी ( फारसी ) साहित्य के प्रसंग में फिरदौसी, शेखसादी, उमरखैय्याम, हाफिज, अमीर खुसरों आदि के विवरण; उपन्यास साहित्य के प्रसंग में फ्रेंच, रूसी, चीनी, अमेरिकन, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगाली उपन्यास साहित्य का विवरण, उर्दू भाषा और साहित्य के संदर्भ में वली, मोर, सौदा, मोमिन, गालिब, दाग, हाली, चक्रवर्त आदि के विवरण । इस कोष से लाभ उठाने के लिये दो प्रकार की विषय सूचियाँ प्रारंभ में दी गई हैं—एक अकारादि क्रम से और दूसरी विषयानुक्रम से जिसके अंतर्गत देश और नगर, राजा, राजवंश और राज्याधिकारी, साहित्य, साहित्यकार, धर्मग्रंथ और धर्माचार्य, विज्ञान और वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और क्रांतिकारी, पत्र पत्रिकाएँ और पत्रकार, उद्योग और उद्योगपति तथा प्रकीर्णक शीर्षकों के अंतर्गत वर्य विषय का पृष्ठ निर्देश किया गया है । इस

खंड के कुछ अन्य विशेष आकर्षण हैं, इस्लाम संस्कृति की स्थापना और उसके विकास की आश्चर्यजनक कहानी, ईसाई धर्म और संस्कृति के संदर्भ में रोमन चर्च के अभ्युत्थान का वृत्तांत, वैदिक धर्म के अंतर्गत ऋग्वेद, उपनिषद् आदि का संक्षिप्त परिचय तथा विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कारकों तथा आविष्कारों के विवरण हैं। इस ग्रंथ की रचना में जिन महान् ग्रंथकारों और विद्वानों ने योग दिया है उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—डॉ० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० भगवत्शरण उपाध्याय, रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, आचार्य नरेंद्र देव, पं० बलदेव उपाध्याय, श्री पट्टाभिषीतारामैय्या, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ० गुलाबराय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि। अपनी सीमाओं के बावजूद यह पुस्तक सामान्य पाठक के लिये अत्यंत उपयोगी है, इसमें संदेह नहीं है।

### संक्षिप्त आक्सफोर्ड हिंदी साहित्य परिचायक

आलोच्य वर्ष में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित संक्षिप्त आक्सफोर्ड हिंदी साहित्य परिचायक अपने संक्षिप्त और लघु आकार प्रकार के बावजूद सामान्य पाठकों के लिये उपयोगी प्रकाशन है। इसके संपादक गंगाराम गर्ग हैं जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रणयन में कई प्रसिद्ध और समृद्ध लेखकों का सहयोग प्राप्त किया है, जैसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० प्रभाकर माचवे आदि। संपादक के कथनानुसार इस ग्रंथ को संक्षिप्त करके प्रकाशित किया गया है—केवल उसी सामग्री को लिया गया है जो सामान्य पाठक के लिये उपयोगी है। उस सामग्री को भी संक्षेप में रखा गया है। विशेष रूप से तीन बातों की ओर ध्यान रखा गया है—उन लेखकों, साहित्यकारों, रचनाओं और साहित्यिक संस्थाओं को इस प्रकाशन में स्थान मिला है जो इतिहास और वर्तमान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य में विभिन्न संदर्भों में आनेवाली अंतःकथाएँ भी इसमें समाविष्ट हैं।

साहित्यिक रूढ़ियों, कवि समयों, काव्यन्याय आदि को भी यथासंभव स्थान दिया गया है। पारिभाषिक शब्दों, भौगोलिक नामों आदि का भी यथाभवसर समावेश हुआ है। इस दृष्टि से ग्रंथ को यथासंभव पूर्ण और ध्यापक रूप से उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। कहीं कहीं संक्षेप के आग्रह के फलस्वरूप या अन्य कारणों से विवरण इतने अपूर्ण और अपर्याप्त हो गए हैं कि उनका यहाँ समावेश ही बेकार सा प्रतीत होता है। कुछ उदाहरण—

- (१) ढिगल : राजस्थानी भाषा का साहित्यिक रूप ।  
 (२) तिब्बत : एक देश जो हिमालय के उत्तर में है ।  
 (३) नाथ : मत्स्येंद्रनाथ के अनुयायी योगियों की उपाधि ।  
 (४) पद : ( एक ) श्लोक या किसी छंद का चतुर्थ अंश, ( दो ) भक्ति संबंधी गीत ।

इस प्रकार कहीं कहीं तो दिया गया विवरण नितांत अपर्याप्त ही नहीं, अशुद्ध भी है । छंद के पदार्थ को पाद कहते हैं पद नहीं । यह छंद शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है । 'पद' के और भी अर्थ साहित्य में होते हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है । इसी तरह गीतिका के अंतर्गत केवल गीतिका छंद का लक्षण दिया गया है । यह नहीं बताया गया कि गीतिका नाम की एक काव्य पुस्तिका भी है जिसके रचयिता निराला हैं । इस तरह की अन्य त्रुटियों और सीमाओं के बावजूद पुस्तक सामान्य पाठकों की दृष्टि से उपयोगी है, ऐसा कहा जा सकता है ।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्षा का पच्चीस वर्ष का संचित विवरण ( १९३६ से १९६२ तक )

सन् १९६३ ईसवी के विविध प्रकाशनों के बीच इस पुस्तक का भी अपना स्थान है । राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने उक्त २५ वर्षों में जो महत्वपूर्ण कार्य किए हैं उसका परिचय तो इस ग्रंथ से मिलता ही है, साथ ही हिंदी प्रचार संबंधी अन्य कतिपय संबद्ध संस्थाओं तथा ऐसे व्यक्तियों का भी परिचय इस प्रकाशन द्वारा प्राप्त होता है जो हिंदी की उन्नति और प्रचार के कार्य में लगे हैं । हिंदी के विस्तार के लिये जो विभिन्न योजनाएँ सरकारी तथा गैरसरकारी स्तरों पर कार्यान्वित हुई हैं उनका संदर्भ सहित उल्लेख भी इसमें हुआ है । हिंदी प्रचार संबंधी आंदोलनों की चर्चा भी है तथा इस संबंध में विशेष सुझाव भी दिए गए हैं । इन अनेक दृष्टियों से इस प्रकाशन का अनल्प महत्व है ।

हिंदी साहित्यकार कोश ( हिंदीसेवी संसार : प्रथम खंड )

१९६३ के २३ जून को प्रकाशित ७५५ पृष्ठों के इस ग्रंथ में २७४६ साहित्यकारों के परिचय समाविष्ट हैं । पुस्तक का संपादन डॉ० प्रेमनारायण ठंडन ने किया है और इसका प्रकाशन हिंदीसेवी संसार कार्यालय, रानी कटरा, लखनऊ से हुआ है । पुस्तक का मूल्य १५ रुपए हैं । संदर्भ ग्रंथ के रूप में पुस्तक की उपयोगिता में संदेह नहीं । इसमें जो सामग्री दी गई है

वह लेखक नाम वर्णानुक्रम के अनुसार है। प्रत्येक लेखक का जन्मकाल, शिक्षा, साहित्यिक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं के विवरण तथा अन्य आवश्यक बातें संकलित हैं। वर्णक्रम से होने के कारण नए और पुराने लेखक, बड़े और छोटे लेखक, विख्यात और अज्ञात लेखक इस ग्रंथ में मिले। जुले रूप में उपस्थित किए गए हैं। विशेषतया जिस लेख के संबंध में पाठक जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसी के नाम के आगे दिया विवरण वह देखेगा। कहीं कहीं तो यह विवरण पर्याप्त है किंतु प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखकों के प्रसंग में कहीं कहीं विवरण नितांत अपर्याप्त से हो गए हैं। ऐसे लोगों के संबंध में हम अधिक जानकारी की अपेक्षा रखते हैं। पुस्तकांत में शेष परिचय एवं संशोधन के कतिपय पृष्ठ भी जोड़कर त्रुटिपरिहार का प्रयास किया गया है। अंत में नामानुक्रमणिका दे दी गई है जिसके सहारे लेखों के विवरण संबंधी पृष्ठसंख्या की जानकारी होती है।

### हिंदी साहित्य कोष-भाग-२ ( नामवाची शब्दावली )

हिंदी साहित्य कोष का यह दूसरा भाग हमारे आलोच्यकाल में ही प्रकाशित हुआ। इस भाग में साहित्य के अध्ययन में प्रयुक्त होनेवाली नाम-वाची शब्दावली को भी सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया है। यह शब्दावली निम्नलिखित वर्गों की है —

१. प्रमुख लेखक,
२. प्रमुख कृतियाँ,
३. इन कृतियों में आनेवाले प्रधान पात्र,
४. मुख्य मुख्य साहित्यिक संस्थाएँ,
५. महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाएँ,
६. पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र और हिंदी साहित्य में प्रयुक्त कथा संदर्भ।

इस कोष में केवल मौलिक रचनाओं और उनके लेखकों को ही समा-विष्ट किया गया है, अनूदित रचनाओं और अनुवादकों को नहीं। इस खंड में वे ही लेखक आए हैं जिनका जन्म १८१५ ईसवी तक हो चुका था तथा वे ही कृतियाँ शामिल की गई हैं जो १८५० ईसवी तक प्रकाशित हो चुकी थीं। संपादकों का विचार है कि अगले संस्करण में यह कालसीमा आगे बढ़ाई जा सकेगी।

इस कोष के संपादकगण डॉ० धीरेंद्र वर्मा ( प्रधान संपादक ), डा० व्रजेश्वर वर्मा, श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी तथा डॉ० रघुवंश हैं। इसका प्रकाशक

‘ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी’ से हुआ है। रायल साइज के ६६४ पृष्ठों के इस कोष का मूल्य २० रुपए है।

इस कोष में लेखकों और रचनाओं के संबंध में जो विवेचन प्रस्तुत किए गए हैं वे पर्याप्त स्तरीय और उपयोगी हैं। कवियों तथा लेखकों की प्रायः सभी महत्वपूर्ण रचनाओं की चर्चा दी गई है। रचनाओं के मुख्य विषय तथा चरित्र का संकेत भी संक्षेप में किया गया है। एकवर्गीय कवियों का तुलनात्मक परिचय भी यथाप्रसंग दिया गया है। साहित्यिक चरित्रों के संदर्भनिर्देशपूर्वक विस्तृत परिचय दिए गए हैं। इस प्रकार यह संदर्भ ग्रंथ हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिये समानरूप से उपयोगी हो गया है यद्यपि यह ठीक है कि विवेचन का स्तर सदैव एक समान नहीं है, जो भिन्न भिन्न लेखकों की रचनाओं के समावेश होने के कारण स्वाभाविक है, फिर भी ग्रंथ का प्रकाशन अभिनंदनीय है।

### भारतीय अब्द कोष ( १९६३ )

इसका प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के तत्वावधान में हुआ है। इसके संपादक श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र तथा श्रीगदाधरप्रसाद अंबष्ठ हैं। भारतीय अब्दकोष का प्रथम संस्करण १९६० ईसवी में प्रकाशित किया गया था। वर्तमान संस्करण उसका संशोधित, परिवर्तित और अद्यतन रूप है। प्रथम भाग में ब्रह्मांड, कालमान और तिथि पत्रक संबंधी जानकारी दी गई है। द्रष्टव्य यह है कि यह जानकारी भारतीय परिपाटी तथा पाश्चात्य विज्ञान दोनों दृष्टियों से दी गई है, यद्यपि परंपरागत बातों का विशेष ध्यान रखा गया है।

द्वितीय भाग में विश्व की प्रमुख प्रजातियों, महादेशों, घमों, भाषाओं आदि के परिचय के साथ विभिन्न देशों के राष्ट्रीय नाम, राष्ट्रीय दिवस, अंतरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय पुरस्कार आदि का परिचय दिया गया है। संसार की भौगोलिक तथा प्राकृतिक विचित्रताओं और उत्सल्य बातों का समावेश संक्षेप में हुआ है। विश्व के विभिन्न देशों की जो जानकारी दी गई है वह सब अति संक्षिप्त होते हुए भी उपयोगी है। प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संघटनों एवं संघियों के साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति की समीक्षा भी की गई है।

तृतीय भाग में भारत की जनसंख्या, भारत के दर्शनाय स्थान, पर्व-स्थोहार, महापुरुष, राजनीतिक और सामाजिक दल, साहित्यिक संस्थाएँ, प्रेस और पत्र पत्रिकाएँ, संविधान, राष्ट्रीय झंडा, गीत और दिवस, भारतीय

शासन तथा प्रतिरक्षा, भारत में सांस्कृतिक विकास और वैज्ञानिक अनुसंधान आदि शीर्षक आए हैं । इसके अतिरिक्त सामान्य रुचि की बातों की भी चर्चा है, जैसे सम्मान और पुरस्कार, खेल प्रतियोगिताएँ, चलचित्र निर्माण उद्योग, साधारण निर्वाचन, जनस्वास्थ्य, समाजकल्याण, कृषि और पशुपालन, भूदान, बैंक, भारतीय बीमा, सिक्का एवं माप तौल की दशमलव पद्धति, उद्योग धंधे, वाणिज्य व्यापार, परिवहन, संचार, वर्ष की प्रमुख घटनाएँ आदि ।

चतुर्थ भाग का संबंध बिहार से है, क्योंकि ग्रंथ का प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से हुआ है । स्थानीय सांस्कृतिक जीवन, कृषि और खनिज पदार्थ, उद्योग धंधे, अनुसंधान संस्थाएँ तथा बिहार सरकार आदि के संबंध में जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है । परिशिष्ट में कुछ अन्य अद्यतन बातें जोड़ दी गई हैं जिससे प्रकाशन का महत्व बढ़ जाता है ।

---



खंड : २

**ग्रोध मंत्रांघ**



# साहित्यावज्ञान

डा० सत्यदेव चौधरी

‘साहित्यविज्ञान’ ग्रंथ अपने आप में एक नूतन प्रयास है जिसे तीन खंडों में प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना ग्रंथकार ने मुख्यतः इसी उद्देश्य से की है कि जिस प्रकार मनस्तत्व पर आधारित मनःशास्त्र जैसे आंतरिक शास्त्र का विज्ञान के स्तर पर अध्ययन कर उसे मनोविज्ञान जैसा नाम दिया गया है उसी प्रकार सहृदयों के मनोवेगों से संबंधित साहित्यशास्त्र जैसे आंतरिक शास्त्र का अध्ययन भी विज्ञान के स्तर पर करना चाहिए। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा भौतिक विज्ञान के कतिपय सिद्धांतों एवं मंतव्यों में साम्यनिर्देश का प्रयास करते हुए ग्रंथकार ने इस ग्रंथ को ‘साहित्यविज्ञान’<sup>१</sup> नाम से अभिहित किया है और इसका अंग्रेजी पर्याय ‘लिट्रोलोजी’ रखने का सुझाव दिया है।

( १ )

साहित्यशास्त्र के केंद्रीभूत विषय ‘काव्य की आत्मा’ की चर्चा विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के संदर्भ में करते हुए लेखक की स्थापना है कि काव्य की आत्मा ‘आकर्षण शक्ति’ है। ‘शक्ति’ शब्द निस्संदेह ‘एनर्जी’ का पर्यायवाची है जो कि भौतिक विज्ञान का एक बहुचर्चित एवं केंद्रीभूत पारिभाषिक शब्द है। भौतिक शास्त्र के बहुविध मंतव्यों के आधार पर ‘शक्ति’ ( एनर्जी ) का पर्याप्त विवेचन करते हुए लेखक ने इस शब्द को उधर प्लेटो से लेकर वाल्टर पेटर तक और इधर भामह से लेकर नगेंद्र एवं सुमित्रानंदन पंत तक बीस मनीषियों के विभिन्न प्रसंगों से उद्धृत किया है, और इस प्रकार यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि ‘आकर्षण सिद्धांत’ का प्रचलन यद्यपि पहले से नहीं था, फिर भी ‘आकर्षण’ को सहज मान्यता अवश्य प्राप्त थी। इन उद्धरणों से उनका प्रयोजन उक्त स्वमंतव्य के— यत्रतत्र बिखरे हुए—बीज की ओर संकेत करना है।

---

लेखक : डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त; प्रकाशक : भारतेंदु भवन, चंडीगढ़-३; मूल्य : बीस रुपए।

शक्ति की 'त्रिगुणात्मकता' के अनुसार लेखक ने दस त्रिक प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—एटम में प्रोटान, इलेक्ट्रान और न्यूट्रान; विद्युत् शक्ति में घनात्मक, ऋणात्मक और उदासीन। इसी प्रकार नर, मादा, नपुंसक; विष्णु, ब्रह्मा, महेश; इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, आदि और इसी त्रिक भाव को लेखक ने साहित्यशास्त्र के इन त्रिकों से संयोजित कर दिया है—ध्वनि, रूप और अर्थ; वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ; तथा तथ्य, अनुमान और अनुभूति।

इसी प्रकार शक्ति की चार वैज्ञानिक क्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण तथा अभिव्यक्ति—के अनुरूप साहित्यरचना की भी निम्नोक्त चार प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं। किसी विषय से आकृष्ट होकर कविकर्म में प्रवृत्ति संयोजन प्रक्रिया है। विषय को मन में भली भाँति संवेदित करना संप्रेषण-प्रक्रिया है। रचना शक्ति के द्रवित हो जाने के कारण लेखनपरता द्रवण-प्रक्रिया है और फलतः अभिव्यक्ति चौथी प्रक्रिया है।

इसी प्रकार उधर शक्ति के यदि तीन प्रमुख स्तर हैं—भौतिक, शारीरिक एवं मानसिक, तो इधर साहित्य की 'आकर्षण शक्ति' से संबंधित मानसिक स्तर भी तीन हैं—ऐंद्रिक, बौद्धिक और भावात्मक। विज्ञान में प्रतिपादित शक्ति यदि उद्दीप्त होने पर सीधी चाल से आगे नहीं बढ़ती, अपितु वक्र गति से चक्कर काटती हुई अग्रसर होती है तो इधर साहित्य में भी 'आकर्षण शक्ति' के आवेश के कारण अभिव्यक्ति में वक्रता, घुमाव या आवृत्ति आ जाती है। इसी प्रकार ग्रंथ के प्रथम खंड में लेखक ने विज्ञान की शक्ति को साहित्य के साथ घटित कर दिया है। प्रयास निस्संदेह स्तुत्य एवं मौलिक है, किंतु साथ ही साथ इधर और उधर आयास-साध्य भी आभासित होने लगता है।

×

×

×

आकर्षण शक्ति को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में लेखक का प्रमुख तर्क यह है कि संसार में जितना भी द्रव्य ( मैटर ) है वह सारा शक्ति का ही व्यक्त रूप है। इधर काव्य अथवा साहित्य के संदर्भ में जिसे हम आत्मा कहते हैं उसे वस्तुतः शक्ति ही कहना चाहिए। अतः साहित्य की आत्मा के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि से 'साहित्य की शक्ति' का प्रयोग करना चाहिए। चाहे तो इसे 'आकर्षण शक्ति' नाम दे सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इसी के ही बल पर साहित्य का अस्तित्व निहित है। इसी से सौंदर्य, शोभा,

रमणीयता आदि की सृष्टि होती है। अर्थात् लेखक महोदय ने आत्मा अथवा शक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया है न कि सिद्धि अथवा साध्य रूप में। हमारे विचार में भी यही समुचित है—‘ज्ञानाधिकरणम् आत्मा’ : आत्मा को अधिकरण—आधार, साधन ही मानना चाहिए। स्वयं लेखक ने भी रस को काव्य की आत्मा न मानने का यही तर्क प्रस्तुत किया है कि रस तो शक्ति का फल ( सिद्धि ) है, तभी अनेक भारतीय आचार्यों ने इसे ‘काव्य’ का फल कहा है।

किंतु इसी प्रसंग में वे अन्यत्र इसी तथ्य को स्वयं अस्वीकार करते चले जा रहे हैं—‘अलंकार को काव्य की आत्मा का पद न देकर उनके साध्य ‘सौंदर्य’ को ही दिया जाना चाहिए।’ उनका यही निष्कर्ष वामन सम्मत ‘रीति’ पर आश्रित गुणों तथा कुंतक सम्मत ‘वक्रोक्ति’ के संबंध में भी है कि गुणों को अथवा वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा न मानकर इनके साध्य या सौंदर्य को ही आत्मा मानना चाहिए। लेखक ने सौंदर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि के स्थान पर आकर्षण शक्ति का प्रयोग करते हुए इसे काव्य की आत्मा माना है, तथा अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि को उसी शक्ति के साधक एवं सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। निस्संदेह यह ठीक है कि अलंकार आदि उक्त चारों साधक ( साधन ) हैं और उनसे उत्पन्न सौंदर्य, शोभा, चारुता आदि इनके साध्य, पर क्या ये स्वयं सहृदय को प्राप्त काव्यानंद के प्रति साधन नहीं बन जाते? अंतिम साध्य तो काव्यानंद ही है। और फिर स्वयं लेखक सम्मत आकर्षण शक्ति भी तो साधन है जो कि प्रत्येक द्रव्य में—लेखक के कथनानुसार काव्य के संदर्भ में कहें तो वस्तुतत्त्व में—अनिवार्यतः विद्यमान रहती है और परिणामतः जिसके द्वारा हमें काव्यानंद की उपलब्धि होती है—जो कि साध्य है। सत्य तो यह है कि सौंदर्य, शोभा आदि का पर्यायवाची शब्द आकर्षण है—बेचारी ‘आकर्षण शक्ति’ तो अलंकार, ध्वनि आदि के समान पहली साधन कोटि में जा पहुँचती है, अर्थात् वह शक्ति जो आकर्षण की उत्पादक है और आकर्षण से काव्यानंद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक महोदय ने आकर्षण के साथ शक्ति शब्द का विशेष साहित्यशास्त्र को ‘वैज्ञानिक’ रूप देने के लिये किया है। पर हाँ, पूर्णतः उनके दृष्टिकोण से ही सही, आकर्षण शक्ति ही काव्य की आत्मा है जिसे भारतीय आचार्यों ने कभी रीति, कभी वक्रोक्ति और कभी ध्वनि नाम दिया था, और ये सभी काव्यानंद के साधन ही हैं—स्वयं आत्मा को भी तो ज्ञान का अधिकरण ( आधार, साधन ) ही माना गया है।

ग्रंथ का दूसरा खंड साहित्य के द्रव्य से संबंधित है। द्रव्य शब्द भौतिक विज्ञान के 'मैटर' का पर्यायवाची है और साहित्यशास्त्र में इस शब्द से लेखक का अभिप्राय है साहित्य का वस्तुतत्त्व, जिसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। विषय ( कंटेंट ) और माध्यम या रूप ( फॉर्म )। ग्रंथ के दूसरे खंड में विषय का प्रतिपादन है और तीसरे खंड में रूप का।

मनोविज्ञान के अनुसार मनोव्यापार के सामान्यतया तीन वर्ग माने गए हैं—ज्ञान, अनुभूति और चेष्टा, और इन्हीं के आधार पर साहित्य विषयक मानसिक तत्त्वों का नाम भी क्रमशः विचार, भाव और कल्पना है। इन्हीं तीन तत्त्वों से संबंधित समग्र प्रतिपादन ( लगभग १०० पृष्ठ ) में मनो-विज्ञान और साहित्यशास्त्र की ही परस्पर अन्वति के आधार पर विवेचन एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। बस केवल दो स्थलों पर भौतिक विज्ञान के साथ अति संक्षेप में सूत्रसंयोजन मात्र किया गया है। इस प्रकार यह स्थिति ग्रंथकार को 'साहित्य और विज्ञान' अपने इस मूल अनुबंध से बहुत दूर ला खड़ा कर देती है।

भावतत्त्व के अंतर्गत लेखक ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध चार रसावयवों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

विभाव के दो पक्ष—आलंबन और उद्दीपन लेखक के अनुसार क्रमशः मनोविज्ञान के 'आब्जेक्ट' और 'साइकोलजिकल सिच्वेशन' हैं। इसी प्रसंग में लेखक की मान्यता है कि केवल व्यक्ति ही नहीं अपितु विशेष विचार, लक्ष्य एवं पदार्थ भी आलंबन बन सकते हैं। आश्रय की ( न कि विषय की ) बाह्य चेष्टाओं को 'अनुभाव' माना गया है। लोक में जिसे कारण कहते हैं उसे काव्यशास्त्र में, यों कहिए काव्य में, 'विभाव' कहा गया है। इसी 'कारण' (रीजन) के सहज परिणाम को लोक में जिसे 'कार्य' (इफैक्ट) कहा जाता है उसे काव्यशास्त्र में 'अनुभाव' नाम दिया गया है। किंतु लेखक ने इस पारिभाषिक शब्द 'कार्य' को कृत्य का पर्याय समझते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि अनुभाव के अंतर्गत बाह्य चेष्टाओं के अतिरिक्त राज्य-त्याग, समुद्रयात्रा आदि रत्नसेन द्वारा जैसे कार्यों—घटनावलियों, कथाप्रसंगों की भी परिगणना करनी चाहिए। इधर अनुभाव शब्द की यह व्युत्पत्ति भी शास्त्राभिप्रेत प्रतीत नहीं होती—'अनु पदच्चाद् यस्य भावो सोऽनु-भावः'। वस्तुतः, 'भावमनु अनुभावः' अथवा 'अनुभावयन्ति इति

अनुभावः' व्युत्पत्ति ही संगत प्रतीत होती है। लेखक प्रस्तुत द्वारा व्युत्पत्ति में 'भाव' शब्द 'अस्तित्व' का द्योतक बन गया है—भाव ( इमोशन ) का नहीं।

संचारी भाव का प्रसंग कहीं अधिक तर्कपुष्ट है। विभिन्न भावात्मक प्रवृत्तियों की ऊर्ध्व एवं निम्न गति और इसी के ही आधार पर एक दूसरे के प्रति उनका उत्तरोत्तर एवं संचारी बनते चले जाना निःसंदेह मनोविज्ञान-संगत है। स्थायिभावों का प्रसंग लेखक ने जितना सुचिंतित रूप से लिखा है उतना ही वह चिंत्य है। लेखक की एक मान्यता यह है कि करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' नहीं अपितु करुणा है। इस संबंध में उनके दो तर्क उल्लेख्य हैं। पहला यह कि 'जिस प्रकार 'विदूषक' की मूर्खतापूर्ण बातें पाठक के मन में हास्य उत्पन्न करती हैं वैसे ही दुःखी पात्र का शोक करुणा या सहानुभूति उत्पन्न करता है; अतः इस दृष्टि से 'मूर्खता' और 'शोकग्रस्तता' दोनों ही दो पृथक् पृथक् स्थायिभावों में आलंबन हैं, पर वे स्वयं स्थायिभाव नहीं हैं।' दूसरा तर्क यह है कि 'काव्यगत पात्र के शोक और भय के प्रति हमारी करुणा या सहानुभूति होती है, उससे हमारे मन में शोक और भय की वास्तविक अनुभूति नहीं होती, अन्यथा हमें काव्यानंद प्राप्त नहीं होता'। किंतु इसी आधार पर तो भयानक का स्थायिभाव भी 'करुणा' अथवा 'सहानुभूति' मानना पड़ेगा जो कि शायद स्वयं लेखक को भी अभीष्ट नहीं होगा। वस्तुतः ऐसे तर्कों के लिये भारतीय प्रज्ञा के पास एक ही उत्तर है—'ममैवैते, शत्रोरेवैते तदस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते न तदस्थस्यैवैते' इति संबंधविशेष स्वीकारपरिहारनियमान्वयवसायात् '.....'।

रसप्रकरण से संबद्ध गुणप्रसंग है। गुण के संबंध में जो धारणा वामन के समय में थी वह आनंदवर्द्धन और मम्मट के समय में नितांत बदल गई। अब इसे द्रुति आदि 'चित्तवृत्ति' का पर्याय मानकर रस का निरूपण धर्म और केवल उपचार रूप से शब्दार्थ का भी धर्म मान लिया गया। लेखक ने, जहाँतक मुझे प्रतीत होता है, वामन से मम्मट पर्यंत सभी धारणाओं को एक ही साथ प्रस्तुत करते हुए मम्मट की धारणा का भी केवल एक ही अंश—जो कि गौण है—उछाड़ा है। अन्यथा वे इस प्रकार के निष्कर्षकथन प्रस्तुत न करते—'काव्य में नहीं, भाषा के माध्यम से रची जानेवाली प्रत्येक रचना में—चाहे वह साहित्यिक हो, शास्त्रीय गुणों की निरूपिता अपेक्षित है।' और यही कारण है कि भारतीय साहित्यिक रचनाओं के इस

गीण—बाह्यरूप—को पाश्चात्य काव्यगुणों के समकक्ष रखते हुए उनका कथन है कि 'स्पष्टता, संक्षिप्तता एवं शुद्धता का जितना ध्यान साहित्यिक रचनाओं में रखा जाता है उतना ही वैज्ञानिक लेखों में भी।' लेखक का यह प्रकरण पुनः संशोधन की अपेक्षा रखता है।

शब्दशक्ति प्रकरण में लेखक ने 'सर्वालचक्रो हरिः' आदि कथनों को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के उदाहरण समझ लिया है, जो कि उनके कथनानुसार विशुद्ध वाच्यार्थ के उदाहरण मानने चाहिए—किंतु वस्तुस्थिति भी ठीक यही है जिसका वे सुझाव दे रहे हैं। उक्त कथन तो शाब्दी व्यंजना के उदाहरण नहीं हैं अपितु प्रत्युदाहरण हैं। काव्यदर्पण ( राम-दहिन मिश्र ) से संभवतः उन्होंने ये उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। किंतु उनका ध्यान शाब्दी व्यंजना के वास्तविक उदाहरण पर नहीं गया—'मुखर मनोहर श्याम रंग ...', जिसमें श्लिष्ट 'वनमाली' शब्द का दूसरा अर्थ 'कृष्ण' बाधित हो जाने पर भी व्यंजित ही रहा है।

ध्वनिभेदों के संबंध में भी लेखक को कुछ ऐसी ही अशास्त्रीय आपत्तियाँ हैं। वे ध्वनिसिद्धांत को शैली पक्ष से संबंधित मानते हैं। किंतु ऐसा मानना आनंदवर्द्धन के प्रति निःसंदेह घोर अग्याय है जो कि प्रतीयमानार्थ ( ध्वनि ) को अंगना के अंगों के समान न मानकर उनसे फूटते हुए लावण्य के समान मानता है। इसी आधार पर ध्वनि के तीन भेदों—वस्तुध्वनि, रसध्वनि और अलंकारध्वनि ( यद्यपि ध्वनि के मुख्य पाँच भेद हैं )—को लेखक महोदय विषयवस्तु के भेद स्वीकार करते हैं और उनका कहना है कि संसार में जितने भी विषय हैं वे सभी ध्वनि के भेद हो सकते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि नामक ध्वनिभेद के भी वास्तविक अभिप्राय को लेखक ने शायद समझा नहीं है। जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होता हुआ भी लक्षित नहीं होता वहाँ यह ध्वनिभेद माना जाता है, किंतु लेखक ने इसका आशय यह समझा है कि इसके उदाहरणों में विषय ( अभिधेयार्थ ) का निषेध रहता है। इस प्रकार लेखक ने शब्दशक्ति और ध्वनि के अनेक भेदों की अस्वीकृति में जितनी सूक्ष्मता और तर्कशक्ति का परिचय दिया है उससे उनका शास्त्रबोध उतना ही उलझा हुआ जान पड़ता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस ग्रंथ में प्रस्तुत पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मंतव्यों का मूल्यांकन करने में इस लेख का लेखक अपने को असमर्थ समझता है। अतः इस समीक्षा में केवल भारतीय काव्य सिद्धांतों पर ही विचार प्रस्तुत किए गए हैं। शस्तु !

लेखक ने इस ग्रंथ के प्रणयन द्वारा अपने सत्प्रयास एवं विचारविमर्श के बल पर एक नूतन मार्ग खोल दिया है। साहित्य का अध्ययन विज्ञान के स्तर, पृष्ठाधार अथवा परिप्रेक्ष्य में करने की दिशा में लेखक का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। हमें विश्वास है कि परवर्ती अनुसंधाता भी इस मार्ग का अनुसरण करेंगे, किंतु निभ्रांत धारणाएँ प्रस्तुत करने के लिये उन्हें शास्त्रगंभीर्य और परिपक्व एवं यथावत् विषयज्ञान की अपेक्षा सदा बनी रहेगी। केवल तर्क के बल पर किसी मंतव्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं किया और कराया जा सकता है।



# रससिद्धांत की दार्शनिक और नैतिक व्याख्या

डॉ० रमेश कुंतल मेघ

लेखक ने रससिद्धांत की दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं नैतिक परिप्रेक्ष्य का गंभीर अन्वेषण किया है। क्लासिकल अध्ययन की परंपरा में यह ग्रंथ धारणाओं एवं दार्शनिक प्रत्ययों का तत्सामयिक तथा तत्संदर्भात्मक भाष्य प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से इसके द्वारा एक अपूर्णता पूरित हो जाती है। हमें रसदर्शन में प्रयुक्त असंख्य पारिभाषित शब्दों के औचित्यपरक अर्थ प्राप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से भट्टनायक एवं पंडितराज जगन्नाथ संबंधी अंगों का विवेचन सर्वाधिक महत्त्ववाला है।

इन पारिभाषिक शब्दों की एक जटिल स्थिति भी है कि ये दर्शनों में अंतःसंतरण भी करते हैं। भट्टनायक के विवेचन में 'ब्रह्मास्वाद सचिचेन' जुड़ गया है तो पंडितराज के विश्लेषण में 'प्रतिपादन'। माया, भोग, अभिधा, भावना, अनुमिति, भाव, करण आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं जो विभिन्न दर्शनों ने अपने अपने व्यवस्था चक्रों के अनुरूप ग्रहण किए हैं। 'रस' और 'भोग' शब्द के कारण डा० बाली भरत को सांख्यदर्शन से (संभवतः) प्रभावित मानते हैं किंतु शंकु को इसी तर्क पर नैयायिक नहीं मानते। जहाँ तक अभिनवगुप्त, पंडितराज जगन्नाथ और रूप गोस्वामी का सवाल है; हमारे सामने स्पष्ट मत प्रस्तुत किए गए हैं। लेखक को भट्ट लोल्लट, शंकु और भट्टनायक की भी दार्शनिक प्रतिबद्धता की अधिक छानबीन करनी चाहिए ताकि हमें प्रकाश मिल सके।

लेखक ने भट्टनायक को रसचिंतन के क्षेत्र में एक नया मोड़ देनेवाला विचारक माना है। यह सर्वथा उचित है। नैतिक और मनोवैज्ञानिक आयामों की जितनी समृद्धता और गहराई भट्टनायक में मिलती है, उतनी आज तक भी बहुधा दुर्लभ है। लेखक ने 'साधारणीकरण' की धारणा पर कई कोणों से गंभीर और संतुलित विवेचन करके नैतिक उलझनों को पकड़ा

है। यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। रस के भावित एवं मुक्त रूप की काफी चर्चा हुई है किंतु पंडितराज सम्मत चित्तवृत्तिपरक एवं चिदात्मक रसरूपों की समानांतरता शेष रह गई है। यूँ भी पंडितराज और पूर्ववर्ती विश्वनाथ पर कुछ कम चिंतन हुआ है जिससे मुसलमानकालीन भारताय मनीषा के अद्वैतवादी उन्नयन की भाँकी अधूरी रह गई है। मधुर रस के अंतर्गत अचित्य भेदाभेदवाद तथा लीला तत्त्व का विस्तृत विवेचन करते हुए लेखक ने एक ओर तो यह कहा है कि रूप गोस्वामी ने ( रसनिष्पत्ति के संबंध में ) भरत के मत को ही स्वीकार किया है, तो दूसरी ओर यह भी कहा है कि उनकी दृष्टि न तो काव्याश्रित ही है और न लोकाश्रित हा। उनकी सांप्रदायिक दृष्टि से किए गए रसविमर्श में कृष्ण एवं भक्त दोनों ही रस के आश्रय हैं। इस नैतिक एवं दार्शनिक समस्या के परिणाम को लीला एवं भक्ति के अगले लौकिक आयामों में भी उभारा जाना अपेक्षित है।

ओचित्य सिद्धांत के विवेचन में पाश्चात्य धारा का अनुपूरक अंश न भी होता तो ग्रंथ की समन्विति में कोई हानि न होती।

वस्तुतः भरत, भट्ट लोल्लट और शंकुक की रस की समस्या ज्ञान पर केंद्रित थी। अतः नट और पात्र और सामाजिक के बीच में रस की विद्यमानता को लेकर तर्क और विश्लेषण हुए। किंतु भट्टनायक से यह समस्या अनुभव पर केंद्रित हो गई। अतः पात्र तो पृष्ठभूमि में चला गया और सामाजिक या 'सहृदय' उभर आया। नैतिक तनाव का अनुभव भी भट्टनायक ने किया है। यथार्थ के मोह एवं संकट को, और आदर्श के आनंद और चमत्कार को समन्वित करने में उन्हें जबर्दस्त अंतःसंघर्ष करना पड़ा है। लेखक ने इस नैतिक बिंदु को अंशरूपेण 'निबिडनिजमोह संकटकारिणा' के अंतर्गत उन्मीलित किया है। यह बिंदु एक दूसरे संदर्भ में अभिनवगुप्त प्रणीत 'रसविघ्नों' में उभरा है। लेखक ने इनका भी निरूपण किया है।

इस ग्रंथ में एक गंभीर बौद्धिक चेष्टा सर्वत्र विद्यमान है। दार्शनिक शब्दावली को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की दिशा में इस ग्रंथ की महत्वपूर्ण भूमिका है। हाँ, दार्शनिक विवेचन के अनुपात में नैतिक विवेचन तिल की तरह हुआ है। संभवतः रस सिद्धांत की विविधा ही ऐसी है।

# आधुनिक हिंदी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० भगीरथ मिश्र

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध के रूप में 'आधुनिक हिंदी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' का अनुशीलन डॉ० मनोहर काले द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह अनुशीलन विवेचनात्मक है। सात अध्यायों में विभाजित इस ग्रंथ के अंतर्गत रस सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, अलंकार सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, रीति सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, ध्वनि सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, वक्रोक्ति सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, औचित्य सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन और ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रायः प्रत्येक अध्याय में, संबद्ध सिद्धांत की पूर्वपीठिका, सिद्धांत का स्वरूप, हिंदी और मराठी में संबद्ध सिद्धांत की सामग्री और तुलनात्मक निष्कर्ष—इस क्रम से विषय का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन में लेखक ने बड़े परिश्रम और ईमानदारी से हिंदी और मराठी में प्राप्त काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का परिचय और तुलनात्मक विवेचन दिया है।

यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि हिंदी और मराठी में आधुनिक युग के पहले वक्रोक्ति, औचित्य, रीति सिद्धांतों को विशेष स्थान नहीं दिया गया था। प्रायः पूर्ववर्ती आचार्यों ने रस, अलंकार और ध्वनि को ही विशेष महत्व प्रदान किया है। आधुनिक युग में भी विशेष चर्चा रस और अलंकार की हुई है। ध्वनि पर भी इधर कुछ अध्ययन हुआ है, जो महत्व का है; परंतु लेखक ने उसका उपयोग नहीं किया, क्योंकि वह इस ग्रंथ के प्रकाशन के उपरांत प्रकाशित हुआ है। वक्रोक्ति सिद्धांत पर विशेष रूप से चर्चा अभिव्यंजनावाद को लेकर हुई है। वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद के संबंध में काफी मतभेद रहा है और मेरी दृष्टि में दोनों में बड़ा अंतर है। अभिव्यंजनावाद एक प्रकार का काव्य या कला का दर्शन है। उसके अंतर्गत काव्य या कला की उत्पत्ति और स्वरूप का अधिक विवेचन है काव्य की कलागत बारीकियों

का विश्लेषण नहीं; जब कि वक्रोक्तिसिद्धांत में काव्य के सौष्ठव के विविध रूपों को वक्रोक्ति के विभिन्न रूपों में देखने और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। अभिव्यंजनावाद में काव्यसृजन की पूर्ववर्ती स्थितियों का विश्लेषण है। वक्रोक्ति में रची हुई कृति के सौंदर्य के विविध पक्षों का विश्लेषण है, इसलिये दोनों एक नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने वक्रोक्तिविवेचन के प्रसंग में बड़ी सावधानी और बारीकी से इस दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत विषय की व्याख्या करनेवाले विद्वानों के मतों का विवेचन किया है।

श्रीचित्यसिद्धांत पर भी पूर्ववर्ती युगों में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं। आधुनिक युग में थोड़ा बहुत अध्ययन श्रीचित्य से संबंधित प्राप्त होता है। लेखक ने इस अध्ययन को बड़े व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करते हुए अपने निष्कर्ष रखे हैं। ध्वनिसिद्धांत पर हिंदी और मराठी दोनों में ही काफी चर्चा हुई है और उसके परिणामस्वरूप ध्वनि का महत्व भलीभाँति स्पष्ट हो गया है। संस्कृत में ध्वनि का विस्तार से विवेचन हुआ है, परंतु हिंदी में डॉ० भोलाशंकर व्यास और डॉ० कृष्णलाल शर्मा ने अपने ग्रंथों में बड़ी सूक्ष्मता के साथ ध्वनि सिद्धांत और उसके भेद प्रभेदों पर विचार किया है। इस ग्रंथ में डॉ० काले ने डॉ० व्यास के ग्रंथ का उपयोग किया है, परंतु डॉ० शर्मा का ग्रंथ भी महत्वपूर्ण है, जिसमें आधुनिक हिंदी काव्य के संदर्भ में ध्वनि का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के लिये अच्छा यह होता कि जो संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद या उसकी छाया मात्र प्रस्तुत साहित्य है, उसका अलग उल्लेख करके, गंभीर सैद्धांतिक विवेचन करनेवाले ग्रंथों पर अलग विचार किया जाता। मुझे ऐसा लगता है कि हिंदी के इधर के अध्ययनों में ध्वनि सिद्धांत का कुछ विस्तार हुआ है, जिसका सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत ग्रंथ के तत्संबंधी प्रसंग में नहीं हो पाया।

रीतिसिद्धांत के संदर्भ में भी यद्यपि लेखक ने हिंदी और मराठी के अनेक महत्वपूर्ण व्याख्याताओं के विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया है, फिर भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ रह गए हैं, जिनमें रीति को लेकर नए दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अलंकारों के प्रसंग में भी यही बात लागू होती है। डॉ० देवेशचंद्र मिश्र के अध्ययन 'आधुनिक हिंदी कविता में अलंकारयोजना' के अंतर्गत अलंकारों के वर्गीकरण का बड़ा प्रामाणिक, उपयुक्त और मौलिक प्रयास किया गया है, जिसका कोई उल्लेख

इस ग्रंथ में नहीं हुआ है। इसी प्रकार भानु कवि, ब्रजेश आदि के ग्रंथों का भी उपयोग इस ग्रंथ में नहीं हो पाया।

प्रस्तुत ग्रंथ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अध्ययन रससिद्धांत से संबंधित है। इस अध्ययन को लगभग तीन सौ पृष्ठों में बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। रससिद्धांत का यह तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही रोचक और परिपूर्ण है। रस, भाव, स्थायी भाव, सेंटिमेंट और स्थायीभाव तथा संचारी भाव के स्वरूप का स्पष्टीकरण इस ग्रंथ में भलीभाँति किया गया है। इसके अतिरिक्त रस संख्या, रसास्वाद, कल्याण रस, भक्ति रस के प्रसंगों का भी डॉ० काले ने बड़ा उपयोगी और विवेचनात्मक अध्ययन किया है। यह मानना पड़ेगा कि मराठी में रससिद्धांत पर बड़ी बारीकी और तटस्थता से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। बाटवे, बेडेकर, जोग वालिवे और मराठी विद्वानों ने मत भरत के रससंबंधी विचारों को अधिक स्वाभाविकता के साथ स्पष्ट किया है और इनका अपना दृष्टिकोण भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। हिंदी में रामचंद्र शुक्ल, नगेंद्र आदि ने रस पर महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किए हैं, जिनमें मौलिकता, प्रामाणिकता और नवीन दृष्टिकोण प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने इन सबका बड़ा सुलभा हुआ अध्ययन किया है। इस प्रसंग के अंतर्गत लेखक द्वारा प्रयुक्त 'रसनिर्माण' शब्द खटकता है।

मेरे विचार से इस ग्रंथ के सप्तम अध्याय में किया गया ऐतिहासिक सर्वेक्षण सर्वप्रथम आना चाहिए था। यदि उसे अंत में देना था तो परिशिष्ट के रूप में देना अधिक उचित होता। परंतु इस अध्ययन की रूपरेखा देखते हुए यह सर्वेक्षण ग्रंथ के प्रारंभ में रखना अधिक संगत लगता है। यह सर्वेक्षण यदि अधिक पूर्ण बना दिया जाय तो इसकी उपयोगिता बढ़ जायगी। समग्र रूप में यह ग्रंथ बड़ा ही उपादेय और विद्वत्तापूर्ण है। इस प्रकार के गंभीर तुलनात्मक अध्ययनों से न केवल हमारी ज्ञानवृद्धि होती है, वरन् सही दृष्टिकोण बनाने में भी हमें सहायता मिलती है।

---

# आदिकाल का हिंदी गद्य साहित्य'

डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

हिंदी के प्राचीन गद्य के अनुशीलन और संकलन संपादक का कार्य इधर कुछ वर्षों से किया जाने लगा है। ब्रजभाषा, खड़ी बोली, दक्खिनी, राजस्थानी, अवधी आदि हिंदी विभाषाओं के पुराकालीन गद्यवाङ्मय पर अनेक शोधप्रबंध और संकलनग्रंथ १९५० ई० के बाद प्रकाशित हुए हैं। डॉ० हरीश द्वारा संकलित संपादित 'आदिकाल का हिंदी गद्य साहित्य' इस दिशा में किया गया एक प्रगल्भ प्रयास है। आदिकालीन गद्य के अनुसंधितसुग्रां के प्रारंभिक दिशानिर्देशन में यह ग्रंथ निश्चय ही सहायक है। शोधप्रवृत्ति की सूक्ष्मता, नवतथ्योद्घाटनवृत्ति और विवेचन विश्लेषण की गहराई का अभाव होने पर भी उक्त ग्रंथ प्राचीन गद्य के संकलन की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये ही नहीं, सांस्कृतिक अनुशीलन के निमित्त भी पुस्तक में संकलित गद्यांश उपयोगी हो सकते हैं।

पुस्तक के पूर्वार्ध में सं० १००० से सं० १५०० तक की सोलह गद्यात्मक और पद्यगद्यमय रचनाओं के अंश उद्धृत किए गए हैं। उत्तरार्ध में उद्धृत गद्य रचनाओं का परिचय देते हुए उनका प्रवृत्तिमूलक मूल्यांकन करने का यत्न किया गया है, साथ ही हिंदी की प्राचीन और मध्यकालीन गद्यपरंपरा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनमें संदेह नहीं कि पुस्तक में गद्य की कुछ प्राचीन शैलियों का दर्शन होता है, भाषा के कुछ पुराने नमूने हमारे सामने आते हैं। परंतु ये गद्यांश अज्ञात या सद्यःशोधित और अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। न जाने क्यों अनेक महत्वपूर्ण रचनाओं से अवतरण नहीं दिए गए हैं। डॉ० हरीश का यह दावा सत्य से दूर है कि ग्रंथ में 'गद्य की नई उपलब्धियों के अंश दिए गए हैं।' उनका यह कथन भी 'चित्य' है कि ये अवतरण 'उत्कृष्ट उद्धरण' हैं। मुखपृष्ठ पर पुस्तक को 'आदिकालीन हिंदी गद्य साहित्य पर मौलिक शोध' कहा गया है। परंतु मौलिकता न संकलन कार्य में है, न विवेचन में। संकलनकर्ता ने स्वयं स्वीकार किया है—'अनेक रचनाओं से गद्यांश लिए गए हैं। उन सबके संपादकों एवं लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।' पुस्तक में प्राचीनतम उद्धरण 'राउलवेल' शिलालेख का है। वह

तो भायाणीजी और माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'राउलवेल' से लिया हुआ है ही, शेष रचनाएँ ( 'आराधना', 'बालशिक्षा', 'प्रतिचार', 'नवकार-व्याख्यान', 'धनपाल कथा', 'सम्यक्त्व', 'जिनदत्त कथा', 'बाहुबली कथा', 'बेभाई', 'शोकाधिकार', 'कान्हड़ दे प्रबंध', 'मचलदास खीची री वचनिका', 'वर्ण रत्नाकर', पृथ्वीचंद्र चरित्र' और 'नमस्कार बालावबोध' ) भी श्री दलाल, भायाणी, मुनिजिन विजय, भगवानदास गांधी, डा० टैसीटोरी, सुनीति बाबू, अगरचंद नाहटा आदि विद्वानों द्वारा शोधित सामग्री और संपादित पुस्तकों से अवतरित की गई हैं ।

डॉ० हरीश अवतरित रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में 'एकदम आश्वस्त' हैं । परंतु इन रचनाओं में से तीन ( 'धनपाल कथा', 'शोकाधिकार' तथा 'कान्हड़ दे प्रबंध' ) की प्रामाणिकता अभी तक अनिश्चित है । श्रीहरीश को भाषा और अन्य सूत्रों के आधार पर इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करना चाहिए था । और भी कई रचनाओं ( राउलवेल, नवकारव्याख्यान तथा नमस्कार बालावबोध ) के समय के संबंध में चिंतन अपेक्षित था । पूर्वार्ध में सूची के अंतर्गत और आगे यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि उद्धृत सभी रचनाएँ गद्यात्मक नहीं हैं, इनमें कुछ ( 'राउलवेल', 'कान्हड़ दे प्रबंध' तथा 'मचलदास खीची री वचनिका' ) पद्य गद्यमय हैं, गद्य इनमें गौण है । शेष में से भी अनेक रचनाओं ( 'शोकाधिकार', 'पृथ्वीचंद्र चरित्र' और 'वर्ण रत्नाकर' ) में सानुप्रास पद्यात्मक गद्य है, शुद्ध गद्य इनमें, विशेषकर प्रथम दो में अत्यंत विरल है । डॉ० हरीश द्वारा उद्धृत कुछ रचनाएँ ( 'सम्यक्त्व', 'जिनदत्त कथा', 'बाहुबली कथा' तथा 'बे भाई' ) स्वतंत्र रचनाएँ न होकर, ग्रंथों के अंश हैं । 'सम्यक्त्व' तथा 'जिनदत्त कथा' तरुणप्रभ सूरि कृत 'षडावश्यक बालावबोध' के अंश हैं और 'बाहुबली कथा' तथा 'बे भाई' सोमसुंदर सूरि के किसी बालावबोधग्रंथ से उद्धृत हैं । ये चारों इस रूप में प्रस्तुत की गई हैं कि स्वतंत्र रचनाएँ होने का भ्रम उत्पन्न करती है ।

श्रीहरीश ने हिंदी साहित्य के आदिकाल में सं० १००० से सं० १५०० तक की रचनाओं को स्थान देकर आदिकाल के संबंध में अपनी यह धारणा परोक्षतः व्यक्त की है कि आदिकाल की समयसीमा सं० १००० से सं०

१. 'धनपाल कथा' को श्रीहरीश ने १२वीं शती की रचना घोषित किया है परंतु भाषा को लक्ष्य करते हुए यह रचना १४वीं शती से पूर्व की प्रतीत नहीं होती ।

१५०० पर्यंत मानी जा सकती है। इस समय ( सं० १०००-१५०० ) की उपलब्ध रचनाओं को लक्ष्य कर हिंदी साहित्य के आदिकाल का प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से ही माना जा सकता है, उससे पूर्व नहीं। 'राउल बेल' शिलालेख, 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' आदि रचनाएँ वस्तुतः हिंदी की रचनाएँ न होकर अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। ये ही नहीं, 'आराधना', 'बाल शिक्षा', 'अतिचार', 'नवकार व्याख्यान टीका' आदि और भी रचनाएँ ( ये रचनाएँ तेरहवीं चौदहवीं शती की हैं ) जिन्हें डा० हरीश ने अपने इस ग्रंथ में अवतारित किया है, हिंदी की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट हैं। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ ( उद्धृत रूप, व्यंजनद्वित्व, अनुस्वारांतता आदि ) इनमें पर्याप्त हैं। पंद्रहवीं शती की रचनाओं को आदिकाल में स्थान देने का डा० हरीश का विचार भी चिंत्य है। आचार्य शुक्ल और हिंदी के अन्य सभी अधिकारी साहित्येतिहास लेखक आदिकाल का समय चौदहवीं शती पर्यंत मानते हैं।

उत्तरार्ध ( मूल्यांकन ? ) के अंतर्गत प्रारंभ में विषयप्रवेश करते हुए हिंदी की प्राचीन और मध्यकालीन गद्यपरंपरा से संबंध कुछ 'पूर्व मान्यताओं' की संक्षेप में चर्चा की गई है। तदनंतर 'हिंदी साहित्य में गद्य की परंपरा' की प्रारंभिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए 'कुवलयमाला कथा', 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'उक्तिव्यक्ति विवृति' आदि अपभ्रंश रचनाओं और कुछ जैन रचनाओं का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् 'उपलब्धियाँ तथा मूल्यांकन' शीर्षक प्रकरण में क्रमशः 'आराधना' आदि राजस्थानी की आदिकालीन जैनधर्म विषयक रचनाओं और जैन लेखकों की व्याकरण विषयक, ऐतिहासिक तथा काव्यात्मक वर्णनात्मक पुस्तकों का परिचय दिया गया है। अंत में जैनेतर लौकिक गद्य और 'अन्य विविध विषयक गद्य' का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। गद्य भाषा पर भी किंचित् प्रकाश अंत में डाला गया है। उत्तरार्ध के इस विवरण विवेचन को डा० हरीश ने 'विशुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन' कहा है। निस्संदेह हरीशजी ने प्राचीन गद्य वाङ्मय का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करने का यत्न किया है। परंतु इस अध्ययन में, जैसा कि हम कह चुके हैं, अपेक्षित सूक्ष्मता और विशदता का अभाव है। फिर यह अनुशीलन या मूल्यांकन मौलिक न होकर, प्रायः पराश्रित है।

गद्यपरंपरा का जो इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है वह भी पूर्ण और भ्रांतिमुक्त नहीं कहा जा सकता। खड़ी बोली, व्रजभाषा, पूर्वी हिंदी और दक्खिनी की अनेक पुरानी गद्यमय और पद्यगद्य रचनाएँ ( 'नेण्डेस गोसठ', 'भोगलु पुराण', 'कुतुब शतम्', 'गोरखसार', 'गोरक्षोपनिषद्', 'कीर्तिलता',

‘कीर्तिपताका’, ‘कालियदमन’, ‘मेराजुल आशिकीन’, ‘हिदायतनामा’ आदि ) अनुलिखित रह गई हैं, श्रीहरीश ने इनका नामोल्लेख भी नहीं किया है । इनमें कुछ रचनाएँ निश्चय ही सं० १५०० से पूर्व की हैं । प्राचीन राजस्थानी गद्य का भी समस्त रचनाओं की चर्चा श्रीहरीश ने नहीं की है जब कि उनका ध्यान प्रायः राजस्थानी गद्य पर ही केंद्रित रहा है । राजस्थानी की ये अनुलिखित रचनाएँ हैं—सिद्धसेन दिवाकर कृत ‘कल्याण मंदिर स्तोत्र’ अवचूरि ( १४ वीं शती ), ‘दशवैकालिक सूत्र’ अवचूरि ( १४ वीं शती ), ‘कोकशास्त्र बालावबोध’ ( १४ वीं शती ), ‘आदिनाथ चरित्र’ ( १५ वीं शती ), मेरुसुंदर कृत ‘वृत्तरत्नाकर बालावबोध’, ‘संबोध सत्तरी बालावबोध’, आवक प्रतिक्रमण बालावबोध’ ( १५ वीं शती ) । पार्श्वचंद्र सूरि की रचनाओं का भी उल्लेख संकलनकर्ता ने नहीं किया है जब कि इनका प्राचीन राजस्थानी गद्य के निर्माताओं में विशिष्ट स्थान है । जिन समुद्रसूरि वचनिका, शांति सागर सूरि वचनिका आदि और भी कई रचनाएँ अनुलिखित रह गई हैं । यह ठीक है कि ये रचनाएँ आदिकाल अर्थात् १४ वीं शती के बाद की हैं परंतु जब १५ वीं शताब्दी की रचनाओं की चर्चा की गई है तो इन महत्वपूर्ण रचनाओं का भी उल्लेख आवश्यक है । पुस्तक की प्रतिपादन पद्धति का एक दोष यह है कि उसमें कुछ बातें बार बार कही गई हैं, पुनरुक्तिपूर्ण वक्तव्यों से पुस्तक भरी हुई है । अनेक कथन असंतुलित और अविचारित हैं । यही नहीं, अनेक स्थलों पर गद्यांशों का अनुवाद भी ठीक नहीं है । विषय प्रतिपादन में—गद्य के विवेचन और मूल्यांकन में—प्रायः डॉ० शिवस्वरूप शर्मा ‘अचल’ कृत ‘राजस्थानी गद्य साहित्य : उद्भव और विकास’, श्री अग्ररचंद नाहटा के लेखों तथा निर्देशों, श्रीदलाल के लेखों, मुनिजिन विजय संपादित ‘प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ’ और कुछ अन्य पुस्तकों का उपयोग किया गया है परंतु न समस्त रचनाओं का परिचय दिया गया है, न विषय का सम्यक् प्रतिपादन हो सका है ।

विवेच्य ग्रंथ की भाषा किंचित् परिष्कार का अपेक्षा रखती है । ‘सौजन्यता’ ( पृ० ३ ), ‘लावण्यता’ ( पृ० १६० ) जैसी वर्तनी की अशुद्धियाँ खटकती हैं । पुस्तक में मुद्रण की भी अशुद्धियाँ कम नहीं हैं । परंतु इन त्रुटियों और अशुद्धियों के होने पर भी डॉ० हरीश का यह ग्रंथ, जैसा कि हम प्रारंभ में कह चुके हैं, प्राचीन गद्य के अध्येताओं के लिये पर्याप्त उपयोगी है । साहित्यिक, सांस्कृतिक और भाषावैज्ञानिक तीनों प्रकार के अनुशीलन में श्रीहरीश के इस प्रयास का उपयोग किया जा सकता है ।

## पृथ्वीराज रासो : लघु संस्करण'

स्व० डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी

हिंदी साहित्य प्रेमियों के लिये पृथ्वीराज रासो एक अति सुपरिचित महाकाव्य है जो प्रेमाख्यात्मक प्रसिद्ध सूफी संतों की कृतियों, निर्गुण एवं सगुण भक्तों की रचनाओं के सदृश हिंदी क्षेत्रों में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त करता हुआ शताब्दियों से चला आ रहा है। यदि भक्तों की रचनाएँ अवसाद और विषाद के थपेड़े खाए हुए मानव की कलाति के क्षणों में उद्बोधन तथा आशा की भावना भरती हैं तो पृथ्वीराज रासो सदृश वीरगाथात्मक ग्रंथ शाश्वत रूप से अपनी मरणधर्मिता से परिचित युद्धप्रिय जनों के अंतराल में हुंकार के साथ दर्प और उत्साह का शंखनाद करते हैं।

पृथ्वीराज रासो सामंतयुगीन कृति है जिसमें वरदान स्वरूप देशनैरी सुलतान गोरी के मोर्चे पर रणांगण में अपनी आहुति देनेवाले दिल्ली, अजमेर के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज चौहान तृतीय की गौरव-गाथा तथ्य एवं कल्पना ( फैक्ट और फिक्शन ) के सहारे स्वाभाविक अलंकार योजना, भावप्राणवंत छंद एवं कुशल भावाभिव्यक्ति द्वारा निरूपित हुई है। दिल्ली के राजराजेश्वर पृथ्वीराज की यशोमंडित यह गाथा भारत के एक पराक्रमी सम्राट् की यशःकीर्ति होने के कारण प्राचीन शासकों की गाथा है। उनके दरबार के छत्तीसों वंशवाले हुतात्मा राजपूत सामंत थे, अस्तु आज वह भारत के प्रत्येक राजपूत परिवार की गाथा है तथा देशशत्रु को कम से कम एक बार युद्धक्षेत्र से भगा देने और दूसरी बार उसकी चालबाजियों तथा दुर्नीतिपूर्ण रणकोशल की वेदी पर आहुति देनेवाले की यह प्रशस्ति आज भारत के प्रत्येक जन द्वारा आराधित है, जो स्वतंत्रता के मूल्यांकन के साथ साथ उसकी सुरक्षा में अपने प्राणों के हवन हेतु किसी क्षण भी प्रस्तुत हो सकता है।

'पृथ्वीराज का' गुणानुवाद सुनकर सबके मन आनंदित हो जाते हैं, कायर संग्राम करते हैं, कपट दूर हो जाता है, गूँगे व्यक्ति हर्षित होकर

अपना सिर चालित करके हैं, रसाल सरसित नवरस अजानी को जानी बना देते हैं तथा साधारण जन भी महान साहस प्रदर्शित करते हैं—

प्रथीराज गुन सुनत । होय आनंद सकल मन ।

प्रथीराज गुन सुनत । करत संप्राम स्यार रन ॥

प्रथीराज गुन सुनत । क्रयन कपटय तैं खुल्लय ।

प्रथीराज गुन सुनत । हरषि गुंगौ सिर डुल्लय ॥

रासो रसाल नव रस सरस । आजानौ जानप लहे ।

निसटौ गरिष्ट साहस करै । सुनहु सत्ति सरसति कहै ॥

—प्रस्ताव ६८ छंद २४० ( नागरीप्रचारिणी संस्करण )

और देवी सरस्वती जी इतना मात्र ही कहकर नहीं रुकीं, वरन् उपसंहार में उनके आशीर्वाचन के सहारे रासोकार ने जनमनरंजन हेतु वह सभी कुछ अगले चार छप्पय छंदों में कह डाला जो रासो को लोकप्रिय बनाने में समर्थ था ।

भारत की इस लोकगाथा को योरोप ले जाने का श्रेय कर्नल टॉड को है जिन्होंने अपने विश्रुत ग्रंथ 'राजस्थान' की वार्ताओं एवं इतिहास का मूलाधार पृथ्वीराज रासो को बना दिया था । रूसी विद्वान् राबर्ट लेंज ने इसके एक बड़े भाग का अनुवाद ( संभवतः ) गद्य में किया था जो पीटर्सबर्ग पहुँचने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाने के कारण साहित्य जगत् के सामने न आ सका । टॉड ने 'संयोगिता नेम' ( एशियाटिक जर्नल, जिल्द, ३५ ) तो अंग्रेजी में अनूदित करके प्रकाशित किया ही, डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार लगभग तीस हजार छंदों का अंग्रेजी भाषांतर भी किया था । रायल एशियाटिक सोसाइटी भाव बंगाल की प्रेरणा से सर्वश्री बीम्स, ग्राउज एवं डा० ह्योर्नले प्रभृति विद्वानों ने १९ वीं शती के अंत में सोसाइटी में सुलभ रासो की प्रतियों के आधार पर उसका वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रारंभ किया । डा० ह्योर्नले ने इसके रेवातट समय २७ का विवरणात्मक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया । परंतु उसी समय के लगभग कश्मीर में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज में प्रो० बूलर को जयानकप्रणीत पृथ्वीराज विजय महाकाव्यम् की अधूरी प्रति प्राप्त हुई जिसका अध्ययन करने के उपरांत उन्होंने पृथ्वीराज रासो को जाली ठहराते हुए सोसाइटी द्वारा उसका प्रकाशन बंद करवा दिया ।

रासो को ऐतिहासिक काव्य माननेवाले विद्वानों में सर्वश्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, कुँवर कन्हैया जू, राधाकृष्ण दास, डॉ० श्यामसुंदर दास,

मिश्रबंधु आदि अपना पक्ष लेकर आगे बढ़े तथा नागरीप्रचारिणी सभा काशी ने सन् १९००-१९०८ ई० में उसका बृहत् संस्करण संपादित करके प्रकाशित किया। कविराजा श्यामल दास के त्रिपक्षी मत की महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी ने अपनी शोधों द्वारा पुष्ट किया। महामहोपाध्याय पं० भगोरथप्रसाद मिश्र को पंजाब यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर डा० ब्रूलनर की प्रेरणा से 'गोटो बाला रासो' प्राप्त था जिसके आधार पर वे ओझाजी का मत खंडन करते रहे।

इटली के विद्वान् डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने सर्वप्रथम रासो की विविध वाचनाओं की संभावना की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। सन् १९४० ई० तक इसकी कई वाचनाओं की चर्चा प्रारंभ हो गई थी। मुनिराज जिनविजयजी ने अपने पुरातन प्रबंध संग्रह के किंचित् प्रस्ताविक में उक्त संग्रह में आए हुए पृथ्वीराजप्रबंध तथा जयचंद्रप्रबंध में प्रयुक्त दो कवि चंद के एवं दो उसके पुत्र जतह के अर्थात् चार अपभ्रंश छंदों के आधार पर ( जिनमें से तीन बृहत् संस्करण में किंचित् रूपांतर के साथ उपलब्ध हैं ) रासो की मूल रचना अपभ्रंश में किए जाने का अनुमान किया।

इन विविध शोधों के कारण विद्वानों में एक बार पुनः जल्पना कल्पना प्रारंभ हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' शीर्षक व्याख्यानमाला में तथा अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में रासो के कथासूत्र और काव्यरुद्धियों आदि की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए एक एक नवीन दृष्टिकोण द्वारा उक्त महाकाव्य के अध्ययन की दिशा में न केवल संकेत किया वरन् संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (सन् १९५२ ई०) का संपादन करके यह आशा व्यक्त की कि मूल रासो लगभग इसी के समान रहा होगा। इसी सरणि में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सन् १९६३ ई० में 'पृथ्वीराजरासो ( महाकाव्य )' प्रकाशित किया।

सन् १९५३ में मैंने यह सुझाव 'रेवातट समय' की भूमिका के माध्यम से रखा था कि यह परिस्थिति कहीं अधिक अभिनंदनीय होगी यदि व्यक्तिगत नूतन प्रयासों के आधार पर रासो के नवीन संस्करण प्रस्तुत किए जाने के स्थान पर इस समय उसकी सुलभ चार वाचनाओं के वैज्ञानिक संपादन, उनकी विविध प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत करके विद्वानों के सम्मुख प्रा जायें।

रासो एक विशालकाय महाकाव्य है जो अपने प्रणयन काल से उत्तरोत्तर स्फीत होता रहा है। उसके संपादन में न केवल अनेक कठिनाइयाँ हैं, वरन्

विपुल समस्याएँ भी हैं। उसकी ऐतिहासिकता, अनेतिहासिकता आदि पूर्वाग्रह छोड़कर रासो के मर्मज्ञ कभी सामूहिक रूप से विचार करते हुए ही उसके मूलरूप का शोध कर सकेंगे, यह मेरा विश्वास है।

रासो की बृहत् वाचना का संपादन अपने समय और परिस्थिति के अनुरूप नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा लगभग सत्तर साल पूर्व किया गया था। इसके मध्यम संस्करण के नाम से कविराव मोहन सिंह ने उदयपुर के शोधसंस्थान द्वारा चार जिल्दों में सन् १९५५ ई० में इसे प्रकाशित किया था, परंतु मध्यम संस्करण के नाम से प्रसिद्ध और सुलभ अन्य तियों का योगदान इसे नहीं प्राप्त हो सका। लघुतम संस्करण आंशिक रूप में प्रो० नरोत्तमदास स्वामी तथा डॉ० नामवर सिंह प्रकाश में लाए हैं। वैज्ञानिक संपादन की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों ही संस्करण अधूरे हैं।

यह हर्ष का विषय है कि डॉ० बेनीप्रसाद शर्मा ने रासो के लघु संस्करण की तीन सुलभ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रस्तुत ग्रंथ का वैज्ञानिक प्रणाली पर संपादन किया है। और अधिक अच्छा होता यदि इस संस्करण की कुछ अन्य प्रतियाँ उपलब्ध हो सकतीं। परंतु हमें इन परिस्थितियों के साथ समन्वय एवं संतोष करना पड़ेगा।

ग्रंथ की भूमिका में पांडुलिपियों का विवरण एवं एक प्रतिविशेष की मान्यता का प्रतिपादन करते हुए आलोचनात्मक संस्करण की समस्या एवं निदान पर प्रकाश डाला गया है। खंडों के आधार पर इस संस्करण के उन्नीस खंडों की कथा का संक्षिप्त परिचय देकर उसकी ऐतिहासिकता के विविध पहलुओं को लेकर यथासंभव सम्यक् विश्लेषण वांछित तर्कपद्धति के आधार पर प्रस्तुत किया है तथा उसकी साहित्यिकता की जाँच के परिणामस्वरूप रस, छंद और अलंकारविधान का निरूपण करते हुए रासो की भाषा और व्याकरण का विवेचन किया गया है।

इस शोधप्रबंध के निर्देशक डॉ० माताप्रसाद गुप्त थे। इसके परीक्षक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डा० सुनीतिकुमार चटर्जी थे। इसकी प्रस्तावना के लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। पृथ्वीराज रासो के सुधी विद्वानों के निरीक्षण एवं आशीर्वाद से हम ऐसे ही उत्कृष्ट ग्रंथ की आशा करते हैं।

अब उस सुदिन की प्रतीक्षा है जब रासो के शेष तीनों संस्करण इसी प्रकार संपादित होकर हिंदी जगत् के समक्ष प्रकाशित होकर और अधिक विचारार्थ भा जायेंगे।

# गोरखनाथ और उनका युग'

डॉ० परशुराम चतुर्वेदी

गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव काल के विषय में सभी लेखक एक समान मत प्रकट करते नहीं दीख पड़ते। अभी तक वे अपनी अपनी धारणा के अनुसार इसे प्रायः ईस्वी सन् की ५वीं शती से लेकर उसकी १५ वीं तक की लंबी अवधि के भीतर कहीं न कहीं रखने के प्रयत्न में तर्क उपस्थित करते पाए जाते हैं तथा कतिपय सांप्रदायिक मान्यताएँ उन्हें युधिष्ठिर सं० १०३६ अर्थात् लगभग सन् ११६२ ई० पू० तक भी ले जाना चाहती हैं। इन सभी प्रकार के मतों का आधार या तो विभिन्न जनश्रुतियाँ बन जाती आई हैं या गुरु गोरखनाथ के समसामयिक समझे जानेवाले विशिष्ट व्यक्तियों के कालानुसार अथवा कुछ साहित्यिक प्रसंगों या अभिलेखादि का उपयोग करके उन्हें प्रकट कर दिया गया है। जहाँतक पता चलता है ऐसे लेखकों का प्रमुख उद्देश्य अधिकतर, गुरु गोरखनाथ का कोई न कोई परिचयात्मक उल्लेख मात्र करके आगे बढ़ जाना तथा फिर उनके तथा उनके द्वारा प्रचारित नाथपंथ के सिद्धांत एवं साधना की चर्चा करने लगना ही रहता आया है और उनमें से किसी ने भी इनकी समकालीन या युगीन प्रवृत्तियों पर जमकर विचार नहीं किया है। 'गोरखनाथ और उनका युग' नामक पुस्तक के लेखक स्व० रांगेय राघव ने अपना ध्यान विशेषकर इसी बात की ओर दिया है और, जो कुछ भी सामग्री उन्हें मिल सकी है उसका विवेचन करके तदनुसार उन्होंने अपना मंतव्य भी निश्चित किया है।

पुस्तक के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचयिता किसी प्रकार की ऐतिहासिक छानबीन की उलझन में नहीं पड़ना चाहता और कतिपय मतों की चर्चा मात्र ही करके गुरु गोरखनाथ के युग के संबंध में अपनी एक धारणा बना लेता है। उसका कहना है : 'इस प्रकार अनेक तथ्यों को देखते हुए प्रस्तुत सामग्री इसी को स्वीकार करने को प्रेरित करती है कि मस्येद्र जो नवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुए गोरखनाथ उनके शिष्य होने के नाते, उन्हीं के जीवन के पिछले भाग में समसामयिक थे' (पृ० २६)। इस प्रकार

यह समय 'हर्षवर्धन के बाद से लेकर मुसलमानों के आक्रमणों तक' की अवधि के भीतर पड़ता है जिस कारण लेखक के अनुसार 'गोरक्ष चरित्र वास्तव में प्रायः उन ५०० वर्षों का इतिहास है, या कहा जा सकता है कि उन ५०० वर्षों का इतिहास, गोरखनाथ के ही माध्यम से देखा जा सकता है', तथा 'मैंने यहाँ गोरक्ष के माध्यम से समस्त युग को नापने का विचार किया है अथवा यह कहना ठीक होगा कि समस्त युग के माध्यम से गोरक्ष को नापने के कार्य का भार उठाया है' ( भूमिका पृ० क ) । 'मेरा विषय मात्र गोरखनाथ नहीं है । गोरखनाथ और उनका युग है जिसे मैंने निर्णीत करते समय भारतीय मध्ययुग का संधिकाल कहा है' ( पृ० 'ड' ) । फिर 'मैंने उसके आर्थिक और बाह्य स्वरूप से सामाजिक प्रयत्न को देखा है । कहाँ तक किससे ब्रह्मानंद होता था इसका कहीं अनुभव नहीं किया है' ( पृ० 'ड' ) ।

पुस्तक के लेखक ने अपने पहले इस विषय में लिखनेवाले कुछ व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए उनके प्रयत्नों को एकांगी अथवा अद्वारा ठहराया है और कहा है कि या तो उनका दृष्टिकोण केवल एक जिज्ञासु मात्र का रहा है या उन्होंने 'नाथसंप्रदाय को हिंदी रचनाओं से देखा है' या इसके लिये उन्होंने 'ऐतिहासिक तथा भारतीय धर्मसाधना' का दृष्टिकोण स्वीकार किया है । इस संबंध में वज्रयानी सूची और योगपरंपरा में प्राप्त किंवदंतियों का भी सहारा लिया गया है, किंतु फिर भी आज तक विशेष उन्नति नहीं हुई है । लेखक के अनुसार 'गोरखनाथ वास्तव में इस प्रकार बिखरे पड़े हैं' उसका कोई स्थिर संबद्ध रूप नहीं है । इस प्रकार कड़ी जोड़ने की ऐतिहासिक महत्व की यह आवश्यकता मेरा ध्येय रही है' तथा 'गोरक्ष का इतिहास में क्या स्थान है' यही 'सौभाग्यवश मुझे करना पड़ा है', 'यह केवल एक विशेष युग की मुख्य विचारधाराओं का मनन है । उस काल के धार्मिक आंदोलन वास्तव में सामाजिक अथवा राजनीतिक आंदोलन थे जितकी नैतिकता दर्शन के सहारे चलती थी' ( पृ० 'क' ) । 'मेरा विशेष जोर इस ओर रह है कि उसका सामाजिक रूप समझा जाय और इसी से शंकर और रामानुज दोनों को लेकर उनकी गोरखनाथ के मत से तुलना की गई है' । ( पृ० 'ज' ) । अंत में 'गोरखनाथ को समझना तब तक असंभव है जब तक आयों से पूर्व से लेकर उनके युग तक की धर्मसाधना का एक रेखाचित्र नहीं समझ लिया जाता । इसलिये कि हजारों साल के इतिहास का सारांश गोरक्षनाथ और शंकराचार्य ने निकालकर प्रलग रख दिया' ( पृ० २५६ ) । तदनुसार यहाँ पर गोरखनाथ के युग की 'अन्य विचारधाराओं से तुलना वैष्णव, शैव

बौद्ध, जैन प्रभाव, इस्लाम तथा उच्च और निम्न जातियाँ, तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और दार्शनिक परिस्थितियाँ, उनमें गोरक्ष उनसे गोरक्ष और गोरक्ष से सब इस साक्षेप (सापेक्ष ?) दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न है' (पृ० 'ड'), जिसके आधार पर आलोच्य पुस्तक की विशेषता भलीभाँति प्रकट हो जाती है।

पुस्तक को 'भूमिका' के अतिरिक्त, 'पूर्ववर्ती', 'व्यक्ति', 'दर्शन और योग', 'साहित्य' एवं 'उपसंहार' नामक ५ अध्यायों में भी विभक्त किया गया है। इनमें से प्रथम के अंतर्गत, नाथसंप्रदाय की पृष्ठभूमि के रूप में, गोरखनाथ के पूर्ववर्तियों की चर्चा की गई है और ऐसा करते समय प्रायः उन सारी उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग किया गया जान पड़ता है जो इसके लिये प्रासंगिक समझी गई हैं। तदनंतर गुरु गोरखनाथ के समसामयिक एवं परवर्ती माने जानेवाले अन्य अनेक नाथपंथी प्रचारकों का भी उल्लेख किया गया है तथा कतिपय उन लोगों की ओर भी संकेत कर दिया गया है जो शंकर जैसे विशिष्ट व्यक्ति थे और जिनके मतों से तुलना करने की आवश्यकता है। लेखक का कथन है : 'पूर्ववर्ती और परवर्ती तथा समसामयिक नाथियों में भी परस्पर भेद थे', यह भी 'वज्रयानी सिद्धों की प्राप्त सूची से विदित हो जाता है और यह पता चल जाता है कि किस प्रकार 'नाथसिद्ध पहले सहजयानी थे तदुपरांत नाथ हो गए'। परंतु जो 'नाथ-सिद्धों' की सूची पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर दी गई है और जिसके ६६ नामों में से ५२वाँ गोरखनाथ का आता है उसके निर्माण का कोई स्पष्ट आधार नहीं बतलाया गया है, प्रत्युत इसके लिये केवल स्व० राहुलजी के 'तिथिसंवाद' की ओर संकेत कर के ही छोड़ दिया गया है। इसे पृष्ठ ३७ पर दी गई एक ५४ ऐसे नामों की अन्य सूची की अपेक्षा 'प्रमाण' पर आधारित भी कहा गया है और उसका विभाजन संदिग्ध माना गया है। वास्तव में पुस्तक का यह अंश बहुत कुछ अस्पष्ट एवं भ्रांतिपूर्ण तक हो गया दीख पड़ता है और ऐसा लगता है कि यहाँ केवल एक संगतिमात्र बैठा दी गई है।

लेखक ने इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में गुरु गोरखनाथ के व्यक्तित्व का परिचय देने की चेष्टा की है। उसने कदाचित् इसके लिये भी उन लगभग सभी सामग्रियों से काम लिया है जो उसे किसी भी रूप में उपलब्ध हो सकी हैं। यहाँपर उनके जन्मस्थान, जाति, गुण, समाजसेवा, निवास-स्थान एवं चरित्र के संबंध में आज तक किए गए विभिन्न उल्लेखों की ओर निर्देश करते हुए क्रमशः यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि वे 'पेशावर

के निकट ही हुए थे, ब्राह्मण वंश के थे, अत्यंत सुंदर थे, रूप बदलने में अत्यंत कुशल थे, उनमें धैर्य एवं शांति की मात्रा अधिक थी, वे ऊँच नीच का भेद नहीं मानते थे और निरभिमानी भी थे। उनका कोई निश्चित निवासस्थान नहीं था और वे जहाँ चाहे घूमते फिरते ही रहा करते थे। उन्होंने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा। उसके कामी स्वरूप से उन्हें चिढ़ थी और उसकी वासना से वे वृणा तक भी किया करते थे परंतु बालकों से उन्हें स्नेह था। इन सारी बातों के प्रमाण में लेखक ने या तो किंवदंतियों की ओर संकेत किया है अथवा कुछ अपने पूर्ववर्ती लेखकों के अनुमानों या गोरख की उक्तियों का आश्रय लिया है। इस अध्याय के ही पिछले भाग में योगपय, लोकायत, पाशुपत कापालिक, अघोर, कौलमार्ग, यौनवाद जैसे कतिपय प्रचलित मतों की भी संक्षिप्त चर्चा प्रसंगवश कर दी गई है और कहा गया है कि उस युग के अंतर्गत 'दूसरी शताब्दी से छिपी-छिपी चली आती यक्षवाद की साधना अखंड धारा बनकर बहने लगी थी' जिसे गोकने के स्थान पर सभी उसमें बहने लगे थे। अतएव, गोरखनाथ ने स्त्रीनिंदा के साथ अपना कार्य प्रारंभ किया और इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर देकर अपनी मुख्य विशेषता भी प्रकट की।

लेखक के अनुसार 'भारतीय संस्कृति में बहुत कुछ आर्योत्तर है और उसने भारतीय संस्कृति का अधिकांश निर्णीत या निर्माण किया है', इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि धर्मसाधना का विवेचन किया जाय और उसके प्रधान तत्वों को समझा जाय' (पृ० 'ख')। लेखक ने इस प्रसंग में कहा है : 'यक्षप्रभाव को मैंने काफी महत्व दिया है। यह भारतीय इतिहास का वह भूला हुआ विषय है जिसके बिना इतिहास समझा ही नहीं जा सकता' (पृ० 'ज') तथा जान पड़ता है, इसी कारण यहाँ पर 'यक्ष-वाद' के स्पष्टीकरण में, कई स्थलों पर विचार किया गया है। यक्षों के विषय में अन्यत्र (दे० रांगेय राघव की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास', भूमिका पृ० 'ड') बतलाया गया है कि 'यक्ष और रक्ष का घातुमूल एक है। राक्षस और कुबेर कहे भी भाई जाते हैं।.....यक्ष काम के उपासक थे, रक्ष शिव के। दोनों में युद्ध हुआ। काम पराजित हुआ। परंतु बाद में राक्षसों पर भी प्रभाव पड़ा'। और यही बात यहाँ संभवतः, आर्यों के संबंध में भी अनुमानित कर ली गई है। लेखक का कथन है : 'दार्शनिकता के क्षेत्र में आर्यों में मुख्य रूप से आनंदवाद था। यक्षों में विलासवाद का प्राधान्य मिलता है और शेष आर्योत्तरों में दुःखवाद

का प्रभुत्व' जिसका विवेचन पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही विस्तार के साथ किया गया है। वास्तव में लेखक का उद्देश्य यहाँ पर उस युग में विशेष प्रचलित शाक्त धर्म के प्रभाव को महत्व देने का हो सकता है जिसके कारण उत्तर में कश्मीर से लेकर पूर्व में गौडदेश एवं दक्षिण में केरल तक के विस्तृत क्षेत्र में, न्यूनाधिक शक्तिभूजा का प्राबल्य था तथा जिसके द्वारा प्रभावित होकर स्वयं गुरु गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने भी अपने 'कौलज्ञान' का प्रचार किया था।

पुस्तक के 'दर्शन और योग' शीर्षक वाले तृतीय अध्याय के अंतर्गत उस युग में प्रचलित प्रमुख सिद्धांतों एवं साधनाओं का परिचय दिया गया है तथा उन्हीं के आधार पर गोरखनाथ के मत पर भी प्रकाश डाला गया है। लेखक ने इस प्रसंग में शंकर के अद्वैतवाद तथा शाक्त एवं शैव संप्रदाय संबंधी मतों की समीक्षा करते हुए कहा है कि शंकर का दृष्टिकोण जहाँ 'परमार्थिक की ओर से है' वहीं 'शाक्त और शैव का जीव भी ओर से।' 'इसमें शैव और शाक्त जीवन से अधिक निकट है' (पृ० १३१)। गोरखनाथ के उन दोनों का सारतत्त्व ग्रहण किया तथा इसके साथ ही उन्होंने, 'अनादि-काल से बिखरे विश्वासों को लाकर एक में जोड़ दिया और यह महान् धारा आप्लावित होकर भारतवर्ष में अखंड रूप से दो शताब्दियों तक बहती रही' (पृ० १४०)। परंतु स्वामी रामानुजाचार्य की भी चर्चा करने के अनंतर तथा फिर पूर्ववर्ती एवं परवर्ती महापुरुषों के बीच गोरखनाथ को 'एक विश्रामस्थल' की संज्ञा देते हुए, लेखक ने यह भी बतलाया है कि 'शंकर विवर्त में पड़ गए, गोरख चक्र में। रामानुज समाज को लेकर उठे और धारा को बहा ले गए। उन्होंने ईश्वर को मनुष्य के पास खींच लिया। गोरक्ष के समानांतर शंकर के बाद आनेवाले रामानुज का ही प्रभाव गोरक्ष के भी परवर्तियों पर समान भाव से पड़ा' (पृ० १५६)। 'शंकर का व्यक्तिवाद रामानुज ने तोड़ दिया और गोरक्षनाथ के बाद योगप्रभाव में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ। कबीर का चरित्र एक अद्भुत समन्वय था अवश्य किंतु उसे केवल योगमार्गी नहीं कहा जा सकता' (पृ० वही)।

पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में गुरु गोरखनाथ की रचनाओं तथा नाथपंथी साहित्य के विषय में एक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक को गुरु गोरखनाथ के पूर्ववर्ती सिद्धों की कविता में कहीं कहीं विरोधाभास का परिचय मिलता है, किंतु वहीं योगसंप्रदाय की कविता की पृष्ठभूमि भी है जिसे पीछे बहुत कुछ सुधरा रूप देने की चेष्टा की गई है। वास्तव में गोरखनाथ की

कविता में 'कुछ ऐसा 'अलगपन' है जिससे लगता है कि इस काव्य का सामीप्य ऊपर देखे गए संस्कृत काव्य ( सांप्रदायिक ) से अधिक है, यद्यपि तत्कालीन भाषा काव्य से कुछ अधिक दूर नहीं' ( पृ० १६३-४ ); और इस बात को लेखक ने आगे कई प्रकार से प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। यहाँपर 'हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग' से प्रकाशित 'गोरखबानी' को अध्ययन का आधार बनाया गया है और उसमें संगृहीत सारी रचनाओं की उनके विभिन्न शीर्षकों के अनुसार क्रमशः समीक्षा की गई है। लेखक के अनुसार 'वस्तुतः यह भाषा उस युग की कदापि नहीं है जिसमें गोरखनाथ हुए थे', 'जिस प्रकार आल्हा बदली है, गोरख की भाषा भी बदल गई है' और 'इसका अर्थ यह निकलता है कि इनमें से कोई भी रचना गोरखनाथ की नहीं है' ( पृ० २०३, तथा 'गोरखनाथ की कोई रचना अब अपने मूल रूप में है ही नहीं' ( पृ० २०३ )। अंत में लेखक ने यह भी कहा है कि 'नाथ संप्रदाय की कविता का गोरखनाथ की कविता से भी अधिक मूल्य है' ( पृ० २२६ ), किंतु, आश्चर्य है कि इस प्रकार उसने केवल उल्लेख मात्र करके ही छोड़ दिया है जहाँ गुरु गोरखनाथ की रचनाओं पर उसने विस्तार के साथ विचार किया है।

पुस्तक का पंचम अथवा अंतिम अध्याय 'उपसंहार' से संबंध रखता है। इसमें पूरे सिंहावलोकन के अनंतर बतलाया गया है कि 'जो संप्रदाय गोरखनाथ द्वारा चलाया गया था वह एक शताब्दी ही, संभवतः अपने उसी रूप में चल सका' ( पृ० २४५ ) और पीछे वह क्रमशः 'बिगड़ता' चला गया तथा किसी न किसी रूप में, उनके अनंतर प्रवर्तित किए गए कतिपय पंथों को प्रभावित भर कर सका। नाथ संप्रदाय की आजकल प्रचलित विभिन्न शाखाओं तथा उपशाखाओं का न्यूनाधिक विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् फिर गुरु गोरखनाथ के महत्व का भी मूल्यांकन किया गया है और भारतीय इतिहास के मध्य युग में उनका स्थान भी निर्धारित किया गया है। लेखक के अनुसार उसके 'बीच के संधिकाल में बिल्कुल बीच में गोरखनाथ हैं। उनके एक ओर शंकर हैं दूसरी ओर 'रामानुज' ( पृ० २६० )। तदनंतर 'सब कुछ भूठ कहकर, शरीर में ही ब्रह्मांड रख कर, उसी में ब्रह्म को सत्य मान कर जो संस्कृति पृथ्वी और काल की अवधि को आज से सहस्र वर्ष पूर्व खंडित और दूसरे पक्ष में एकत्र कर खड़ी हुई वह कितनी सशक्त थी और कितनी निर्बल थी यह आगे की सदियों ने प्रकट किया और इस संस्कृति का ही एक अंगु थे गोरखनाथ' ( पृ० २६४ ) कहकर पुस्तक समाप्त की गई है।

इस प्रकार लेखक ने जिस उद्देश्य को लेकर अपने विषय का अध्ययन आरंभ किया था उसके अनुसार वह अपना कार्य यहाँपर पूरा कर देता है और अंत में अपना एक मत भी प्रकट कर देता है जिसपर विचार करके कोई भी उसका मूल्यांकन कर सकता है । उसकी कथनशैली द्वारा किसी तथ्य के उद्घाटन के प्रति किया गया विशेष प्रयास लक्षित होता है । इस कारण वह अपनी धुन में बार बार ( दे० पृ० २०, २२, २६, ४५, ४६, ५४, २३१ आदि ) क्रमशः 'आगे विचार किया जायगा', 'उल्लेख फिर पीछे आएगा', 'कुछ...देखना ठीक होगा', 'एक...और देख लिया जाय', 'आगे और स्पष्ट होगा', 'आगे विचार करेंगे', 'आगे दिया गया है' तथा 'आगे कुछ विस्तार के साथ करेंगे' जैसे वाक्यों के प्रयोग करता आगे बढ़ता है जिसे हम किसी एक अच्छे लेखक के लिये एक दोष की भी संज्ञा दे सकते हैं । इसी प्रकार उसके द्वारा किए गए पृष्ठ ३० पर 'प्रायः' एवं पृष्ठ १६ पर 'आदि' शब्दों के प्रयोग भी अनावश्यक जान पड़ते हैं तथा पृष्ठ ३६ एवं पृष्ठ ३७ पर दी गई नाथ-सिद्धों की सूचियों को भी बहुत कुछ क्रमविरुद्ध एवं काल्पनिक तक ठहराया जा सकता है । इसके सिवाय पृष्ठ 'ङ' पर 'साक्षेप', पृष्ठ २७ पर 'दृष्टिदात' एवं 'तकी' तथा पृष्ठ १२० पर 'षडांग' जैसे शब्दों के प्रयोगों की अशुद्धियाँ आ गई हैं और पृष्ठ १६७ पर 'मस्तानी धोबण' से आरंभ कर 'गोरष सिर भार' तक समाप्त होनेवाले एक पद को कबीर की रचना मान लिया गया है जो कदाचित् निराधार कहला सकता है । परंतु इन बातों के कारण आलोच्य पुस्तक का मूल्य अधिक नहीं घटाया जा सकता । यह गुरु गोरख-नाथ और उनके युग विषयक विवेचनात्मक अध्ययन में एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होगी इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता ।

---

# संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव'

डॉ० रामचंद्र द्विवेदी

भारतीय साहित्य तथा संस्कृति के समंजित स्वरूप में चिंतन, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अनेक धाराएँ मिली हुई हैं। निगममूलक धारा के अतिरिक्त, आगममूलक धारा अपनी शतपत्र विविधता के साथ प्रागैतिहासिक काल से इस देश के धर्म, दर्शन और साहित्य को स्नात करती आ रही है। इस धारा का मूल स्वर एक सा है पर वर्णों की विविधता इतनी समर्थ है कि उसने शैव, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन आदि वैदिक तथा अवैदिक मार्गों को एक समन्वित प्रभाव के अंतर्गत एक साथ ला बिठाया है। भारतीय संस्कृति की यह धारा प्रारंभ में भी प्रच्छन्न लगती है और बाद में भी किंतु अंतः सलिला सरस्वती की भाँति यह सदा ही भारतीय वाङ्मय के संगम में वर्तमान रही है। तंत्र का जो स्वरूप प्रौर उसके नाम से जो साहित्य ( जिसमें जादू-टोना और ज्योतिष, स्थापत्य आदि तथा अन्य अनेक लौकिक विषयों की भरमार ) इतिहास के एक मोड़ मध्ययुग में विकसित हुआ था और उसके संबंध में परिणामतः जो अन्यथा ज्ञान या आंति उत्पन्न हो गई थी, वह तंत्र की मूल आत्मा, दर्शन या साधना नहीं है। उसमें अंतर्निहित धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के निगूढ़ तत्वों पर सही दिशा में चिंतन मनन आवश्यक है। इधर हाल में ( १९६३ ई० ) महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजी ने 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' तथा 'भारतीय संस्कृति और साधना' हिंदी संसार को देकर इस दिशा में स्तुत्य कार्य किया है।

डॉ० उपाध्याय ने हिंदी के संत एवं वैष्णव काव्यों में समान रूप से प्रतिबिंबित तांत्रिक प्रभाव का अध्ययन एवं अनुशीलन प्रस्तुत किया है। संत से उनका अभिप्राय निगुनिया संप्रदाय के कवियों (कबीर, दादू, नानक आदि) से है और वैष्णव काव्य के अंतर्गत उन्होंने कृष्ण संप्रदाय (अष्टछाप, निंबार्क, टट्टी, गोडीय वैष्णव) के कवियों तथा मीरा को और राम संप्रदाय के कवियों को संमिलित किया है।

१. लेखक : डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय, प्रकाशक : विनोद पुस्तक मंदिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, मूल्य : १५.००।

मालोच्य शोध प्रबंध ६ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में उन्होंने प्राग्वैदिक युग से सूत्रकाल तक चर्चित कतिपय तांत्रिक तत्वों—शक्ति, काम, काल, प्राण, मियुन भावना, पिंड-ब्रह्मांड कल्पना, कथन की प्रतीकात्मक तथा गुह्य पद्धति—का उल्लेख किया है। इस भाग का कोई सामान्य शीर्षक नहीं है। किंतु प्रथम अध्याय के द्वितीय भाग को उन्होंने 'महाभारत में तांत्रिक तत्व' ( पृ० २७-३८ ) शीर्षक दिया है। यह शीर्षक अपूर्ण तथा भ्रामक है क्योंकि केवल ४॥ पृष्ठों में महाभारत के कृष्ण और उसकी कतिपय भूर्तिकृत ( भूमूर्त गुण जिन्हें देवी रूप दिया गया है जैसे कि कीर्ति, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा आदि ) देवियों की चर्चा तथा पाशुपत व्रत के संदर्भ के बाद उन्होंने विभिन्न पुराणों के तांत्रिक तत्वों का निरूपण किया है। शैव, वैष्णव तथा शाक्त साधनाओं की पुराणों में इस उपलब्धि को महाभारत की अपेक्षा अधिक स्थान प्राप्त है। अतः 'महाभारत तथा पुराणों में तांत्रिक तत्व' यह शीर्षक अधिक उचित रहता; यों महाभारत के साथ पुराणों (जिनमें काल की दृष्टि से परवर्ती पुराण भी संमिलित हैं) की तांत्रिक दृष्टि का विवेचन ठीक नहीं है, उसके लिये पृथक् से स्थान रखा जा सकता था। इसी अध्याय के तीसरे भाग 'षड्दर्शन तथा तंत्र' में सांख्यदर्शन के प्रकृतिस्वरूप, नादसिद्धांत, शब्द-सिद्धांत आदि के आधार पर तंत्रों का उनसे संबंध प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। इस भाग के अंत में लेखक का निष्कर्ष है—

‘दार्शनिक दृष्टि से उसका ( अर्थात् तंत्र का ) सादृश्य उपनिषदों, मीमांसा, सांख्य और वेदांत से दिखाई पड़ता है किंतु तांत्रिकों की सबसे महत्वपूर्ण देन द्वैत और अद्वैत में समन्वय प्रस्तुत करना तथा मनोवैज्ञानिक और पारमार्थिक भ्रान्त के विरोध को समाप्त करता है।’

ऐसा प्रतीत होता कि लेखक ने तंत्रदर्शन की स्वतंत्रता को और उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धि—शक्ति एवं शक्तिमान् के सामरस्य तथा विश्व की चिद्रूपता की स्थापना—को प्रमाणपूर्वक समझने का प्रयत्न नहीं किया है। इसी लिये वह सादृश्य और दो का उल्लेख मात्र करते संतुष्ट हो गया है। सांख्य की प्रकृति तांत्रिकों के शक्ति तत्व से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति केवल जड़ ही नहीं, जब कि शक्ति चेतना का सक्रिय तत्व ( डाइनेमिक कान्शसनेस ) है, उसकी स्थिति तात्त्विक दृष्टि से पुरुषनिरपेक्ष है जब कि यह निरपेक्षा तांत्रिकों की 'शक्ति' में नहीं है। इसी प्रकार वेदांत की माया और मीमांसा के शब्दसिद्धांत आदि से भी तांत्रिकों की कल्पनाएं सर्वथा भिन्न

हैं। द्वैत को—अहम् और इदम् दोनों को—स्वीकार कर समग्र विश्व की चेतना में समरसता तांत्रिकों की बहुत बड़ी देन है। इस विषय के विभिन्न पक्षों पर कविराजजी जैसे अधिकारी विद्वान् बहुत कुछ लिख चुके हैं। डा० कांतिकंद पांडेय, डा० दासगुप्त, बागची, वुडरफ आदि ने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। अतः आवश्यक था कि लेखक तंत्र की दार्शनिक दृष्टि को अधिक स्पष्टता और प्रामाणिकता के साथ उपस्थित करता। अविवेचित निष्कर्ष या तथ्यों का 'साधारणीकरण' अधिक उचित नहीं है।

इस प्रथम अध्याय का (जिसके तीन भागों की चर्चा अभी हमने की है) शीर्षक है, आविर्भाव और विकास। यह स्वयं में अपूर्ण है। 'तांत्रिक धारा का' शीर्षक के प्रारंभ में प्रयोग आवश्यक और अपेक्षित है। इस अध्याय में ४३ पृष्ठ हैं। इतने कम स्थान में तंत्र शब्द की व्याख्या से प्रारंभ कर प्रागैतिहासिक विभिन्न संस्कृतियों से लेकर षड्दर्शन तक तांत्रिक धारा का आविर्भाव और विकास सही अर्थ में बता पाना किसी भी लेखक के लिये संभव नहीं है। स्वभावतः कुछ तत्त्वों की ही संक्षिप्त चर्चा की जा सकती थी जो कि डा० उपाध्याय ने प्रो० ह्याजनी भृति विद्वानों के अंग्रेजी में लिखित ग्रंथों की सहायता और आधार लेकर की है। इस उपस्थापन को लेकर प्रबंध की मौलिकता के संबंध में लेखक का निवेदन है—'हिंदी भाषा में प्रथम बार तांत्रिक धारा को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस कथन के दो पदों—हिंदी भाषा में तथा प्रयत्न—को रेखांकित करने के अतिरिक्त इस निवेदन के संबंध में मुझे कुछ नहीं कहना है।

द्वितीय अध्याय ( पृ० ४७-१५७ ) के वर्गीकृत भागों में विभिन्न तांत्रिक संप्रदाय (?)—तांत्रिक जैन, बौद्ध, पांड्यरात्र, शैव, शक्ति मतों एवं नाथ संप्रदाय की लेखक ने चर्चा की है। अध्याय का शीर्षक है—विभिन्न तांत्रिक संप्रदाय। बीच के शीर्षकों में 'मत' शब्द का प्रयोग है जैसे विभिन्न तांत्रिक जन मत या तांत्रिक बौद्ध मत और अंतिम भाग का शीर्षक है—नाथ संप्रदाय पर तांत्रिक प्रभाव। तृतीय अध्याय 'संत काव्य का विकास और विवरण' से इस शोधप्रबंध का प्राकराणिक विषय प्रारंभ होता है। अतुर्थ अध्याय में संतकाव्य की तांत्रिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है।

पाँचवें और छठे अध्याय में, पिछले दो अध्यायों की योजना के अनुरूप, क्रमशः 'वैष्णव काव्य का विकास और विवरण' ( पंचम अध्याय ) तथा

‘वैष्णव काव्य तांत्रिक प्रवृत्तियाँ’ ( षष्ठ अध्याय, जो अंतिम है ) प्रस्तुत की गई हैं ।

मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रंथ के दो अध्याय चतुर्थ तथा षष्ठ प्रमुख हैं । मैं समझता हूँ कि किसी भी विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये, संक्षिप्त तांत्रिक पृष्ठभूमि तथा प्रामाणिक विश्लेषण के साथ उपर्युक्त दो अध्याय ( संतकाव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ तथा वैष्णव काव्य में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ ) ही पर्याप्त थे । तांत्रिक धारा तथा संत एवं वैष्णव काव्यों के विकास का लगभग पीने तीन सौ पृष्ठों में विवरण प्रस्तुत करने के लिये लेखक को अत्यधिक श्रम करना पड़ा होगा । यह शोधविषय का मूल लक्ष्य नहीं था और इतने व्यापक पैमाने पर अनुसंधानपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना संभव भी नहीं है, अतः निश्चित ही इस श्रम को बचाया जा सकता था । किंतु संतकाव्य में वर्णित गुरु, दीक्षा, मंत्र, आचार आदि पर तथा वैष्णव काव्य में व्यक्त दर्शन, साधना तथा कथनपद्धति पर तांत्रिक धारा का जो प्रभाव पड़ा है उसपर हम सभी का ध्यान आकृष्ट करने के लिये डा० उपाध्याय के प्रति हिंदी जगत् ऋणी होगा । संतमत के कुंडलिनीयोग की तंत्रपरता, उनके परम तत्त्व तथा जगत् संबंधी धारणाओं की तांत्रिक बौद्धमत से समानता, शून्य, सहज, कायासिद्धांत, चक्रसिद्धांत आदि पर बौद्ध एवं शैव प्रभाव, कबीर के चौकाविधान में चक्रसाधना का प्रतिबिंबन और इसी प्रकार वैष्णव काव्य में व्यक्त दर्शन की आगममूलकता, राम और सीता, कृष्ण और राधा के नित्य विहार की कल्पना में शक्ति शक्तिमान् की नित्य संपृक्ति और क्रीड़ा का प्रभाव आदि इन सभी तत्त्वों का विश्लेषण डा० उपाध्याय ने विश्वास और प्रमाण के साथ किया है । इनपर विद्वानों का ध्यान जाना अपेक्षित है । संत तथा वैष्णव कवियों ने इन तांत्रिक तत्त्वों का स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित कर दिया था और किस प्रकार समन्वित संस्कृति के प्रतीक नए अर्थ और उपयोग पाने लगे थे इस ओर भी डा० उपाध्याय को विस्तार के साथ ध्यान दिलाना चाहिए था । वस्तुतः संत वैष्णव काव्यों के युग तक तंत्र की विभिन्न धारणाओं के अनेक तत्व और अर्थ ( बौद्ध तांत्रिक धारा के ही अनेक उपभेद हैं जिनमें एक ही शून्य शब्द विभिन्न विच्छित्तियों में अवतरित होता गया था ) इस देश की संस्कृति और साहित्य में घुलमिल गए थे । शायद ही कोई कवि इनके तांत्रिक स्वरूप से परिचित रहा हो । पर अनुसंधान का अर्थ ही है अपरिचित और अपरिभाषित को भी इतिहास की छाया में परिचय और परिभाषा देना । डा० उपाध्याय ने यही कार्य

संत एवं वैष्णव काव्य के संदर्भ में किया है। मैं समझता हूँ यही कार्य और निष्कर्ष ग्रन्थ क्षेत्रों में भी चरितार्थ होगा।

शोध कार्य के लिये यह आवश्यक होता है कि न केवल चिंतन और अभिव्यक्ति में मौलिकता हो वरन् साथ ही एक व्यवस्थित पद्धति का पालन हो। अनुसंधान का एक बाह्य स्वरूप भी है। डा० उपाध्याय ने इस स्वरूप की रक्षा में अधिक सावधानी नहीं बरती है। ग्रंथ का संदर्भ देते समय न तो उन्होंने लेखक, प्रकाशक आदि की किसी आनुपूर्वी का ध्यान रखा है ( उदाहरण के लिये प्रो० ह्याजनी के ग्रंथ का संदर्भ विभिन्न रूपों में मिलेगा, दे० पृ० ४-७) और न संकेताक्षरों के एकरूप प्रयोग का। ( उदाहरण के लिये बृहदारण्यकोपनिषद् का उल्लेख एक ही पृष्ठ, २३ पर विभिन्न रूपों में मिलता है )।

हिंदी में शुद्ध मुद्रण होना एक बहुत बड़ी समस्या है। लेखक द्वारा लाख चाहने पर भी कहीं कुछ ऐसा हो जाता है कि ग्रंथ प्रायः शुद्ध नहीं छप पाता। पर शुद्ध छपने का उत्तरदायित्व तो लेखक को ही वहन करना है। हिंदी के ग्रंथ में संस्कृत के उद्धरणों का शुद्ध छपना और भी आवश्यक है क्योंकि संस्कृत से अनभिज्ञ पाठक साधारण से साधारण मुद्रण अशुद्धियों को नहीं पकड़ पाते, फलतः अशुद्ध उद्धरणों की एक अविच्छेद्य परंपरा चल पड़ती है। दो चार पृष्ठों को छोड़कर इस विशाल ग्रंथ में शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ हो जहाँ मुद्रण की एक दो अशुद्धियाँ न हों।

अनुसंधानपद्धति की चिंताजनक कमी होने पर भी संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव के विश्लेषण की दृष्टि से डा० उपाध्याय का यह ग्रंथ पठनीय है।

# हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका'

डा० चंद्रहंस पाठक

आलोच्य प्रबंध में संवत् १३७५ से १७०० के मध्य कविता करनेवाले सगुणोपासक भक्त कवियों की कृतियों का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन किया गया है। इस दृष्टि से विवेच्य है सगुण भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक पीठिका और उसकी उपलब्धि है कि देवालयीय अथवा आगमिक उपासना की पद्धति का हिंदी के सगुण भक्तिकाव्य के विकास में और उसे आभा प्रदान करने में सर्वातिशायी प्रभाव। इस कारण ग्रंथ के आरंभ में संस्कृत के तीन श्लोकों में दी हुई देवालय प्रणस्ति बड़ी ही महत्वपूर्ण है जो कि एक ओर आचार्य मम्मट की 'जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते' वाली पद्धति का अनुगमन है और दूसरी ओर वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण का नवीन परिवेश में प्राचीन उदाहरण।

समस्त प्रबंध ६ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय को 'आदिवाणी' शीर्षक से लिखा गया है जिसे ग्रंथकार के शब्दों में आलोच्य प्रबंध की भूमिका कहा जा सकता है—'जहाँ तक मेरी भूमिका की आवश्यकता है, वह इस ग्रंथ के प्रथमाध्याय में 'आदिवाणी' नाम से संश्लिष्ट है।' इस आदिवाणी को भी आठ उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है। प्रारंभ में आचार्य द्विवेदी पर्यंत समीक्षा पद्धतियों के गुण अवगुणों, विशेषताओं न्यूनताओं की चर्चा करते हुए साहित्य की सांस्कृतिक व्याख्या के उपोद्घात में लेखक ने अपने विषय की अवतारणा इस प्रकार की है—

'काव्य का सजीव तथा पूर्ण रूप सांस्कृतिक परिपार्श्व में ही निखरता है। प्रत्येक संस्कृति की कुछ अपनी ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो युगों की विभिन्न परिस्थितियों की विविधताओं से भिन्न भिन्न रूपों में युक्त होती हुई भी अपनी समरूपता बनाए रखती हैं। इस तरह हम संस्कृति के दो रूपों की कल्पना कर सकते हैं—(१) सामान्य संस्कृति अथवा शाश्वत धर्म और

१. लेखक : डा० रामनरेश वर्मा, प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, मूल्य : ११'०० रूपए।

२. द्रष्टव्य—प्रबंध वक्तव्य. प्रचट्टक २।

५(२) विशेष संस्कृति अथवा युगधर्म । इन दोनों रूपों से संसक्त करके तथा धर्म, दर्शन, समाज और ललितकला आदि अन्य संस्कृतिव्यंजक उपकरणों की भूमिका में ही काव्य की समीक्षा समीचीन कही जा सकती है ।<sup>१</sup>

इसके पश्चात् मध्ययुगीन विकास के संदर्भ में उसकी प्रमुख विशेषता भक्ति का और फिर भक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों—नैराश्यवाद, दिव्य जीवन की और आकर्षण, कोमल और मधुर भावों की प्रचुरता, रूढ़िवादिता और शृंगारिकता—का विवेचन किया गया है । सगुण भक्तों पर पड़े हुए प्रभावों की संक्षिप्त चर्चा भी यहीं कर ली गई है, और सगुण भक्ति के मौलिक स्वरूप की पूर्वपीठिका के रूप में चतुर्विध धार्मिक जीवनों और उनके विभिन्न उत्सों का परिचय दे दिया गया है । अग्रिम सात अध्यायों में अपनाई जानेवाली प्रतिपत्तियों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रबंध का 'आदिवाणी' नामक प्रथम अध्याय लेखक के परिपुष्ट विचारों और उसके निर्भ्रांत निष्कर्षों का परिचायक है ।

द्वितीय अध्याय का नाम भक्ति आंदोलन : प्रवर्तन के कारण और स्थान है । अपने नाम के अनुरूप ही यहाँ विशेष रूप से भक्ति आंदोलन को जन्म देनेवाले कारणों और उसके उद्भव स्थानों की चर्चा है । उत्तर मध्य-कालीन वैष्णव आंदोलन ने समस्त भारतवर्ष को किस प्रकार परिभ्राम किया ? इस पर तटस्थ दृष्टि से विचार करते हुए डा० वर्मा ने श्रीताराचंद के मोहम्मदी और जार्ज ग्रियर्सन के मसीही धर्मसंपर्क वाले मतों का पूर्णतः और आचार्य शुक्ल के तात्कालिक परिस्थितियोंवाले मत का अंशतः खंडन करते हुए आचार्य द्विवेदी के लोकमत की प्रधानता स्वीकार करनेवाले मत के अनुसार लोकमत के शास्त्रीय आवरण की प्राप्ति को ही भक्ति आंदोलन का जन्मदाता माना है और फिर लोकमत के विशिष्ट तत्त्वों की विवेचना की है । भक्ति आंदोलन के उद्भव स्थान की विचारणा के प्रसंग में यह स्वीकार करते हुए भी कि उत्तरापथ की भक्ति पर दक्षिणी प्रभाव है, डा० वर्मा ने अनेक शिलालेखों, अभिलेखों और संग्रहालयों के साक्ष्य देकर यह सिद्ध किया है कि उत्तरभारत की रामभक्ति को दक्षिण की धरोहर कहना अनुचित है । वह उत्तरभारतीय धर्मसाधना की अपनी विशेषता है और वहीं की मिट्टी की अपनी परंपरागत पैदावार ।

भक्तिदर्शन में देवालयीय तत्त्वों के आगमन कारणों, भक्ति के प्रकारों, बोधदेव, बलभाचार्य, रूप गोस्वामी के मतों के अनुसार भक्ति के—

(१) मर्यादावादी और (२) प्रेमाभक्ति इन द्विविध रूपों में से प्रथम का विचार तृतीय अध्याय में भक्ति—१ शीर्षक से किया गया है। मर्यादावादी भक्ति के संबंध में तुलसी की भेदरूपा, अभेदरूपा, साधनरूपा, भावरूपा और प्रेमाभक्ति का विचार हुआ है। तुलसी के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण भी यहीं किया गया है जो अधिक मौलिक न होते हुए भी तथ्य संकलन की दृष्टि से प्रशंसनीय है।

प्रेमाभक्ति के शास्त्रभक्ति और रसभक्ति नामक द्विविध भेदों की चर्चा चतुर्थ अध्याय में भक्ति—२ शीर्षक से हुई है। इस प्रसंग में शास्त्रभक्तों के अंतर्गत सूरदास तथा अन्य अष्टछापी कवियों और रसभक्तों के अंतर्गत हितहरिवंश, हरिराम व्यास और ध्रुवदास के उल्लेख स्वतः हो गए हैं।

पंचम अध्याय 'सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक से लिखा गया है। यहाँ स्पष्टतः सगुण भक्तों की दो धाराएँ कर दी गई हैं। भक्तों की प्रथम धारा में वर्णाश्रममर्यादा, ब्राह्मण प्रतिष्ठा, कौटुंबिक व्यवस्था आदि सामाजिक मर्यादाओं की स्वीकृति और दूसरी में सामाजिक तत्त्वों की अवहेलना दिखाई गई है। यह द्वितीय धारा भी फिर दो वर्गों में विभक्त कर दी गई है जिनमें से प्रथम सामाजिक मर्यादाओं की हठात् उपेक्षा नहीं करता पर द्वितीय वर्ग सामाजिक व्यवस्था को भक्ति भावना में बाधक समझ तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। इन तीनों के उदाहरण भी क्रमशः वही हैं जो चतुर्थ और उससे पूर्व तृतीय अध्याय में दिए जा चुके हैं। उदाहरणों और तथ्यों की दृष्टि से यहाँ कुछ पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है किंतु यह आभास मात्र है वास्तविक नहीं, क्योंकि यहाँ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उक्त कवियों का अध्ययन पुनः करना ही पड़ा है।

षष्ठ अध्याय 'धार्मिक संप्रदायों का संगठन' शीर्षक से अभिहित है। यहाँ सभी संप्रदायों का प्रवृत्तिगत विभाजन करने के पश्चात् मठ परंपरा के इतिहास का, उसकी उत्पत्ति और विकास का, उसकी प्रथम परंपरा के अंतर्गत आद्य शंकराचार्य प्रतिष्ठापित चार मठों का, उनसे संबद्ध दशनामी संन्यासियों का और नागा साधुओं के दस अखाड़ों का विवरण दिया गया है। द्वितीय परंपरा के मध्य कागलिकों, कौलों, नाथ संप्रदायी योगियों तथा अन्याय्य वीर, लिगायत और जंगम नामक शैव संप्रदायों और इनके मठों का परिचय देकर वैष्णवों के चतुर्विध संप्रदायों और उनके प्रवर्तकों में स्वीकृत मान्यताओं शारीरिक वेशभूषाओं, अर्चासंबंधी पद्धतियों, नामोपनाम की विधियों, गहियों और अखाड़ों का संक्षिप्त उल्लेख करने के उपरांत

देवालयीय परंपरा के उपादानों, आलय और गृह से संबद्ध द्विविध अर्चाओं और फिर राम और कृष्ण की षोडशोपचार नक्तंदिनी परिचर्याओं आदि का विश्लेषण कर चतुर्विध धार्मिक जीवनो के संघटन का सांस्कृतिक महत्व सिद्ध किया गया है। यहीं यह भी बताया गया है कि सिद्ध संतों की परंपरा ने निर्गुणभक्ति संप्रदाय के रूप में, श्रौतस्मार्त धारा ने मर्यादावादी भक्तों के वर्ग में, आगमिक परंपरा ने शास्त्रीय भक्तसंप्रदायों के परिवेश में और देवालयीय धारा में घुलमिले विजातीय तत्वों ने रसवादी भक्तों के आकार में चरम परिणति प्राप्त की।

भक्तिरस की शास्त्राय और साहित्यिक स्थापना के प्रसंग में मम्मट अध्याय की अवतारणा हुई है। रसमीमांसा के प्रसंग में भट्टनायक के मत 'भुक्तिवाद' को सांख्यदर्शन पर अवलंबित माननेवाले वामनाचार्य के मत का खंडन करते हुए उन्हें मीमांसक सिद्ध कर रस-प्रक्रिया में मीमांसकों के प्रभाव से लोकमंगल की, और अद्वैतवादियों के प्रभाव से आनंदोपलब्धि की प्रतिष्ठा बताई गई है। केवल भक्तियोग में परमात्मनिष्ठ आनंद की स्थिति माननेवाले शैवसिद्धांती वैशेषिकों के मत का हवाला देते हुए भक्तिरस के सर्वातिशायी महत्व और उसके शास्त्रीय स्वरूप पर जम कर लिखा गया है जिससे आचार्य मम्मट की भक्तिविषयक 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः, भावः प्रोक्तः' वाली मान्यता के पैर लड़खड़ा उठे हैं। विद्वान् लेखक ने सूर के काव्य पर लगाए गए आक्षेपों का कारण एकमात्र भक्तिगत दृष्टिभेद बताते हुए आलोचकों को तत्कालीन भक्तसमाज के मानसिक परिपार्श्व में उक्त काव्य के अध्ययन का परामर्श दिया है<sup>१</sup> जो सर्वथा प्रशंस्य है।

अष्टम अध्याय में सगुण भक्ति साहित्य में पाए जानेवाले त्रिविध काव्य-रूपों की चर्चा करते हुए तत्कालीन कृतियों, संगीत, चित्र, मूर्तिकलाओं और शास्त्रों को भी प्रभावित करनेवाली सांस्कृतिक पीठिका का सुंदर विवरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि इन सब में नवीन गति और धार्मिक भाषा के आगमन का कारण देवालयीय परंपरा ही है।

नवम अध्याय ढाई पृष्ठों और १ प्रघट्टकों में ही 'उपसंहार' नाम से समाप्त कर दिया गया है जो कि प्रबंधगत उपलब्धियों का संक्षिप्त व्योरा दे देने के कारण स्वयं में महत्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध को ध्यान से पढ़ने पर दो तथ्य सामने आते हैं, प्रथम यह कि डा० वर्मा के पास अपनी

विचार सामग्री को प्रमाणित करनेवाले तथ्यों का अनंत भंडार है और आश्चर्य यह है कि सभी के सभी तथ्य विश्वसनीय हैं। प्रत्येक तथ्य से उनके तत्वानुसंधान की दिशा चमक उठी है, प्रस्थापना को बल मिला है और भाषागत काठिन्य समाप्त हो गया है।

दूसरा यह है कि सगुण भक्तिकाव्य के अंदर कृष्णाश्रयी शाखा से संबद्ध काव्यकृतियों का इतने व्यापक और उदार धरातल पर निष्पत्ति और सही सही मूल्यांकन इस ग्रंथ से पूर्व कदाचित् कहीं हुआ भी है ! मुझे स्मरण नहीं आता ।

पारिभाषिक शब्दसूची का अभाव इस प्रबंध में अवश्य खटकता है और शुद्धिपत्र के होते हुए भी वर्तनी की अशुद्धियों का पाया जाना बुरा लगता ही है, पुराणाकृत ( उपोद्घात पृ० १५ ), वैशिष्टिय ( पृ० २१ ), वल्भाचार्य ( पृ० २६ और १५५ ), निस्कर्ष ( पृ० २६८ ) आदि शब्द हमारे कथन का समर्थन करने के लिये पर्याप्त हैं किंतु इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रस्तुत प्रबंध लेखक के गहन अध्ययन और दृढ़ अध्यवसाय का परिचायक होने के साथ ही अनुसंधान कार्यों के सभी प्रतिमानों की दृष्टि से सर्वथा प्रशंसनीय है। निःसंदेह इस सुंदर प्रबंध की रचना के लिये डा० वर्मा साधुवाद के पात्र हैं।

## कूटकाव्य : एक अध्ययन'

डॉ० मनमोहन गौतम

प्रस्तुत ग्रंथ पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत 'स्टडीज इन कूट पोयट्री विद स्पेशल रिफरेंस टु सूरदासाज कूट लिखिस' नामक अंग्रेजी शोधनिबंध का हिंदी रूपांतर है। 'कूटकाव्य' एक दुरूह रचना है। जटिलता के द्वारा आनंद की सृष्टि करने का स्पष्ट मंतव्य कूटकाव्यकार का होता है। कूट रचना का मर्म जान पाना, इसी लिये, सामान्य पाठक की सामर्थ्य से परे होता है। संस्कृत और हिंदी में इस प्रकार की रचनाएँ होती थीं। सूरदासजी ने कूटपद रचना में विशेष रुचि प्रदर्शित की। डा० शर्मा के मत में 'सूर के द्वारा कूटपद रचना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।' दुरूह होने के कारण सूरदासजी के कूट पदों का सम्यक् अध्ययन सूर साहित्य के विशेष अध्येता तथा अनुसंधाता भी नहीं करते और कूट पदों में निहित रत्नराशि प्रायः अछूती रह जाती है। इसलिये इस विषय पर किया हुआ गवेषणात्मक अध्ययन एक स्तुत्य प्रयास है।

यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में तीन अध्याय हैं जिनमें कूटकाव्य का उद्भव और विकास, कूटकाव्य का स्वरूप, प्रयोजन और भेद तथा कूटकाव्य की परंपरा प्रस्तुत है। द्वितीय भाग में भी तीन ही अध्याय हैं जिनमें सूरदासजी के दृष्टकूटों का अध्ययन है। इनमें सूर के कूट पदों का सर्वेक्षण, वर्णविषय और काव्यकला पर विवेचन दिए गए हैं। इनके अतिरिक्त दो परिशिष्ट हैं जिनमें सूर के कूटपदों के संग्रह ग्रंथ तथा सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी के कूटपदों का मूल पाठ दिया गया है। अंत में सूरसागर और साहित्यलहरी के कूटपदों की अकारादि क्रम से अनुक्रमशिका दी गई है।

ग्रंथ के प्रथम अध्याय में विद्वान् पंडित ने 'कूट' शब्द की व्युत्पत्ति और इतिहास पर प्रकाश डाला है। शर्माजी के मत में ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्राप्त प्रहेलिका मंत्र जिन्हें विटरनिट्ज ने 'रिडल हिम्स' कहा है, कूट के प्राचीनतम रूप हैं। इस प्रकार वेदों में प्राप्त समाधिभाषा, उपनिषदों के

ब्रह्मोद्य ग्रंथ, ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के वाक्कूट, भागवत के वाणीकूट, महाभारत के ग्रंथग्रंथि, अग्निपुराण के कुतूहलाध्यायी, काव्यमीमांसा के वैनोदिक, आलंकारिकों के वक्रोक्ति और प्रहेलिका, सिद्धों की संघा भाषा तथा नाथपंथियों और कबीर आदि संतों की उलटवांसी को दृष्टकूट के ग्रन्थ अभिधान बतलाते हुए कूटकाव्य की एक अविच्छिन्न परंपरा की ओर इंगित किया है। द्वितीय अध्याय में कूटकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में उन विशेषताओं अथवा अवच्छेदक गुणों को बतलाया गया है जिनके द्वारा काव्य के अन्य रूपों से इसका भेद जाना जा सकता है। कूटकाव्य की विशेषताओं पर सोदाहरण विवेचन दिए गए हैं। लक्षण के उपरांत कूटकाव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए शोधकर्ता ने कहा है कि 'कूट' के प्रयोजन हैं कुतूहल या विस्मय उत्पन्न करना, काव्य में कौशल और विदग्धता का प्रदर्शन, रहस्यात्मक अथवा दार्शनिक अनुभूतियों की व्यंजना और दूसरों से गुप्त रखने की इच्छा। इनके लिये ग्रंथों में प्राप्त संदर्भों के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं जो विश्वसनीय हैं। कूटकाव्य का वर्गीकरण भी युक्तियुक्त है। स्वरूप की दृष्टि से मुख्य भेद है—शब्दाश्रित और अलंकाराश्रित; तथा प्रयोजन की दृष्टि से रहस्यात्मक और चमत्कारक। इस प्रकार कहा गया है कि दृष्टकूटों का प्रयोग कुतूहल एवं विदग्धता प्रदर्शन के लिये और साधना की पद्धति में दार्शनिक अभिव्यंजना के ग्रंथ में हुआ था। सूरदासजी ने अपने कूटपदों में इसी परंपरा का अनुगमन किया है। तृतीय अध्याय में संस्कृत, अपभ्रंश और सूरपूर्व हिंदी साहित्य के कूटकाव्य का इतिहास दिया गया है। जो कुछ प्रथम अध्याय में सार रूप में कहा गया था उसे ही इस अध्याय में विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार ग्रंथ का पूर्वाद्ध विद्वत्तापूर्ण, गवेषणात्मक और उपयोगी है।

ग्रंथ के द्वितीय भाग में सूरदासजी के दृष्टकूट पदों का विवेचन है। लगता है यही शोध का प्रमुख विषय है, पूर्वाद्ध इसी की भूमिका है। इस भाग के प्रथम तथा ग्रंथ का चतुर्थ अध्याय सूरदास के कूटपदों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है। सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी के दृष्टकूट पदों की पदरचना और प्रामाणिकता के संबंध में अन्यत्र कहे गए तथ्यों का सार प्रस्तुत किया गया है। साहित्यलहरी के पदों तथा उनके क्रम के संबंध में डा० शर्मा ने विशेष रुचि दिखाई है। उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा सरदार कवि द्वारा संपादित साहित्यलहरी की प्रतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। दोनों प्रतियों का यह क्रम एक नहीं है। सरदार कवि संपादित साहित्य-

लहरी की पद सं० २० भारतेन्दुवाली प्रति में नहीं है। यह पद प्रतिवस्तूपमा अलंकार का उदाहरण है। अतः शर्माजी ने भारतेन्दु संपादित साहित्य-लहरी को स्वीकार करते हुए भी इस पद को स्वीकार किया है। शर्माजी ने अंत के पदों में क्रमपरिवर्तन भी किया है। इस प्रकार शर्माजी के मतानुसार मूल साहित्यलहरी का पदक्रम न तो सरदार कविवाली प्रति का था और न हरिश्चंद्रवाली प्रति का। फिर भी साहित्यलहरी के विषयक्रम को ही प्रधानता देकर ग्रंथ का पदक्रम वह नहीं बनता जो डा० शर्मा ने निर्धारित किया है। इस दृष्टि से सरदार संपादित साहित्यलहरी ही अधिक मान्य है। भारतेन्दुवाली प्रति के ३० वें और ३२ वें पद विषय की दृष्टि से अप्रासंगिक हैं। इनमें न कोई अलंकार है और न नायिकाभेद। इन्हें परिशिष्ट में ही रखना चाहिए जैसा कि सरदारवाली प्रति में है। सरदारवाली प्रति में ३० वाँ पद १६ वाँ पद ही है। अंतर यह है कि यहाँ अंत में पर्यायोक्ति का उल्लेख है। भारतेन्दुवाली प्रति में पर्यायोक्ति जैसा महत्वपूर्ण अलंकार नहीं है। कदाचित् भारतेन्दुजी ने पुनरुक्ति देखकर उसे ग्रहण नहीं किया किंतु १६ वें पद में मानवती नायिका के उदाहरण रूप में प्राप्त पद में पर्यायोक्ति देखकर कवि ने उसका यथास्थान द्वारा ग्रहण किया है। उसी प्रकार भारतेन्दुवाली प्रति का २६ वाँ पद सरदारवाली प्रति में ७१ वाँ है जो कि अलंकारक्रम में सर्वथा उचित है। इस प्रकार अलंकारक्रम की दृष्टि से सरदारवाली प्रति के १ से १०८ पद क्रमानुसार हैं। पदसंख्या १०६ दोनों प्रतियों में रचनाकाल संबंधी है। इसके उपरान्त सरदारवाली प्रति का पद ११० और भारतेन्दुवाली प्रति का पद ११८ जीवनी विषयक प्रक्षिप्त पद है। इन पदों को ग्रंथ के अंत में होना चाहिए। सरदार के बीच के पद संख्या १११-११२-११३ अथवा भारतेन्दुवाली प्रति के ११०-१११-११२ प्रेयस्, उर्जस्वि और समाहित अलंकार के उदाहरण हैं। अतः इन तीनों को रचनाकाल वाले पद से पूर्व होना चाहिए। सारांश यह कि डा० शर्मा ने साहित्यलहरी के पदक्रम को ठीक करना तो चाहा है किंतु विषयक्रम पर विशेष बल नहीं दिया अतः सिद्धांत पक्ष का निर्वाह न हो सका। इस संबंध में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा संपादित साहित्यलहरी का पदक्रम और उसकी भूमिका अष्टम्य है।

ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में सूक्त दृष्टिकोणों का वर्णविषय प्रस्तुत है।

सूरसागर के सभी छष्टकूट पदों की टीका उपलब्ध नहीं है। डा० शर्मा ने चुने हुए कुछ पदों की निजी व्याख्या की है। इनमें एक पद है—

अब मेरी राखो लाज मुरारी।

संकट में इक संकट उपज्यो कहत मिरग सों नारी॥

और कछु हम जानत नाहीं, आई सरन तिहारी।

उलटि पवन जब बावर जारयो, स्वान चलयौ सिर झारी॥

नाचन कूदन मृगिनी लागी, चरन कमल पर वारी।

सूर स्याम प्रभु अविगत लीला, आपुहि आपु संभारी॥

इस पद की व्याख्या में डा० शर्मा ने पृष्ठ १२५ पर लिखा है—‘नारी मृग से कहती है—एक संकट में दूसरा संकट उत्पन्न हो गया है। मुझे और कुछ भी मालूम नहीं है, मैं तो तुम्हारी शरण हूँ। जब पवन उल्टी चली और उसने सिंह को जला दिया तो कुत्ता सिर झाड़ कर चला। मृगी नाचने कूदने लगी। यहाँ जीवात्मा मृग है, बुद्धि नारी है। जगत् की जटिलताओं से मुक्त होने पर बुद्धि भगवान् के चरणकमल पर न्योछावर हो जाती है।’

कैसी हास्यास्पद जोड़गाँठ है। अर्थ कितना स्पष्ट है—कहाँ मृग और कहाँ नारी? संकट में दूसरा संकट क्या है? पवन कैसे चली? पवन ने सिंह को कैसे जलाया और कुत्ता भागा। भला इन सबका आपस में क्या संबंध? विद्वान् शोधकर्ता ने क्या व्याख्या प्रस्तुत की? बात बिल्कुल सीधी थी। कवि ने प्रभु की कृपा के संबंध में एक दृष्टांत की कल्पना की है। एक आसन्न-प्रसवा मृगी कुत्ते के आक्रमण को देखकर अपने मृग से कहती है कि संकट में दूसरा संकट उत्पन्न हुआ। अब मैं भाग नहीं सकती। वह प्रभु की शरण जाती है परिणाम यह होता है कि उल्टी हवा चलती है। जंगल में दावाग्रि (दावर, बावर का पाठांतर) लगती है और कुत्ता भाग जाता है। मृगी प्रसन्न होकर प्रभु की शरणागत वत्सलता पर निछावर होती है।

वर्ण्यविषय के वर्गीकरण में विनय के पद, वात्सल्य के पद, मधुरा भक्ति के पद दिए गए हैं। इनमें पद तथा उनकी व्याख्या की गई है। इन व्याख्याओं में मौलिकता शून्य है क्योंकि दिए हुए पदों की व्याख्या पहले ही उपलब्ध थी और वही अक्षरशः प्रस्तुत है। सूरसारावली के उन कूटपदों को यहाँ स्थान नहीं मिला है जिनकी व्याख्या कहीं उपलब्ध नहीं है। सूरसागर और साहित्यलहरी के छष्टकूटों के साथ सारावली के कतिपय कूटपदों को यथास्थान देना चाहिए था। इसी अध्याय के अंत में काव्य के उपादानों का जो विवेचन दिया गया है उसमें न तो शास्त्रीय पक्ष की गहरी पैठ है और न

भक्तिनिर्ूपण में भ्रलंकार और नायिकाभेद की आवश्यकता पर प्रकाश ही डाला गया है । पृष्ठ १७५ पर उल्लेख है—‘खंडिता नायिका का भी एक उदाहरण देखिए’ यह उदाहरणवाला पद साहित्यलहरी का है । इस पद में खंडिता का कोई शास्त्रीय लक्षण नहीं मिलता । इसमें ताल सूख जाने पर कमल को छोड़कर उड़ जानेवाले भोरों के व्याज से नायिका नायक की निंदा करती है । किंतु खंडिता नायिका तो वहाँ होती है जहाँ वह सारी रात्रि नायक की प्रतीक्षा करती है और प्रातःकाल जब नायक के दर्शन होते हैं तो उसके बदन पर परनारी संसर्ग के चिह्न दिखाई पड़ते हैं जैसे—

तहँइ जाहु जहँ रैन बसे हौ ।

काहे कौ दाहन कौ आए, अँग अँग चिन्ह लसे हौ ॥

अरगज अंग मरगजी माला वसन सुगंध भरे हौ ।

काजर अधर कपोलनि वंदन लोचन असन धरे हौ ॥

पलकनि पीक मुकुर ले देखौ ये कौनहीं करे हौ ।

‘सूरदास’ प्रभु पीठि कलय गड़े, नागरि अंग भरे हौ ॥

—सूरसागर, पद ३१२० ।

तात्पर्य यह कि विद्वान् शोधकर्ता ने शास्त्र के निकष पर वैज्ञानिक परीक्षा नहीं की ।

ग्रंथ के अंतिम अध्याय में काव्यकला का विवेचन है । शोधकर्ता ने काव्यकला के अंतर्गत राधाकृष्ण का चरित्रचित्रण, भावों और रसों की अभिव्यंजना, सौंदर्य भावना, कल्पनाशक्ति, विशिष्ट प्रतिपादन शैली और व्यंजनाकोशल रखा है । एक तो विचारणीय यह है कि क्या चरित्रचित्रण काव्यकला का अंग है ? दूसरे कृष्ण और राधा का जो चरित्रचित्रण प्रस्तुत किया गया है वह दृष्टकूट पदों के अध्ययन से संपन्न ही नहीं है । सूरसा-  
रावली, साहित्यलहरी और सूरसागर के अधिकांश कूट पद राधाकृष्ण प्रणय-  
लीला प्रसंगों पर ही लिखे गए हैं । इनमें राधाकृष्ण का जो चरित्र उभारा गया है उसका दिग्दर्शन ग्रंथ में नहीं मिलता । सूरसागर के समग्र अध्ययन के परिणामस्वरूप राधाकृष्ण का जो चरित्रांकन संभव है उसी का आभास दिया गया है । हाँ, राधा के प्रसंग में विद्यापति, चंडीदास और जयदेव की राधा से तुलना अवश्य की गई है । काव्यकला के प्रकरण में इस प्रकार का विवेचन वैज्ञानिक दृष्टि से विषयंतर ही लगता है ।

भाव और रसध्वनि के अंतर्गत भक्ति वात्सल्य, शृंगार और अद्भुत रसों के उदाहरण दिए गए हैं । अद्भुत का विस्मय भाव दृष्टकूट की मूल-

प्रेरणा है। विनय, वात्सल्य, गोचारण, दानलीला तथा प्रणयलीला के प्रत्येक दृष्टकूट में अद्भुत की उपस्थिति अनिवार्य है। इस अद्भुत रस का सर्वांग विवेचन दृष्टकूट के भावविवेचन में अपेक्षित था किंतु शोधकर्ता ने केवल ६-७ पंक्तियों में ही निर्देश मात्र करके अपने कर्तव्य कर्म की इतिवृत्ति कर दी है। इसी प्रकार सौंदर्यानुभूति और कल्पना शक्ति, प्रकृति, शैली और वर्णनकोशल, अलंकार और भाषा शीर्षकों के विवेचन सतही हैं। सूर के कूट पदों का सीमित क्षेत्र पूर्ण अध्ययन ( एग्जास्टिव स्टडी ) की अपेक्षा रखता है किंतु शोधकर्ता ने ऐसा दृष्टिकोण नहीं रखा।

उपसंहार में शोधकर्ता के पांडित्य और चिंतन का प्रतिफलन अवश्य मिलता है। सार रूप में शोध के निष्कर्ष इस प्रकार कहे गए हैं—

१. दृष्टकूट काव्य का मूल वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में है।

२. शास्त्रीय दृष्टि से कूटकाव्य चित्रकाव्य का भेद है, तथापि अधिकांश रचनाओं में भावव्यंजना विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई है। इसकी गणना ध्वनि अथवा उत्तम काव्य में की जा सकती है।

३. सूर के द्वारा कूटरचना पूर्णता पर पहुँच गई।

४. सूर ने दृष्टकूट पदों में दार्शनिक और भक्ति विषयक आदर्शों के साथ साथ काव्यशास्त्रीय आदर्शों के सफल निर्वाह का भी सचेष्ट प्रयत्न किया। सूरदास भक्ति के शुष्क क्षेत्र को भावोद्रेक की सरस धारा से आप्लावित करते और विलासपूर्ण कामुकता के असंयत रूप को उज्ज्वल बनाते हैं।

५. नायपंथियों और संतों की गूढ़ अभिव्यंजना और विद्यापति की साहित्यिक समृद्धि का समन्वय सूरदासजी ने कूट पदों में प्रस्तुत कर दिया। इस संबंध में डा० शर्मा की स्वरचित संस्कृत प्रशस्ति प्रशंसनीय है—

नाथान् गता मैथिल कोकिलस्य गुणान् भुङ्क्ते किल कूटगीतिः।

उपेत्य सूरं तु महाकविं सा द्विसंश्रयां प्रीतिमवाय नूनम्॥

# कृत्तिवासी बँगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन'

डॉ० इंद्रनाथ चौधुरी

आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में तुलनात्मक विचारपद्धति अपेक्षाकृत नवीन है एवं इस युग में इसका विशेष प्रसार दिखाई पड़ता है। आज देश और काल की सीमा संकुचित हो गई है। देश का एक कोना दूसरे कोने से परिचित हो रहा है, एक भाषाभाषी प्रांत के आँगन में दूसरे भाषाभाषी प्रांत का साहित्य स्थान पा रहा है एवं एक से दूसरा प्रभावान्वित हो रहा है। किंतु प्राचीन युग में जब यातायात की कठिनाई थी तब देशकाल की सीमा भी दुर्लभ्य थी, परंतु दुर्लभ्य होते हुए भी मानव चित्त और उसकी चिंतन एवं सृजनात्मक शक्ति लगभग एक जैसी रही। इसी लिये आज जब हम दो विभिन्न भाषाओं में लिखी गई एवं बिल्कुल विभिन्न सांघलिक परिस्थितियों में विकसित तुलसी रामायण एवं कृत्तिवासी रामायण का अध्ययन करते हैं तो इनमें तुलना योग्य बहुत सारे तत्वों का स्वाभाविक रूप से विकास देखते हैं; यद्यपि इन दोनों रामायणों के प्रसंग में इस विकास के कुछ स्वतंत्र कारण और भी हैं। इन दोनों रामायणों की भाषाओं की उद्भावना संस्कृत से हुई है एवं इनकी विषयवस्तु जाने अनजाने वाल्मीकि की रामायण से ( अन्योन्य ग्रंथों से भी ) प्रभावित रही है इसी लिये इनमें तुलनात्मक विवेचन के लिये सामग्रियाँ अधिक दृष्टिगोचर होती हैं। इन सामग्रियों के आधार पर डा० रमानाथ त्रिपाठी ने तुलसी रामायण एवं बँगला की कृत्तिवासी रामायण का तुलनात्मक विवेचन उपस्थित करके तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० रमानाथ त्रिपाठी का आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबंध है। इस ग्रंथ में लेखक ने मध्ययुगीन इन दो विभिन्न भाषाओं में रचित रामायणों की तात्कालिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि का सुविस्तृत विवेचन किया है एवं इस

भालोक में इन दोनों रामायणों में वर्णित समाज जीवन एवं संस्कृति, काव्य-सौष्ठव, वस्तुविन्यास तथा चरित्रचित्रण और दार्शनिक सिद्धांत एवं भक्ति-भावना का सुविस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शोध कार्य की शास्त्रीयता से भलीभाँति परिचित लेखक ने ग्रंथ की रूपरेखा को प्रस्तुत करने, सामग्री के चयन और उसे यथाविध सजाने तथा उसके विचारविश्लेषण में विवेक बुद्धि, सत्यता तथा व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है।

संपूर्ण ग्रंथ नौ अध्यायों में विभक्त है। अंत में कृत्तिवास के जीवन-परिचय से युक्त एक परिशिष्ट संलग्न है।

प्रथम अध्याय में ऐतिहासिक तथ्यों के आचार पर बंगला समाज के प्राचीन इतिहास से लेकर कृत्तिवास के युग तक के इतिहास का एक सामान्य सर्वेक्षण प्रस्तुत कर लेखक ने कृत्तिवास के समसामयिक शासक और उनके आश्रयदाता, कृत्तिवास का व्यक्तित्व एवं रामायण लिखने की प्रेरणा का विचारविश्लेषण किया है। प्रेरणा के संबंध में लेखक का निवेदन है कि तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये कृत्तिवास ने अपनी रामायण की रचना की थी। परंतु इस सामाजिक पुनरुत्थान या लोकमंगल का आधार धर्म था एवं कदाचित् वही प्राथमिक उद्देश्य था। धर्मप्रचार के द्वारा वे लोकमंगल का प्रसार चाहते थे इसी लिये उन्होंने लिखा था कि वाल्मीकि रामायण की शिक्षा को जनसाधारण में फैलाने के लिये ही उन्होंने भाषा में रामायण का सृजन किया है :

‘सातकांड कथा ह्य देवेर सृजित,  
लोक बुझाइते कैल कृत्तिवास पंडित।’

इसी अध्याय के अंतर्गत मध्ययुग में घटित उत्तरभारत की ऐतिहासिक ऊथलपुथल, मुसलमानी आक्रमण एवं उनकी हिंसात्मक नीतियों का विवेचन करते हुए लेखक ने तुलसी के समसामयिक शासकों की राजनीति तथा अत्याचारों का विवरण प्रस्तुत किया है एवं इसी आलोक में हिंदू धर्म-भावना के विकासक्रम तथा मानस के प्रेरणास्रोत का उल्लेख किया है। लेखक के अनुसार मुसलमानी अत्याचार एवं उस समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना भले ही तुलसी ने मानस की रचना की हो परंतु यह निश्चित है कि तत्कालीन परिस्थिति को तुलसी ने अवश्य ही प्रभावित किया एवं उस समय के दुःखी हिंदुओं के लिये मानस बहुत बड़े संबल के रूप में था। इस तरह बंगाल और उत्तरभारत के मुस्लिम शासन-काल तक के राजनैतिक एवं सामाजिक इतिहास का सर्वेक्षण प्रस्तुत कर

लेखक ने कृत्तिवास एवं तुलसी की सृजनकला की पृष्ठभूमि तैयार की है। इस अध्याय के अंतर्गत कहीं कहीं अवांतर ऐतिहासिक तथ्यों (?) को राक्षिकृत किया गया है जिनका तुलसी अथवा कृत्तिवासकालीन परिस्थितियों एवं समस्याओं के साथ दूर का भी कोई संबंध नहीं है।

द्वितीय अध्याय में वैष्णव भक्ति के उद्भव और विकासक्रम का विश्लेषण करते हुए डॉ० त्रिपाठी ने उसमें रामभक्ति का स्थान निर्धारित किया है एवं दोनों रामायणों के प्रसंग में उसके विकास का अध्ययन किया है। लेखक ने बड़े ही विस्तार से कृत्तिवासकालीन बौद्ध तांत्रिक साधनाओं से प्रभावित धर्म साधनाओं पर प्रकाश डाला है एवं रामभक्ति का प्रचार कर कृत्तिवास ने किस तरह जनरुचि को परिष्कृत करने और धार्यों द्वारा निर्धारित जीवन मूल्यों के प्रचार करने का प्रयत्न किया था उसका भी सही विवेचन किया है। बंगाल में मर्यादासमन्वित रामभक्ति के कृत्तिवासी रामायण का योग अतुलनीय है और इधर उत्तरभारत में यह श्रेय मानस को प्राप्त है। विकृत गुह्य धर्माचारों से प्रभावित उत्तरभारत में सखी संप्रदाय के नाम पर जो निंद्य (सापेक्षिक) उपासना का प्रचार हुआ था वह तुलसी द्वारा प्रचारित रामभक्ति के मर्यादित रूप के विशद प्रभाव से लुप्तप्राय हो गई। इस अध्याय में कहीं कहीं लेखक के तर्कों में शोधकार्य के अविचलित बुद्धिविवेक के स्थान पर भावुक हृदय की धार बहती दिखाई पड़ती है, उदाहरणतया 'साधारण जनता की बात जाने दीजिए, कालेज के सुशिक्षित लोग भी धार्मिक दृष्टि से रामायण पाठ करते हैं' (पृ० ७०)। तृतीय अध्याय का एक उदाहरण, 'तीन दिन तक दोनों को छटपटा कर चकवा चकवी जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ता होगा। इसी लिये इसे बंगाल में काल रात्रि कहने लगे होंगे क्योंकि इस दिन बंगाली नवदंपति को भी रात्रिकाल का चक्रवाक दंपति बनना पड़ता था' (पृ० १०३)।

तृतीय अध्याय में इन दोनों रामायणों के युगीन समाज एवं संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में लेखक ने विशेष परिश्रम किया है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर इन रामायणों में प्रतिबिंबित सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लेखक ने विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचय दिया है। सामाजिक चित्रण में दोनों कवियों के आधार पर वर्णव्यवस्था, वर्णसंघटन, समाज में नारी का स्थान, पर्दाप्रथा तथा विभिन्न लोकरीतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। बंगाल की लोकरीतियों को समझने में शोधकर्ता ने

जो सफल प्रचेष्टा की है वह प्रशंसाहर्ह है। धार्मिक मान्यताओं के चित्रण में लेखक ने कृत्तिवास और तुलसी की पंच देवों की उपासना तथा अनार्य साधनाओं की ओर इन दोनों की उपेक्षा का तुलनात्मक विवेचन किया है। शक्तिपूजा के प्रसंग में कृत्तिवास रामायण में वर्णित राम की दुर्गापूजा के संपूर्ण संदर्भ की लेखक ने कोई आलोचना नहीं की है। कृत्तिवास की रामायण में बड़े विस्तार से इस प्रसंग का वर्णन है। किस तरह राम ने देवी का अकालबोधन किया एवं पूजा प्रारंभ की। किस तरह देवी ने पूजा के १०८ नीन पद्यों ( श्वेत पद्य नहीं, पृष्ठ २१६ ) में से एक चुरा लिया एवं राम ने अधीर होकर एक नेत्र को पद्म के स्थान पर चढ़ा देना चाहा ( निराला ने इसी प्रसंग को लेकर 'राम की शक्तिपूजा' रचना की है )—

नील कमलाक्षि मोरे बले सव्वर्जन ।

युगल नयन मोर फुल्ल नीलोत्पल ॥

संकल्प कवि पूर्ण बुझिये सकल ।

एक चक्षु दिव आमि देवीर चरणे ॥

‘अकाले शरते कैल चंडीर बोधन’ का यह संपूर्ण प्रसंग एक ओर जहाँ महत्वपूर्ण है वहीं दूसरी ओर बहुत ही विवादास्पद है। ‘दुर्गापूजा पद्धति’ में इसका उल्लेख इसकी प्राचीनता का प्रमाण है—

रावणस्य बधार्थाय रामस्यानुग्रहाय च ।

अकाले ब्रह्मणा बोधो देव्यास्त्वै कृतः पुरा ॥

परंतु वाल्मीकि ने इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं किया है, कदाचित् इस प्रसंग की राम के काव्यगत चरित्र के विकास ( जो वाल्मीकि का प्रमुख उद्देश्य रहा है ) के लिये कोई आवश्यकता नहीं थी। तुलसी ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है, कदाचित् इससे परब्रह्म राम की महिमा को दुर्गादेवी के सम्मुख क्षीण करना होता। कृत्तिवास ने, इसके विपरीत, राम और दुर्गा दोनों के मुख से एक दूसरे की प्रशंसा कर रामभक्ति एवं दुर्गाभक्ति के मध्य समन्वय करना चाहा है। जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि शोध की दृष्टि से इस प्रसंग की विश्लेषणात्मक आलोचना की अत्यंत आवश्यकता थी। लेखक को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए था। यद्यपि चतुर्थ अध्याय में कृत्तिवास पर बंगाली प्रभाव का विवेचन करते हुए लेखक महोदय ने इस प्रसंग की ओर संकेत अवश्य किया है, परंतु वह संकेत मात्र है, कोई तात्त्विक विश्लेषण नहीं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने कृत्तिवास की मौलिकता को प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया है। शोधकर्ता का यह निष्कर्ष बहुत ही तर्कसंगत है कि कृत्तिवास वाल्मीकि ग्रथवा तुलसी जैसे प्रतिभावान् नहीं हैं किंतु मौलिक अवश्य हैं ( पृ० १४७ )। इस अध्याय के अंतर्गत वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त कृत्तिवासी रामायण के अनेक प्रसंगों के आधार पर दूसरे काव्यग्रंथों का भी उल्लेख किया गया है जिनसे कृत्तिवास प्रभावित हुए थे।

पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में दोनों रामायणों की कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। लेखक ने बड़े ही परिश्रम और विवेक बुद्धि से वाल्मीकि रामायण की मूल कथावस्तु से जहाँ जहाँ इन रामायणों की कथावस्तुओं में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है उसका वर्णन किया है। लेखक के अनुसार कृत्तिवास तथा तुलसी का स्वकीय भक्तिवाद, युगीन परिस्थितियाँ, क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताएँ एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व इस भिन्नता के मूल कारण हैं। मूल में भिन्न दोनों के प्रसंगों की संपन्नता एवं परस्पर नूतनता का भी लेखक ने बारणनिर्देश किया है। दोनों रामायणों के चरित्रचित्रणों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर शोधकर्ता का यह कहना है कि वाल्मीकि के पात्रों में महाप्राणता, कृत्तिवास के पात्रों में सहृदयता तथा तुलसी के पात्रों में महाप्राणता तथा सहृदयता का अपूर्व समन्वय विद्यमान है। इन दोनों अध्यायों में निष्कर्ष के रूप में सापेक्षिक मूल्यांकन नहीं किया गया है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययनों में प्रत्येक अध्याय के अंत में सापेक्षिक मूल्यांकन शोधकर्ता की शास्त्रीयता की दृष्टि से अनिवार्य है।

सप्तम अध्याय में लेखक ने कृत्तिवास तथा तुलसी के दार्शनिक सिद्धांत और भक्तिभावना का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेखक का यह कथन बहुत ही तर्कसंगत है कि कृत्तिवास का उद्देश्य वाक्यसृजन अधिक रहा है। उनके समय तक रामभक्ति का प्रचार हो चुका था अतएव उन्होंने काव्य में भक्ति का समावेश कर दिया ( पृ० २७५ )। यद्यपि यह निश्चित है कि भक्ति की यह संयोजना अनायास ही नहीं हुई है वरन् काव्यसृजन के साथ साथ भक्तिभाव के प्रचार के द्वारा लोकमंगल का प्रसार करना भी कृत्तिवास का उद्देश्य रहा है—

श्री रामेर आगे पाटि हाजार वत्सर ।

अनागत वाल्मीकि रचिल कविवर ॥

वाल्मीकि बंदिया कृत्तिवास विचक्षण ।

लोकत्राण हेतु रचिलेन रामायण ॥

—किष्किःध्या ।

तुलसी का उद्देश्य काव्यसृजन के साथ साथ भक्तिभाव का प्रचार तथा विभिन्न उपासना पद्धतियों में समन्वय स्थापित कर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का आदर्श उपस्थित करना था । रामभक्ति का प्रचार तुलसी का प्राथमिक उद्देश्य था । इन दोनों ने ही निर्गुण सगुण में समन्वय कर सगुण को प्रधानता दी है एवं ज्ञान और भक्ति में समन्वय कर भक्ति को उच्च स्थान दिया है । परंतु जहाँ कृत्तिवास ने यह सब कविहृदय के द्वारा किया है वहीं तुलसी ने आचार्यों की तर्कपुष्ट विवेक बुद्धि का आधार लिया है । कदाचित् इसलिये तुलसी कृत्तिवास से वहीं अधिक विद्वान् और दार्शनिक प्रतीत होते हैं, नहीं तो दोनों के दार्शनिक विचारों में समानता है (पृ० २६६) ।

अष्टम अध्याय में शोधकर्ता ने इन दोनों रामायणों के काव्यसौष्ठव का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है । लेखक का यह कहना ठीक है कि कृत्तिवास में काव्यसौष्ठव की उत्कृष्टता के दर्शन नहीं होंगे । लोकसाहित्य में भी काव्यसौंदर्य होता है किंतु उसमें सजावट बनावट न होकर वर्य-विषय का सीधा निरलंकृत वर्णन होता है । कृत्तिवास के काव्य में ऐसा ही सौंदर्य है, किंतु वह तुलसी के टक्कर का नहीं है (पृ० २८४) । परंतु लेखक को साथ में यह भी कहना चाहिए था कि जिस कृत्तिवासी रामायण का हम आज पाठ करते हैं उसमें कृत्तिवास की अपनी एवं तत्कालीन भाषा ( प्रकारांतर से काव्यसौंदर्य ) वहाँ तक विद्यमान है यह कहना कठिन है । केवल भाषा ही नहीं विषयवस्तु में भी प्रक्षिप्त अंश का अनुप्रवेश कम नहीं हुआ है । यद्यपि यह निश्चित है कि कृत्तिवासी रामायण के विभिन्न विद्वानों द्वारा संपादित जितने भी संस्करण आज उपलब्ध हैं उनमें ८० प्रतिशत अथवा उससे अधिक कृत्तिवास की स्वयं की रचना है एवं उसकी भावव्यंजना, सौंदर्यभावना, रचनाकौशल तुलसी के रामायण की तुलना में निश्चय ही निम्नकोटि का है परंतु यह भी निश्चित है कि वाल्मीकि की काव्यगत दृढ़ता के साथ बंगाली जीवन की सरल कमनीयता को संमिश्रित कर कृत्तिवास ने अपने काव्य को जिस अपूर्व शोभा से श्रीमंडित किया है वह अत्यंत प्रभावशाली है । इस दिशा में मैथिलीशरण गुप्त उनके समकक्ष प्रतीत होते हैं ।

अंतिम अध्याय उपसंहार है । इसमें शोधकार्य की प्रविधि की दृष्टि से कृत्तिवास और तुलसी की रामायणों का साम्य या वैषम्यमूलक सुविरचित सापेक्षिक मूल्यांकन वांछनीय था परंतु लेखक ने इस ओर बिल्कुल ही ध्यान

नहीं दिया। अपने को अपनी भाषा और साहित्य के पूर्वाग्रहों से बचाकर वस्तुपरक तटस्थ दृष्टिकोण की सहायता से जिस खूबी से लेखक ने इन दोनों महाकवियों के आलोच्य ग्रंथों की तुलनात्मक विवेचना की है उससे उपसंहार के अंतर्गत सापेक्षिक मूल्यांकन का अभाव विशेषरूप से खटकता है क्योंकि उनकी सहृदयतासमन्वित विवेच्यबुद्धि को देखकर हम ऐसा अनुमान लगाते हैं कि यदि लेखक सापेक्षिक मूल्यांकन प्रस्तुत करते तो इन रामायणों के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में उनका यह सर्वप्रथम प्रयास आगामी शोधकर्ताओं के लिये कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होता। यद्यपि इस त्रुटि ने ग्रंथ की कोई मर्यादाहानि नहीं हुई है। लेखक ने अपनी तटस्थ, वस्तुपरक विवेक बुद्धि से जो कार्य किया है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है एवं अपनी कृति के द्वारा हिंदी और बँगला के पाठकों के मन में जिस अभेद दृष्टि का उन्मेष किया है उससे उनका यह परिश्रम निश्चय ही सार्थक हुआ है।



# मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव'

डॉ० जगदीश कुमार

आलोच्य ग्रंथ लेखिका के १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध का अदिकल प्रकाशित रूप है, ऐसा प्रतीत होता है। शोधप्रबंध का शीर्षक 'हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव' था। पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर मुद्रित शीर्षक की शब्दावली थोड़ी सी भिन्न अवश्य है, परंतु लेखिका ने प्राक्कथन में इस भिन्नता के प्रयोजन का निर्देश नहीं किया है। अनुमानतः इस भिन्नता का कारण मुद्रण संबंधी उस असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसका साक्ष्य पुस्तक के प्रत्येक मुद्रित पृष्ठ पर उपलब्ध हो सकता है। फलतः इस ग्रंथ की आलोचना शोधप्रबंध की दृष्टि से ही अपेक्षित है।

प्रबंध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में मुख्य रूप से धर्म के चार पक्षों का निर्धारण करने के उपरान्त बौद्ध धर्म के विकास संबंधी सामग्री का संकलन किया गया है। द्वितीय और तृतीय अध्यायों में वैचारिक धरातल न, चतुर्थ अध्याय में नैतिक धरातल से, पंचम अध्याय में साधनात्मक धरातल से और षष्ठ अध्याय में पौराणिक धरातल से आनेवाले बौद्ध प्रभावों का विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में अन्य विशेषताओं के प्रभाव का विवेचन करने के उपरान्त समग्र अध्ययन का उपसंहार किया गया है। प्रभाव संबंधी सभी अध्यायों में पहले बौद्ध तत्वों का विवेचन है और तत्पश्चात् मध्ययुगीन हिंदी साहित्य पर पड़नेवाले उनके प्रभाव का। यह उल्लेखनीय है कि लेखिका ने मध्ययुग को भक्तियुग के 'विशेष अर्थ में प्रयुक्त करके पारिभाषिक बना दिया है' (पृ० ४३)।

लेखिका ने अपने अनुसंधान के दो पक्ष निर्धारित किए हैं—'एक शास्त्रीय या सिद्धांत पक्ष और दूसरा प्रभाव पक्ष' (पृष्ठ ७)। सिद्धांत पक्ष

में बौद्ध तत्वों का प्रामाणिक संकलन और सुबोध विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। इस पक्ष में मौलिकता का समावेश मुख्यतः संयोजनक्रम की नवीनता के रूप में ही हो सका है। कहीं कहीं पर विवेचन के अंतर्गत भी मौलिक स्थापनाएँ करने का प्रयास किया गया है, जो बहुत सफल तो है ही नहीं, विषय की परिधि को देखते हुए अनपेक्षित भी है। प्रभाव पक्ष में विवेचन की मौलिकता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की जा सकती है। स्वयं लेखिका के शब्दों में 'इस प्रकार का प्रयास इस थीसिस के रूप में पहले पहल ही किया गया है। इस संबंध में इससे पूर्व दस पाँच वाक्यों से अधिक किसी ने कुछ भी नहीं लिखा है' ( पृ० ५ )।

बौद्ध प्रभाव के तीन रूप प्रबंध में स्वीकार किए गए हैं—प्रत्यक्ष प्रभाव परोक्ष प्रभाव और प्रभावाभास ( पृष्ठ ४३१ )। लेखिका के अनुसार तृणा, संसार, निर्वाण आदि तत्व और तत्संबंधी दृष्टिकोण मध्ययुगीन भक्तों को प्रत्यक्षतः बौद्ध धर्म से प्राप्त हुए हैं। विकासवाद, नैतिक आदर्श, पौराणिक विश्वास आदि का संक्रमण वैराग्य या जैन धर्मों के माध्यम से माना गया है। वर्णाश्रमविभेद का खंडन, ब्राह्मणधर्म का विरोध आदि कुछ तत्वों में आकास्मिक साम्य स्वीकार किया गया है, जिसे प्रभावाभास कहा जा सकता है। महत्त्व की दृष्टि से प्रभावाभास का स्थान प्रस्तुत अध्ययन में निम्नतम है। इसी कारण लेखिका न जानबूझ कर उसका क्षेत्र पर्याप्त संकुचित कर दिया है। प्रभावाभास के अनेक उदाहरणों पर बलपूर्वक प्रत्यक्ष या परोक्ष बौद्ध प्रभाव निरूपित किया गया है। बौद्ध प्रभाव के प्रति इस पक्षपात के कारण विवेचन की वैज्ञानिकता को घाघात पहुँचा है। प्रबंध में ऐसे अनेक उदाहरण यत्र तत्र बिखरे हुए हैं, जिनपर प्रत्यक्ष या परोक्ष बौद्ध प्रभाव मानने का एकमात्र कारण लेखिका का अपना आग्रह ही है। स्थानाभास के कारण केवल एक दो उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

लेखिका ने कबीर और जायसी के जिन उदाहरणों पर निर्विकल्प रूप से बुद्ध के तत्त्वचिंतन संबंधी मौनःफलंबन का प्रभाव स्वीकार किया है, वह निर्विवाद नहीं है। विवाद का सर्वप्रमुख कारण यह है कि परम सत्य का साक्षात्कार करनेवाले सभी महात्माओं की प्रतिक्रिया अनुभूतिसाम्य के कारण भी समान हो सकती है। फलतः ऐसी किसी भी प्रतिक्रिया पर बाह्यप्रभावपुष्ट प्रमाणों के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। उक्त कवियों के जो उद्धरण प्रबंध में दिए गए हैं, उनका उपनिषदों की

उक्तियों से भी आश्चर्यजनक साम्य है । कबीरदास के उद्धरण में निम्नलिखित दोहा भी है—

जो देखे सो कहै नहीं, कहै सो देखे नाहिं ।

सुनै सो समझावै नहीं, रसना, दृग, सरवन काहि ॥ (पृ० ६६) ।

केनोपनिषद् में भी परमतत्व का वर्णन इसी रहस्यात्मक शैली में किया गया है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ २।३ ।

इसी उपनिषद् में क्रमशः रसना, दृग और श्रवण का कैमर्ष्य भी 'यद्वा-  
चानभ्युदितं' ( १।४ ), 'यच्चक्षुषा न पश्यति' ( १।६ ) और 'यच्छ्रोत्रेण न  
शृणोति' ( १।७ ) कहकर प्रतिपादित किया गया है ।

जायसी का जो उद्धरण दिया गया है, उसके अंत में निम्नलिखित दोहा है—

ना वह भिला न बहरा, ऐसा रहा भरि पूरि ।

दीठित कहँ नीयरे, अंध मूरखहि दूरि ॥ (पृ० १००) ।

इस दोहे का भाव ईशावास्योपनिषद् के निम्नोद्धृत पांचवें मंत्र से  
गृहीत है, ऐसा प्रतीत होता है—

तदेजाति तन्नेजाति तद् दूरे तदन्तिके

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सवस्यास्य बाह्यतः ॥

शास्त्र के इस ऋण को स्वीकार करने के लिये ही सभवतः कवि ने दोहे  
में पहले संकेत दिया है—'जय पुरान महँ लिखा ।' इस ज्ञापन के बाद और  
उद्धृत दोहे से पहले ईश्वर की कर बिना कम, नेत्र बिना दर्शन और कर्ण  
बिना श्रवण आदि क्रियाओं का जो वर्णन<sup>१</sup> किया गया है वह भी श्वेताश्व-  
रोपनिषद् के एक मंत्र<sup>२</sup> से प्रभावित है ।

ऐसे ही अनेक उदाहरण कर्मवाद, स्वप्नवाद, सदाचार, साधना आदि  
से संबद्ध विवेचनों में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं ।

कुछ उदाहरण तो ऐसे भी हैं जिनमें प्रभावाभास का अन्वेषण तक  
असंगत प्रतीत होता है परंतु लेखिका ने प्रयत्नपूर्वक उनमें प्रत्यक्ष प्रभाव  
स्वीकार कर लिया है । मानस का एक उद्धरण है—

इंद्रिय द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ (पृष्ठ १७४)

१. पदमावत, साहित्य सदन, चिरगाँव, के स्तुति खंड का आठवाँ पद्य ।

२. श्वेताश्वरोपनिषद्, ३।१६ ।

यहाँ पर इंद्रियद्वार शब्द उस वैदिक परंपरा से आया है जिसके अनुसार शरीर का वर्णन नव या एकादश द्वारों वाले नगर के रूप में किया जाता है—

१. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।—अथर्व० १०।२।३१ ।

२. नवद्वारे पुरे देही....।—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१८ ।

३. पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।—कठोपनिषद् २।१ ।

प्रस्तुत उद्धरण में इंद्रिय द्वारों और तत्रस्थ देवताओं का जो वर्णन है उसपर स्पष्टतः ऐतरेयोपनिषद् का प्रभाव है । इस उपनिषद् में इंद्रियद्वार के लिये आयतन शब्द का प्रयोग हुआ है ।<sup>१</sup> संभवतः लेखिका ने इस शब्द-साम्य को आधार बनाकर ही प्रत्यक्ष बौद्ध प्रभाव स्वीकार कर लिया है, जो नितांत असंगत है । बौद्ध आयतन का संबंध पंच ज्ञानेंद्रिय और मन से ही है ( पृष्ठ १७१ ) । उक्त उपनिषद् में जिन आयतनों में देवताओं को प्रविष्ट करवाया गया है, उनमें नाभि और शिश्न भी सम्मिलित हैं ।<sup>२</sup> अतः उद्धृत अर्घाली का 'इंद्रियद्वार' वैदिक परंपरा का शब्द है और उसका पर्यायवाची वैदिक आयतन भी बौद्ध आयतन से भिन्न है ।

सुष्ठु प्रतिपादन शैली और वैज्ञानिक शोधप्रक्रिया की दृष्टि से प्रबंध में अनेक न्यूनताएँ हैं । उनके उदाहरण देने से पहले एक एक स्पष्टीकरण आवश्यक है । यह ठीक है कि प्रबंध का क्षेत्र तथ्यान्वेषणात्मक है और विवेचन शैली का स्थान उसमें गौण है, परंतु नितांत उपेक्षणीय नहीं । हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि लेखिका ने शोध संबंधी कुछ अनिवार्यताओं की भाँति उपेक्षा कर दी है ।

१. विवेचन में व्यवस्था और अनुपात का अभाव है । प्रबंध के सिद्धांत पक्ष और प्रभाव पक्ष में महत्त्वक्रम का विपर्यय अत्यंत स्पष्ट है । सिद्धांत पक्ष को अवांछित रूप से अधिक महत्त्व दिया गया है । उदाहरण के लिये वैभाषिकों की धर्ममीमांसा का विवेचन ग्यारह पृष्ठों में किया गया है और मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर उसके प्रभाव का लगभग एक पृष्ठ में (दे० पृ० १६३ से १७४ ) ।

२. दोनों ही पक्षों में अनेक स्थानों पर ऐसे सिद्धांतकथन मिल जाते हैं जिनका पोषण न तो किसी तर्क या विवेचन से किया गया है और न ही किसी उद्धरण या संदर्भ से । दो उदाहरण देखिए—

१. ऐतरेयोपनिषद्, १।२।१-२ ।

२. ऐतरेयोपनिषद्, १।२।४ ।

(क) योगवासिष्ठ बौद्ध धर्म का वैष्णवीकृत रूप है ( पृ० १८३ ) ।

(ख) कृष्ण धारा के कवियों ने प्रज्ञा और उपाय को क्रमशः राधा और कृष्ण बनाकर प्रस्तुत किया है । बौद्धों की प्रज्ञोपायसाधना की तामसिकता उनमें राजसिक बाना पहन कर आई है (पृ० २७३) ।

३. अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति भी दृष्टिगत होती है । हमारा अभिप्राय उदाहरणों की पुनरावृत्ति से नहीं है क्योंकि एक ही उदाहरण का अध्ययन अनेक दृष्टियों से कर लिया जाय तो पुनरुद्धरण दोष नहीं रहता । विषय और विवेचन की पुनरावृत्ति निश्चित रूप से दोष है और प्रबंध की गरिमा के लिये घातक है । प्रस्तुत प्रबंध में इस दोष से बचने का सतत प्रयास नहीं किया गया है । उदाहरणार्थ निर्वाण क दुःखाभाव का प्रभाव दो बार विवेचित है—बुद्ध के प्रसंग में ( पृ० १४२ ) और हीनयान के प्रसंग में ( पृ० १५६ ) ।

४. प्रभावप्रदर्शन का सबलतम माध्यम उक्तिसाम्य है । लेखिका ने अवकाश होने पर भी इस माध्यम का उपयोग नहीं किया है । उदाहरण के लिये पृष्ठ १४५ पर सहजोबाई का एक उद्धरण है—

सहजो लोक परलोक की नहीं वासना जाहि ।

सो वह ब्रह्म स्वरूप है सागर जहाँ समाय ॥

इस उक्ति का धम्मपद के निम्नोद्धृत कथन से आश्चर्यजनक साम्य है, जिसका उद्धाटन लेखिका ने नहीं किया है—

आसा यस्स न विज्जंति अस्मि लोके परमिह च ।

निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥

—ब्राह्मण वग्गो, गाथा २८ ।

अर्थात् इस लोक और परलोक में जिसकी आशा नहीं रह गई है, उस आशारहित और आसक्तिरहित व्यक्ति को ब्राह्मण कहता हूँ ।

५. अनेक स्थलों पर शब्दप्रयोग और वाक्यविन्यास भी दोषपूर्ण है । दो उदाहरण देखिए—

( क ) सम्यक् दृष्टि के बाद संकला नामक अष्टांगिक मार्ग आता है ।

( पृ० ३३६ )

( ख ) यहाँ पर ऐसे प्रयोगों में आत्म का क्या अर्थ है । “कुछ विद्वान् ऐसे प्रयोगों को वैदिकों के आत्मतत्त्व से प्रभावित मानते हैं और कुछ आत्म का प्रयोग अपना लेते हैं ।

६. संदर्भोल्लेख में एकरूपता और सावधानी का अभाव है। दो तान उदाहरण पर्याप्त होंगे—

( क ) एक संदर्भ ग्रंथ है—‘हिंदी की निगुंण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि’ इसका उल्लेख विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में किया गया है—

( अ ) हिंदी की निगुंण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, अप्रकाशित थीसिस ( पृ० ७६ ) ।

( आ ) हिंदी की निगुंण काव्यधारा—डा० गोविंद त्रिगुणायत, डी० लिट्० की अप्रकाशित थीसिस ( पृ० ७८ ) ।

( इ ) हिंदी की निगुंण काव्यधारा ( पृ० ७६ ) ।

( ई ) हिंदी में निगुंण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, अप्रकाशित थीसिस ( पृ० ८० ) ।

( उ ) हिंदी की निगुंण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, ( पृ० ८२ ) ।

( ऊ ) निगुंण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० गोविंद त्रिगुणायत एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ( पृ० ११५ ) ।

( ख ) एक अन्य संदर्भ ग्रंथ है—‘ट्वेंटी फाइव हंड्रेड ईयर्स ऑव बुद्धिज्म ।’ उसके दो रूप देखिए—

( अ ) बौद्ध धर्म के २५ सौ वर्ष शीर्षक अंग्रेजी रचना ( पृ० ५१ ) ।

( आ ) ट्वेंटी फाइव हंड्रेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म ( पृ० ५६ ) ।

( ग ) ग्रंथों और लेखकों के नाम तक ठीक लिखने की चेष्टा नहीं की गई है। उदाहरणार्थ ‘ललितविस्तरः’ के स्थान पर ‘ललित विस्तार’ ( पृ० ८२ ) और अन्यत्र ‘अन यूआन् चुआङ्ज ट्रेवल इन इंडिया’ के स्थान पर ‘अन वान चांग्स ट्रेवल इन इंडिया’ ( पृ० ६४ ), वापट के स्थान पर बापत्य ( पृ० ५६ ), राँकहिल के स्थान पर राखिल ( पृ० ६४ ) को लिया जा सकता है ।

७. पादटिप्पणियों की संख्याओं का विपर्यय या लोप भी यत्र तत्र दिखाई देता है। उदाहरणार्थ पृ० १७६ की पाद टिप्पणियों के क्रमांक ३ और ४ में विपर्यय हो गया है ।

८. आलोच्य प्रबंध की ग्रंथसूची में संदर्भ ग्रंथों का उल्लेख अपूर्ण भी है और अनावश्यक भी। ग्रंथोल्लेख में अपूर्णता इस दृष्टि से है कि ग्रंथों के प्रकाशक, प्रकाशन काल, संस्करण आदि का ध्यौरा नहीं दिया गया है ।

अनेक ग्रंथों का प्रत्यक्ष उपयोग कर लेने पर भी लेखिका ने ग्रंथसूची में उनका उल्लेख नहीं किया है। उदाहरण के लिये धर्म का विवेचन करते हुए उपयोग में लाए गए अनेक पाश्चात्य ग्रंथों को लिया जा सकता है ( दे० पृ० २३-२६ )। ग्रंथसूची में उन ग्रंथों का उल्लेख अनावश्यक है जिनका प्रत्यक्ष उपयोग प्रबंध में न किया गया हो। इस प्रबंध की 'सहायक ग्रंथों की सूची' में ग्रंथों के जिन गौरव ग्रंथों का उल्लेख है, उनमें से लगभग पचास प्रतिशत ग्रंथों का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं हुआ है।

६. मुद्रण की अशुद्धियाँ तो असंख्य हैं। उनके परिमार्जन का कोई प्रयास नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

विषय की इन असंगतियों और शैली की इन न्यूनताओं के होते हुए भी ज्ञान की सीमा का विस्तार करने में प्रबंध का योगदान तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस दृष्टि से शून्यवाद, दुःखवाद, त्रिकायवाद और पौराणिक विश्वासों के प्रभाव का निरूपण उल्लेखनीय उपलब्धि है। इनके अतिरिक्त आचार पक्ष में स्मृति का और साधना पक्ष में त्रिशरण का जो प्रभाव निरूपित किया गया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। स्मृति और सुरति या सुमरनी का सादृश्य तो पर्याप्त विवेचन के उपरांत प्रसिद्ध बौद्ध अध्येता डॉ० भरतसिंह षष्ठाध्याय ने प्रतिपादित किया है।<sup>१</sup>

# हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि'

रमाकांत शुक्ल

एक ओर तो 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' जैसी घोषणाओं ने और दूसरी ओर अपने ग्रंथों को 'प्रसूर्यम्पश्य' रखने की प्रवृत्ति ने जैन मनीषियों और कवियों की मनोभिराम ज्ञानसाधना और काव्यसुधा को बहुत दिनों तक सहृदय समाज के सामने आने से रोके रखा। अभी कुछ वर्षों से जैन साहित्य पर उदारतापूर्वक शोध होने लगा और जैन ग्रंथभंडारों ने भी उस शोध को सफल करने के निमित्त अपना हृदय संकुचित नहीं किया। फलतः जैन साहित्य के महार्घ रत्नों से आलोकित होने का सहृदयचित्तों को अधिक अवसर मिलने लगा। डॉ० प्रेमसागर जैन द्वारा लिखित 'हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि' भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० जैन के शोधप्रबंध का दूसरा खंड है। पहला खंड 'जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि' के नाम से भारतीय ज्ञानपीठ से १९६३ में प्रकाशित हुआ है। उसमें पाँच अध्याय हैं—जैनभक्ति का स्वरूप, जैनभक्ति के अंग, जैनभक्ति के भेद, आराध्य देवियाँ और उपास्य देव। द्वितीय खंड दो विभागों और छह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम विभाग में दो अध्याय हैं—१. जैन-भक्ति प्रवृत्तियाँ और २. जैन भक्त कवि : जीवन और साहित्य। द्वितीय विभाग में चार अध्याय हैं :—३. जैन भक्तिकाव्य का भावपक्ष, ४. जैन भक्तिकाव्य का कलापक्ष, ५. तुलनात्मक विवेचन और ६. हिंदी के आदिकाल में जैन भक्तिपरक कृतियाँ।

प्रथम अध्याय में जैनभक्ति की प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है। पहले 'निष्कल' और 'सकल' के रूप में निगुण और सगुण की मान्यता को जैनभक्ति में प्राप्त दिखाया गया है। लेखक के अनुसार—'निगुण और सगुण में बृहदंतर होने के कारण ही हिंदी के भक्तिकाव्य में दो पृथक् प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।...हिंदी का जैन भक्तिकाव्य 'निष्कल' और 'सकल' के रूप में नहीं बाँटा जा सकता। उसमें दोनों का समन्वय हुआ है। हिंदी

---

१. लेखक : डॉ० प्रेमसागर जैन, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी-५, मूल्य : १२. रुपए।

के जैन भक्त कवियों ने यदि एक ओर सिद्ध अथवा निष्कल के गीत गाए हैं तो दूसरी ओर ग्रहीत अथवा सकल के चरणों में भी श्रद्धापुष्प चढ़ाए। उन्होंने किसी एक का समर्थन करने के लिये दूसरे का खंडन नहीं किया।<sup>१</sup> हिंदी भक्तिकाव्य का ऐसा कोई जैन कवि नहीं जिसमें ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ न पाई जाती हों।<sup>२</sup> इसके अनंतर दिव्य अनुराग, रहस्यवाद, सतगुरु, ब्रह्म की प्रेरणा, पंचकल्याण स्तुतियाँ, दास्यभाव, आराध्य की महत्ता, कीर्तन, स्मरण, दर्शन की महिमा, भक्ति से अंगों की सार्थकता भक्ति के लिये मन को चेतावनी, बावनी और शतक आदि में जैन भक्ति, रूपकों में भक्ति, जैन भक्ति के विशाल स्तंभ : प्रबंध काव्यों एवं जैन भक्ति की शांतिपरकता पर जैन मान्यता के अनुसार प्रकाश डाला गया है। इस विवेचन के अंतर्गत यत्र क्वचित् कबीर, सूर आदि से जैन कवियों की तुलना भी की गई है।<sup>३</sup>

द्वितीय अध्याय में जैन भक्त कवियों के जीवन और साहित्य का परिचय दिया गया है। लेखक ने इस ग्रंथ में उन रचनाओं को छोड़ने का प्रयास किया है, जिनपर गठित विवाद के मध्य से वह किसी ठीक परिणाम पर नहीं पहुँच पाया है।<sup>४</sup> जिन कवियों का इस अध्याय में परिचय दिया गया है वे हैं—राजशेखर सूरि, सधारू, विनयप्रभ उपाध्याय, मेहनंदन उपाध्याय, विद्वगू, सोमसुंदर सूरि, उपाध्याय जयसागर, हीरानंद सूरि, भट्टारक सकलकीर्ति, श्रीपद्मतिलक, ब्रह्म जिनदास, मुनि चरित्रसेन, लावण्य-समय, संवेगसुंदर उपाध्याय, ईश्वर सूरि, चतरुमल, भट्टारक ज्ञानभूषण, भट्टारक शुभचंद्र, विनयचंद्र मुनि, कवि ठकुरसाँ, विनय समुद्र, कवि हरिचंद्र, देवकलश, मुनि जयलाल, भट्टारक जयकीर्ति, श्रीक्षातिरंग गणि, श्रीगुण-सागर, बूचराज, छीहल, भट्टारक रत्नकीर्ति, ब्रह्म रायमल्ल, कुशललाभ, साधुकीर्ति, हीरकलश, पांडे जिनदास, त्रिभुवनचंद्र, कुमुदचंद्र, कवि परिमल्ल, वादिचंद्र, गणि महानंद, मेघराज, सहजकीर्ति, ब्रह्मगुलाल, उदयरज जती, हीरानंद मुकीम, हेमविजय, नंदलाल, कवि सुंदरदास, पं० भगवतीदास, पांडे रूपचंद्र, हर्षकीर्ति, कनककीर्ति, कवि बनारसीदास, मनराम, कुंभरपाल, यशोविजयजी उपाध्याय, महात्मा आनंदधन, जगजीवन, पांडे हेमराज, पं० मनोहरदास, लालचंद लब्धोदय, पं० हीरानंद, रायचंद्र, जिनहर्ष, अचल-

१. हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ १-२।

२. यथा—पृष्ठ २७।

३. भूमिका—पृष्ठ १४।

कीर्ति, रामचंद्र, जोषराज गोधीका, जगताराम, विश्वभूषण, जिनरंग सूरि, भैया भगवतीदास, शिरोमणिदास, घानतराय, विद्यासागर, बुलाकीदास, विनयविजय, देवाग्रह, सुरेंद्रकीर्ति मुनींद्र, खेतल, भाऊ, लक्ष्मीवल्लभ, विनोदीलाल, बिहारीदास, किशन सिंह, खुशालचंद काला, भूषरदास, निहालचंद, पं० दीलतराम जी, भवानीदास एवं अजयराजजी पाटणी । लेखक के अनुसार पं० रामचंद्र शुक्ल जैन रचनाओं से बिलकुल परिचित नहीं हो पाए थे । अतः उनके द्वारा मान्य वि० सं० १४०० से १७०० तक हिंदी साहित्य के भक्तिकाल की परिधि समीचीन नहीं है । लेखक के शब्दों में—‘अभी विविध भंडारों में हिंदी की जैन कृतियों की खोज करते समय विदित हुआ कि हिंदी की जैन भक्तिपरक प्रवृत्तियाँ वि० सं० ६६० से १६०० तक चलती रहीं । ... १५ वीं शती तो जैन भक्ति के पूर्ण जीवन का काल था । मेरी दृष्टि में वह १६ वीं शती तक निरंतर अबाधित गति से चलता रहा । प्रस्तुत ग्रंथ में इन्हीं ४०० वर्षों के जैन भक्त कवियों और उनके काव्य का विवेचन है ।’<sup>१</sup> इन जैन भक्त कवियों के जीवन और साहित्य के परिचय में लेखक ने कवियों की तिथि, स्थान, रचनाओं एवं उनमें वर्णित मनोरम स्थलों का उल्लेख किया है । वस्तुतः ३३३ पृष्ठ का यह परिचयात्मक अध्याय ही इस प्रबंध का सर्वस्फीत एवं महत्वपूर्ण अध्याय है ।

तृतीय अध्याय में जैन भक्तिकाव्य के भाव पक्ष पर प्रकाशक्षेप किया गया है । यद्यपि भाव पक्ष का निरूपण करते समय लेखक ने ‘भक्तिरसामृत-सिंधु’ के विवेचन को ही आधार बनाया है तथापि भक्ति रस से संबंधित पाँच भावों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का क्रम बदल दिया है । उसके अनुसार—‘जैन भक्ति में ‘शांत’ ही सर्वोत्तम है । यहाँ इन्हीं भावों के आधार पर जैन भक्ति का भाव पक्ष उपस्थित किया गया है । भावों का क्रम इस प्रकार है : सत्यभाव, वात्सल्यभाव, प्रेमभाव, विनयभाव और शांतभाव । इनमें आगे आगे विशुद्धता, पाती गई है ।’<sup>२</sup> इन भावों से संबद्ध अन्य सूक्ष्म भावों के विवेचन का भी लेखक ने प्रयास किया है । यथासंभव जेनेतर कवियों से जैन कवियों की तुलना भी की है ।

चतुर्थ अध्याय में जैन भक्तिकाव्य के कलापक्ष पर विचार किया गया है । भाषा, छंद, बलंकार और प्रकृतिचित्रण का कवि ने विवेचन किया है ।

१. भूमिका, पृष्ठ १२-१३ ।

२. पृष्ठ ३६८ ।

पंचम अध्याय में निर्गुनिई संतों और वैष्णव कवियों की जैन कवियों से तुलना की गई है और इस तुलना में लेखक ने, उसके शब्दों में, 'निरंतर निष्पक्ष रहने का प्रयत्न किया है ।'<sup>१</sup>

छठा अध्याय परिशिष्ट है । इसमें हिंदी के प्रादिकाल में रचित जैन भक्तिपरक कृतियों पर विचार किया गया है । श्रीचंद के 'कथाकोष', विनय-चंद सूरि के 'नेमिनाथ चउपई', शीलभद्र सूरि के 'बाहुबलिरास' एवं और भी अनेक कवियों की रचनाओं का दिङ्मात्र परिचय इस परिशिष्ट में दिया गया है । परिशिष्ट के भाग में प्रकांत कवियों की अकारादिक्रम से सूची भी दी गई है ।

इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ के प्रकाशन से चिरकाल से उपेक्षित जैन साहित्य की एक प्रवृत्ति भक्तिभाव प्रकाश में आई है और इस ओर अनुसंधित्सुओं की रुचि के तीव्र होने की संभावना उदित हुई है । डा० जैन को इस ग्रंथ के बनाने के लिये अनेक भंडारों में मनोयोगपूर्वक बैठना पड़ा होगा ! इस सभी के लिये वे अभिनंदनीय हैं । किंतु खटकनेवाली कुछ बातें भी इस ग्रंथ में आ गई हैं जिनका उल्लेख करना, आशा है, पुरोभागित्व नहीं समझा जाएगा ।

लेखक का दृष्टिकोण अभिनिवेशवादी प्रतीत होता है । वह जैनों की उस प्रवृत्ति का ही स्मरण कराता है जो जैन साहित्य में उपलब्ध सामग्री को ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा करती है भले ही इतिहास उसका विरोध करे । डॉ० जैन ने भी इसी दृष्टिकोण के वशीभूत होकर 'जैन भक्ति की प्राचीनतम मान्यता स्थापित की है ।'<sup>२</sup> इसी अभिनिवेशवादी दृष्टिकोण के अनुसर्ता होकर वे ऐसे ऐसे वाक्य अनेकशः लिख गए हैं— 'भूषरदास जैसा प्रसाद गुण कहीं उपलब्ध नहीं होता ।'<sup>३</sup> यों वकालत की दृष्टि से तो इस संसार में कोई भी वस्तु किसी के पूर्ण सट्टा नहीं हो सकती किंतु जहाँ तक ऐसे वाक्यों के भावार्थ का ( अर्थात् वैसा सुंदर प्रसाद गुण कहीं उपलब्ध नहीं होता ) संबंध है तब तो यह वाक्य कोरा भ्रम ही है । भूषरदास की अपेक्षा अनेक हिंदी भक्त कवियों ने अच्छे प्रसाद गुण से समन्वित रचना की है ( जैसे रसखान आदि ने ) । यदि डॉ० जैन का आशय

१. भूमिका, पृष्ठ २० ।

२. हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, भूमिका, पृष्ठ ५ ।

३. वही, भूमिका, पृष्ठ ८ ।

‘जैन भक्त कवियों’ में भूषरदास की रचना को प्रसन्न सिद्ध करना था तो उन्हें प्रति ध्याप्ति को रोकने के निमित्त ‘जैन कवियों में’ और लिखना चाहिए था। इसी प्रकार जैन भक्त कवियों के द्वारा स्वीकृत ‘सतगुरु’ के विवेचन में वे घोटाला कर बैठे हैं। डॉ० जैन की दृष्टि में जैन कवि ही सच्चे गुरुभक्त हैं और कबीर जैसे संत स्वार्थी गुरुभक्त। डॉ० जैन के शब्दों में—‘जैन काव्यों में सतगुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। वहाँ सतगुरु और ब्रह्म में भेद नहीं स्वीकार किया गया है। उन्होंने अर्हंत और सिद्ध को भी ‘सतगुरु’ की संज्ञा से अभिहित किया है। कबीर का गुरु ब्रह्म से पृथक् है। गुरु के द्वारा ही गोविंद मिलता है; अतः कबीर ने गुरु को ब्रह्म से बड़ा कहा है। गुरु के प्रति कबीर का यह दृष्टिकोण स्वार्थजन्य अधिक लगता है, भक्तिपरक कम। दूसरी ओर जो भक्त ब्रह्म को भी ‘गुरु’ कहकर ही पुकारता है, उसकी गुरु-भक्ति में संदेह नहीं किया जा सकता। जैनकवि गुरुभक्त थे। उन्होंने पंचपरमेष्ठी को ‘पंचगुरु’ कहा है। पंचपरमेष्ठी में अर्हंत सिद्ध शामिल हैं, आचार्य उपाध्याय तथा साधु भी। साधु यदि सम्यक्त्वी है तो गुरुपद का अधिकारी है। गुरु वही है जो सम्यक् पथ का निर्देशन करे। सम्यक् पथ का अर्थ है मोक्षमार्ग। उसे वही बता सकता है, जो उसपर चल चुका हो। सच्चा साधु उसपर चलता है और उसके ग्रंथ ग्रंथ से परिचित रहता है। हिंदी जैन कवियों ने ‘गुरु’ को मोक्षमार्ग का प्रकाशक कहा है।

कबीर ने गुरु की शक्ति की बात तो बहुत की किंतु उसके प्रति शिष्य की अनुरागात्मक श्रद्धा तो जैसे वहाँ अभाव ही है। उधर जैन काव्यों की गुरु-भक्ति में अनुराग को पर्याप्त स्थान मिला। जैन शिष्य ने गुरु के मिलन और विरह दोनों के ही गीत गाए। ‘‘‘गुरु अत्यधिक उदार होता है।’

यहाँ विचारणीय यह है कि गुरु साध्य है या साधन? भक्ति साध्य में होती या साधन में? साध्य और साधन की भक्ति में कुछ अंतर है या नहीं? हमारी दृष्टि में भक्ति साध्य में ही होती है। भक्त का लक्ष्य ईश्वर में परा-अनुरक्ति प्राप्त करना है। गुरु उसका साधन है। अतः साधु, उपाध्याय और ब्रह्म (अर्हंत) एक ही श्रेणी के नहीं माने जा सकते। हाँ, अपने दृष्ट में सभी कुछ देखना स्वीकार्य हो सकता है। इस लिये भक्त कवि अपने दृष्ट को माता, पिता, गुरु, सखा आदि बताते आए हैं। ऐसे स्थानों पर ‘साध्य’ में ही भक्ति है, साधन में नहीं। साधन में श्रद्धा, विनय, सेवा आदि की स्थिति संभव है।

जहाँ, गुरु को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म कहा जाता है वहाँ गुरु साधन नहीं अपितु साध्य होता है। उस साध्य में ही समस्त देवताओं का आवास है। ऐसे स्थानों में 'गुरुभक्ति' व्यपदेश उपयुक्त है। अतः सिद्ध अर्हत या ब्रह्म के गुरुत्व और कबीर के गुरु के गुरुत्व में महदंतर है। पहला साध्य है, दूसरा साधन। पहली गुरुभक्ति नहीं अपितु अर्हत भक्ति है— अर्हत या ब्रह्म का ही एक नाम 'गुरु' भी हो सकता है किंतु साधु उपाध्याय अर्हत सिद्ध नहीं हैं। इनमें कुछ तो अंतर होगा ही। अतः 'ब्रह्म' को 'सत्गुरु' कह देने मात्र से 'ब्रह्म' और 'गुरु' अभिन्न नहीं बन सकते। यदि नाम मात्र के बादरायण संबंध से अभेद स्थापित करना है तब तो 'पंचगुरु' भी 'गुरु' होने के कारण अभिन्न हुए; फिर उनमें पंचत्व का भेद क्यों? इस प्रकार डा० जैन की यह धारणा कि जैन भक्त कवियों में गुरु और ब्रह्म में भेद की स्वीकारोक्ति न होने के कारण वे ही सच्चे गुरुभक्त हैं और अन्य स्वार्थी गुरुभक्त, अधिक हृदयंगम नहीं है। अस्तु, यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि जब कोई किसी का गुणनीर्तन करता है तो स्वतः ही उसका अनुराग व्यंग्य रहता है। अनुरागात्मिका श्रद्धा की स्वशब्दोक्ति अनिवार्य नहीं। अतः कबीर में गुरु के प्रति अनुरागात्मिका श्रद्धा का अभाव देखना भी अभिधा-वादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। डा० जैन के द्वारा पृ० २२७ पर प्रदत्त गुरुभक्ति के दोहे में भी गुरु की शक्ति का ही कथन है। ऐसे विवेचन खींचा-तानी के प्रतीत होते हैं।

दूसरी बात यह है कि लेखक अपनी कृति को नितान्त मौलिक सिद्ध करने की प्रबल आकांक्षा से अभिभूत होकर उपजीव्य लेखकों के प्रति 'नमो-वाक्' नहीं कर सका। १९५६ में ज्ञानपीठ से ही श्रीनेमिचंद्र जैन शास्त्री की 'हिंदी जैन साहित्य परिशीलन (भाग-१)' पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसे लेखक ने देखा अवश्य है किंतु न तो उस पुस्तक के रचयिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और न उसका सहायक ग्रंथ के रूप में उल्लेख ही किया। शास्त्रीजी ने जिस मनोयोग से जैन भक्त कवियों के काव्य का परिशीलन किया है और जैनेतर हिंदी कवियों के काव्य की तुलना करके जैनियों के द्वारा जैनेतर कवियों के भावापहरण का स्पष्ट सहृदयोचित उल्लेख किया है—वैसा डा० जैन जानबूझ कर नहीं कर पाए। उदाहरणार्थ—'अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो'—'भापा नहि जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी

रे’—‘भाप भ्रमविनाश आप आप जान पायी’ आदि पर ‘अपुनपी आपुन ही बिसरी’ आदि का, ‘सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया’ आदि पर ‘माया महा ठगिनी हम जानी’ आदि का, ‘भगवंत भजन क्यों भूला रे’—‘जिनराज ना बिसारो, मति जन्म वादि हारो’ आदि पर ‘भजु मन जीवन नाम सबेरा’—‘नाम सुमिर, पछताएगा’ आदि का, ‘चरखा चलता नाही, चरखा हुमा पुराना’ आदि पर ‘चरखा चले सुरत बिरहिन का’ आदि का, ‘मो सम कौन कुटिल खल कामी, तुम सम कलिमल दलन न नामी’ आदि पर ‘मो सम कौन कुटिल खल कामी’ आदि का, ‘रे मन तेने जन्म अकारथ खोयो’ आदि पर ‘रे मन मूरख जनम गँवायो’—‘रे मन जनम अकारथ जात’ आदि का, ‘जाऊँ कहा तज शरन तिहारे’ आदि पर जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे’ आदि का, ‘अब हम नेमि जी की शरन’ आदि पर ‘मन रे परसि हरि के चरन’ आदि का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।’ कवि बनारसीदास, भूधरदास, दानत राय, दीलतराम, आनंदधन आदि महत्त्वपूर्ण जैन हिंदी भक्त कवियों ने बहुत कुछ कबीर, सूर, मीरा, तुलसी आदि से ऋण लिया है। इस तुलनात्मक अध्ययन को डा० जन इसलिये छुपा गए हैं क्योंकि उन्हें जैन हिंदी कवियों के काव्य को मौलिक और अनुपम सिद्ध करना है। यह निष्पक्षता को बहुत बड़ी चुनौती है।

तीसरे, जैन भक्त कवियों के कलापक्ष का विवेचन करते समय उनके किसी दोष का संकेत डा० जैन ने नहीं दिया। वे सर्वत्र ‘गुणग्रहण कौतुकी’ ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी दृष्टि में, अपने विवेच्य कवियों के किसी दोष को न देखना ‘अलं मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण’ अथवा ‘पूज्य के परीवाद पर कान ठक लेने’ से प्रेरित ज्ञात होता है। यह असंभव नहीं है कि जैन कवियों के काव्य में कुछ दोष भी हो। छंदोभंग और भाषा का अपरिमार्जन तो अनेक कवियों की कृतियों में है। ब्रजभाषा की कविता में ‘स’ के स्थान पर ‘श’ और खड़ी बोली में ब्रजभाषा के क्रिया रूपों एवं अन्य शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा को ‘भाषा तीतर आषा बटेर’ बना देते हैं। भले ही इसका भाषावैज्ञानिक महत्व हो ( डा० जैन ने भाषा पर विचार किया भी है ) किंतु साहित्यिक दृष्टि से यह स्वीक्य नहीं। काव्य का परीक्षण करते समय भाषा के इस अनधिकार पर प्रकाश डालना विवेच्य था

एवं 'दोषा वाच्या गुरोरपि' नियम का आश्रय लेने में विचिकित्सा नहीं करनी चाहिए थी। इसी प्रकार, कुछ जैन कवियों ने जिस संप्रदायवाद का आश्रय लिया उसपर भी डॉ० जैन निरपेक्ष दृष्टि नहीं डाल सके। यह सही है कि अपने इष्ट के अतिरिक्त भक्त और किसी के प्रति अनुरक्त नहीं होता और उसे ही वह सर्वश्रेष्ठ समझता है किंतु सच्चा भक्त 'परेष्टनिदा' का आश्रय नहीं लेता। सच्चे भक्त के लिये सभी इष्टों की छवि भली प्रतीत होती है भले ही उसका मस्तक अपने इष्ट के स्वरूप के ही आगे झुके। तुलसी ने 'कबहुँक हों यहि रहनि रहोंगो' पद में इसी बात का संकेत दिया है। किंतु जैन भक्त कवियों की दृष्टि बौद्धिक अधिक है; अतएव उन्होंने 'संसार के सभी अन्य देवताओं को रागी, द्वेषी, कामी अथवा मानी बताया और जिनदेव को बीतराग और अकषायी।'<sup>१</sup> यह प्रवृत्ति सच्चे भक्त के लिये त्याज्य है चाहे वह किसी धर्म का अनुयायी हो। इससे उसका 'भक्तकवित्व' क्षीण सा होता है 'प्रचारकत्व' पुष्ट। इस प्रश्न पर डॉ० जैन मौन हैं।

चौथे, डॉ० जैन ने कुछ भयंकर निर्णय दे डाले हैं। कहीं वे आचार्य कुंदकुंद को प्रथम शताब्दी को स्वीकार करते हैं<sup>२</sup> और कहीं विमलसूरि को विक्रम की पहली शताब्दी का।<sup>३</sup> सोचने की बात यह है कि यदि विमलसूरि का काल, जैसा कि उसने 'पउमचरिय' में दिया है, विक्रम की पहली शताब्दी ( ६० वि० सं० ) मान लिया जाय और भगवत्कुंदकुंद को ईसा की प्रथम शती में माना जाय तो बहुत बड़ा अनर्थ होता है। इस दशा में भगवत्कुंदकुंद विमलसूरि से उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं जबकि अंतःसाक्ष्य के आधार पर

१. दे० हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ ४०६ पर चानतराय का पद। जैनियों में जैनेतर देवताओं की निंदा की प्रवृत्ति चिरकाल से चली आ रही है। यथा—

'विविहायुहगहियकरा, सब्बे देवा कसायसंजुता।

कामरद्धरागवसगा, निच्चकयमंडलाभरणा ॥'

—विमलसूरि, पउमचरिय १४।६१:१।

'आयुधग्रहणादन्ये देवा द्वेषसमन्विताः ॥

रागिणः कामिनीसङ्गाद् भूषणानाञ्च धारणात्।

रागद्वेषानुमेयश्च तेषां मोहोऽपि विद्यते ॥

तयोर्हि कारणं मोहो दोषाः शेषास्तु तन्मयाः ॥'

—रतिवेण, पद्मपुराण १४।८१, ८२।

- २ जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, पृ० २७।

३. हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, भूमिका, पृष्ठ ८।

विमलसूरि उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं क्योंकि विमलसूरि के 'पञ्चमचरियं' पर भगवत्कुंदकुंद के 'चारित्तपाहुड', 'प्रवचनसार' और उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है यथा—

‘पंचेवणुवयाइं गुणवयाइं हवंति तह तिण्णि ।  
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥  
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य ।  
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं ॥  
दिसविदिसमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।  
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणवया तिण्णि ॥  
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।  
तइय च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहना अंते ॥<sup>१</sup>

‘पंचय अणुवयाइं तिण्णेव गुणवयाइं भणियाइं ।  
सिक्खावयाणि एत्तो चत्तारि जिणोवइट्ठाणि ॥  
थूलयरं पाणिवहं मूसावायं अदत्तदाणं च ।  
परजुवईण निवत्ती संतोषवयं च पंचमयं ॥  
दिसिविदिसाण य नियमो अणत्थदंडस्य वज्जणं चेव ।  
उवभोगपरीमाणं तिण्णेव गुणवया एए ॥  
सामासियं च उववास पोसहो अतिहिसंविभागे य ।  
अंते समाहिमरणं सिक्खासुवयाइ चत्तारि ॥<sup>२</sup>

इसी प्रकार आचार्य कुंदकुंद के 'प्रवचनसार' की 'जं अरणाणी कम्म' आदि गाथा किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ 'पञ्चमचरियं' में उपलब्ध होती है ।<sup>३</sup> ऐसी स्थिति में विमलसूरि का काल ६० वि० सं० नहीं हो सकता ।<sup>४</sup> या तो यह पाठगत अशुद्धि का फल है अथवा अपनी रचना को प्राचीन सिद्ध करने की प्रवृत्ति का द्योतक । इसकी रचनाकाल पर्याप्त पीछे का है जैसा कि

१. चारित्तपाहुड, २३, २४, २५, २६ ।

२. पञ्चमचरियं, १४ । ११२—११५ ।

३. दे० प्रवचन सार, ३—३६ तथा पञ्चमचरियं, १०२—११७ ।

४. विमलसूरि ने पञ्चमचरियं के १०३ उद्देश के १०२ पद्य में ग्रंथरचना का काल ६० वि० सं० लिखा है—

‘पंचेव य वाससया दुसमाए तीस वरिस संजुत्ता ।  
वीर सिद्धिमुषगए तन्नो निबद्धं इमं चरियं ॥’

जाकोबी आदि ने सिद्ध किया है । श्री वी० एम० कुलकर्णी<sup>१</sup> और पं० परमानंदजी शास्त्री ( सरसावा ) ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है ।<sup>२</sup> इसी प्रकार भगवत्कुंदकुंद के काल के विषय में भी मतैक्य नहीं है ।<sup>३</sup> ऐसे अनिर्णीत विषयों पर निष्ठांत निर्णय दे डालना मनीषी अनुसंधाताओं के लिये 'व्याकुलीभावप्रसंग' उपस्थित कर देनेवाला साहस ही समझा जाएगा । इसी प्रकार 'संस्कृत ग्रंथों में आचार्य जिनसेन का 'हरिवंशपुराण' और गुणभद्र का 'उत्तरपुराण' प्रथम कृतियाँ हैं, जिनमें कृष्णकथा आद्योपांत उपलब्ध होती है' सट्ठ वाक्य भी गंभीर अध्ययन और मनन को चुनौती देते हैं ।<sup>४</sup>

पाँचवें, डॉ० जैन का यह कथन—'पहले के आचार्यों ने 'शांति' को साहित्य में अनिवर्चनीय आनंद का विधायक नहीं माना था, किंतु 'पंडितराज' के अकाव्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया । तबसे अभी तक उसकी गणना रसों में होती चली आ रही है'—भी कोई अधिक आप्तवाक्य नहीं है क्योंकि पंडितराज से पूर्व साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि अनेक आचार्यों ने 'शांति' रस को स्वीकार करके उसका यथोचित विवेचन किया है ।<sup>५</sup>

इतने पर भी डॉ० जैन का प्रयास स्तुत्य है क्योंकि इन्होंने अबतक उपेक्षित अनेक कवियों का यथासामर्थ्य परिचय दिया है और अनुसंधित्सुओं को नवीन दिशा दिखाई है । ऐसे परिश्रमसापेक्ष कार्य को देखते हुए कुछ भाषागत दोष नगण्य ही समझे जाने चाहिए, यथा—

(क) 'संसार में जितने भी देवता हैं, सब रागी, द्वेषी, कामी अथवा

१. पउमचरियं, इंट्रोडक्शन पार्ट २, पृष्ठ ८—१५, प्रका० प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी वाराणसी, १९६२ ।

२. 'पउमचरियं का अंतःपरीक्षण', अनेकांत, वर्ष ५, किरण, १०—११ ।

३. वही ।

४. हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, भूमिका, पृष्ठ १० ।

५. दे० साहित्यदर्पण [ विमला टीका ], तृतीय परिच्छेद, २४५—२५०, मोतीलाल बनारसीदास, १९५६ ।

और भी—'रस सिद्धांत', डॉ० नगेंद्र, पृष्ठ २३६-२४८, सन् १९६४ ।

मानी हैं किंतु आप वीतरागी और अकषायी हो<sup>१</sup> ।' ( यहाँ अनुवाद की भाषा में 'आप' के साथ 'हैं' आना चाहिए था । इसी प्रकार 'वीतरागी' की अपेक्षा 'वीतराग' अधिक उचित प्रतीत होता है ) ।

(ख) 'हे भगवन् ! तुम कल्पवृक्ष के समान हो ।.....मेरे हृदय में तो आप तब तक बसो जब तक मुझे मोक्ष न मिल जाय<sup>२</sup> ।' ( यहाँ भी 'तुम' 'आप' और 'बसो' का मिश्रण चित्य है ) ।

(ग) 'बनारसीदासजी के तीन विवाह हुए, जिनमें से प्रथम दो क्रमशः स्वर्गवासिनी हो गयीं<sup>३</sup> ।' ( यहाँ लेखक का आशय प्रथम दो पत्नियों का स्वर्गवास सिद्ध करना है जबकि वाक्य कुछ और ही बोल रहा है ।

(घ) 'जैन गुरु तपस्वी होता है ? वे .....ध्यान धारण कर बैठते हैं<sup>४</sup> ।' ( यहाँ वचन व्यतिक्रम है ) ।

१. हिंदी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ ४०६ ।

२. वही, पृष्ठ ३३६ ।

३. वही, पृष्ठ १७६ ।

४. वही, पृष्ठ ३४२ ।

# हिंदी काव्य में मानव तथा प्रकृति'

डॉ० किरणकुमारी गुप्त

प्रस्तुत ग्रंथ एक शोधप्रबंध है। लेखक ने अत्यंत परिश्रम से मानव तथा प्रकृति के नाना संभावित रूपों का विवेचन और मानव तथा प्रकृति के अन्योन्याश्रित संबंध का व्यापक एवं विशद निरूपण किया है। मानव एवं प्रकृति के मध्य साम्य तथा वैषम्य का सर्वांगीण निरूपण लेखक की मौलिकता का परिचायक है। मानव और प्रकृति परस्पर एक दूसरे के आलंबन, उद्दीपन और उपमान है। इस कथन की सार्थकता के लिये अनेक उदाहरण इस शोधप्रबंध में उपलब्ध हैं। प्रकृति के मानवीकरण तथा मानव के प्रकृतीकरण की प्रस्तावना एक नवीन उद्भावना है। लेखक ने मानव और प्रकृति दोनों को ही समान रूप से एक दूसरे के आलंबन और उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया है, इसी प्रकार ऐसे भी अनेक उद्धरण दिए हैं जहाँ प्रकृति और मानव परस्पर एक दूसरे के उपमेय और उपमान हैं।

मानव के प्रकृतीकरण के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लेखक ने प्रेमचंद के 'गोदान' से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, वस्तुतः हिंदी और अंग्रेजी दोनों के साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग में विशेष प्रयास किया गया है, किंतु उनमें प्रकृतीकरण का संपूर्ण निर्वाह नहीं हो सका है। इस प्रकार के प्रयोगों से युक्त कल्पना जगत् का साहित्य नवीनीकरण बनकर ही रह गया है।

उक्त शोधप्रबंध के नामकरण से साधारणतः यही धारणा होती है कि आदिकाल से अद्यावधि काव्य का समष्टि रूप से मानव तथा प्रकृति से संबंध प्रकट किया गया होगा, किंतु वीरगाथा काव्य को इसमें स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। वस्तुतः वीरगाथा काव्य में भी मानव और प्रकृति का संबंध अविच्छिन्न है। आलंबन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में सूर्य, चंद्र, पशु, पक्षी, लता, गुल्मादि के अत्यंत सजीव प्रयोग हैं। युद्धक्षेत्र, शौर्य और साहस की पृष्ठभूमि में प्रकृति के प्रयोग से 'पृथ्वीराज रासो' का सत्ताइसवां समय अत्यंत प्राणवान् हो उठा है। संयोगिता का रूपचित्रण भी प्रकृति के माध्यम से

अत्यंत प्रभावशाली हो गया है। 'बीसलदेव रासो' में भी प्रकृति के रीढ़ एवं सौम्य स्वरूप के चित्रण के अतिरिक्त राजमती का विरहवर्णन प्रकृति-चित्रण का एक उत्कृष्ट स्थल है। फिर किस आधार पर वीरगाथा काल को बहिष्कृत कर दिया गया—कारण अज्ञात है।

ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में भाव की परिभाषा तथा व्यापकता का मनो-वैज्ञानिक विचार किया गया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में स्थायी भाव तथा स्थायी भावों की परिपुष्टि द्वारा जो रस का परिपाक होता है उसका स्पष्ट रूपेण पृथक् विवेचन नहीं हुआ है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में रस के समकक्ष एस्थेटिक प्लेजर माना जा सकता है और स्थायी भाव के समकक्ष सेंटीमेंट। आधुनिक काल में काव्यशास्त्र के विशेषज्ञ डा० नगेंद्र और डा० गणपति चंद्र आदि प्रमुख विद्वानों ने भी स्थायी भाव को सेंटीमेंट ही माना है। स्थायी भाव अनेक संवेगों से उद्भूत होता है। जब किसी प्रकार का संवेग किसी व्यक्ति, पदार्थ, विचार अथवा आदर्श के प्रति स्थायी रूप से आबद्ध हो जाता है तो उक्त संवेग से संघटित एवं व्यवस्थित स्थायी मानसिक अवस्था को स्थायी भाव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, दूसरे शब्दों में जब एक ही संवेग का अनुभव किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति बारंबार होता है तो उसका संवेगात्मक संस्कार कालांतर में स्थायी भाव का रूप धारण कर लेता है। लेखक का यह विवेचन मनोवैज्ञानिक स्तर पर उचित नहीं लगता। स्थायी भाव मनोवृत्ति है जिसका आविर्भाव अनेक संवेगों के मिश्रित परिणाम का स्वरूप होता है। कोई एक संवेग मनोवृत्ति को गति नहीं देता। मैक्डगल और ड्रेवर आदि पाश्चात्य विद्वानों का भी सेंटीमेंट के विषय में यही मत है। प्रस्तुत प्रबंध में फीलिंग, इमोशन और सेंटीमेंट का विश्लेषण और विवेचन अधिक स्पष्ट नहीं हो सका है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में 'उमंग' भी कोई पृथक् भाव अथवा संवेग नहीं है। इसको उन्होंने ब्लेंडेड इमोशन या मिक्स्ड फीलिंग की संज्ञा दी है यदि इस प्रकार के महत्वपूर्ण विषय की कुछ विस्तृत रूप में, इस ग्रंथ में व्याख्या हो जाती तो प्रबंध का गौरव और बढ़ जाता।

प्रकृति रस—डा० सक्सेना ने प्रस्तुत प्रबंध में प्रकृति रस की उद्भावना पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं और प्रकृति में रसत्व की क्षमता पर विशेष बल दिया है। उनका मत है कि विभिन्न स्थायी भावों के द्वारा पाठक या श्रोता में प्रकृति रस के अनुभव की सामर्थ्य रहती है अतः अन्य रसों की भांति उसे भी रस माना जाना चाहिए। काव्यशास्त्रकारों ने प्रायः

प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव, अन्य संचारी भाव, रस का देवता और वर्ण आदि निर्धारित किए हैं। प्रकृति रस को स्वीकार कर लेने पर उसके लिये स्थायी भाव की उपलब्धि कठिन है क्योंकि मानव और प्रकृति के मध्य विविध संबंधों के लिये एक स्थायी भाव का होना युक्तिसंगत नहीं। इसके अतिरिक्त मानव प्रकृति को चक्षुर्ग्राह्य करके ही आनंदविभोर नहीं होता है वरन् उसके अंतस् की सौंदर्यानुभूति प्रकृतिदर्शन से पुष्ट होकर उद्दीप्त होती है और तब उसके हृदय में कोमल अनुभूतिजन्य आनंद का स्रोत उमड़ने लगता है। यदि इस प्रकार की आनंदानुभूति न हो तो काव्यकार भी वैज्ञानिक की भांति प्रकृति को तटस्थ भाव से देखता रहे।

मानवहृदय सौंदर्य की मूल मनोवृत्ति से समन्वित है। उसका सौंदर्य-प्रेमी मन समस्त मनोरम और रम्य वस्तुओं में रम जाता है। प्रकृति का कलाकीशल और मानव की कलात्मकता दोनों ही उसके अंतस् को स्पर्श कर उसे आनंदानुभव कराती है। अतः यदि प्रकृति से संबंधित किसी रस की उद्भावना की जा सकती है तो वह सौंदर्य रस कहा जाना अधिक मनोवैज्ञानिक और समीचीन प्रतीत होता है। डा० राघवन् ने 'द नंबर आव् रसज' नामक पुस्तक में संस्कृत के एक काव्यशास्त्री द्वारा लौल्य रस की उद्भावना पर विचार किया है, यह वास्तव में सौंदर्य रस ही है। प्रकृति रस का मनो-वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने के लिये अधिक तर्कसंगत विवेचन एवं विश्लेषण की आवश्यकता है।

लेखक ने काव्य में मानव और प्रकृति के विविध संबंधों का अत्यंत परिश्रम के साथ विवेचन किया है। उनके विवेचन में मौलिकता है, भाषा सशक्त है और अभिव्यक्ति में सारल्य है।

# आधुनिक हिंदी काव्य में रूपविधाएँ<sup>१</sup>

डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल

काव्य और साहित्य के संदर्भ में 'रूप' की समस्या कलाजगत् की एक अत्यंत मौलिक और दीर्घकालचर्चित समस्या है। काव्य के आत्मभूत तथा अन्य सूक्ष्म तत्वों का महत्व यथास्थान प्रारक्षित रखते हुए भी रूप को काव्य या साहित्य का बाह्य स्थूल आवरण जैसी संज्ञा से अभिहित करके नहीं टोला जा सकता। रूप का सामान्य महत्व स्वीकार करते हुए, वस्तु और रूप के पारस्परिक संबंधों के अनुपात को लेकर विचारकों में बड़ा मतभेद रहा है। प्रायः हमारी रसोन्मुखी चेतना में (विशेषतः, भारतीय दार्शनिक आध्यात्मिक चेतना के वाहक प्रमाताओं की चेतना में) रूप को स्थूल बाह्यावरण कह कर उसके प्रकृत या यथोचित महत्व के प्रति वितृष्ण रहने की एक अलक्षित सी वृत्ति बनी रहती है, पर काव्य साहित्य की चेतना की समग्रता को आत्मसात् करने की दृष्टि से 'रूप' का विचार किसी प्रकार भी कम महत्व का नहीं दिखाई पड़ता। शोध स्तर पर तो उसका अध्ययन और भी आवश्यक है। नवीन दार्शनिक वैज्ञानिक चिंतना से उद्भूत भौतिक मूल्यों के उभार के युग में जीवन के प्रतिबिम्बरूप साहित्य में भी रूपात्मक शोध का महत्व सर्वथा सामयिक और निर्विवाद है। और यों भी, काव्य वस्तु और रूप अपनी सत्ता और सार्थकता के लिये परस्पराश्रित हैं; 'न सा विद्या न सा कला' के द्वारा विषय वस्तु का जो अनंत्य सूचित होता है वह रूप के भी समानांतर अनंत्य को सूचित करता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनिवार्यतः एक 'रूप' को भी अपने में से ही उभारती उपजाती है। इस प्रकार रूप के क्षेत्र का तदनुकूल अनंत वैचित्र्य हमारे सामने उभरता है, जिसे चिंतनपरक समता और व्यवस्था देना शोध की एक केंद्रीय आवश्यकता है। विषय के इस मौलिक महत्व को देखते हुए हिदा में रूप विषयक अन्य अनेक ग्रंथों के उपस्थित रहते हुए भी प्रस्तुत शोध ग्रंथ स्वागत के योग्य है।

---

१ लेखक : डॉ० निर्मला जैन, हिंदी विभाग, खेडी श्रीराम कालेज, दिल्ली, प्रकाशक : हिंदी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निमित्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, मूल्य : सजिल्द २५ रुपये।

सबसे पहले ग्रंथ के शीर्षक पर ही हमारा ध्यान जाता है । 'भाषुनिक हिंदी काव्य में 'रूपविधाएँ' में लेखिका को मुख्य विवेच्य या तो द्वंद्व समास की सहायता से समझने पर 'रूप और विधाएँ' इष्ट है या षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार ग्रहण करने पर 'रूप की विधाएँ' । यदि प्रथम परिधि ही इष्ट थी तो रूप और विधाओं को तुल्य बल प्रदान करना अपेक्षित था, जो दिखाई नहीं पड़ा । यदि द्वितीय ( रूप की विधाएँ ) परिधि इष्ट थी तो प्रबंध का सारा बल 'रूप' पर से हट कर विधाओं पर ही जा पड़ता है जो उचित भी नहीं था, क्योंकि तात्त्विक पक्ष को छोड़ देने पर तो प्रबंध का वजन ही घट जाता है, और साथ ही विषय निरूपण की आरंभिक उठान को देखते हुए संभवतः लेखिका का मनोनुकूल भी नहीं ।

लेखिका ने 'विधाएँ' शब्द प्रचलित ग्रंथों से तनिक भिन्न ग्रंथ में ग्रहण किया है । विधा का प्रचलित अर्थ साहित्य के विविध रूप या प्रकार—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि—है पर वह प्रबंध में 'भेद अथवा पद्धति या प्रणाली', जो परस्पर अनुस्यूत है, के व्यापक ग्रंथ में गृहीत हुआ है ।

'रूप' शब्द के साथ 'विधाएँ' रखने की संगति समझ में नहीं आई । रूप के विवेचन के प्रसंग में लेखिका द्वारा निर्दिष्ट समस्त 'विधाएँ' तो स्वतः निहित थीं ही ।

शीर्षक में 'काव्य' शब्द के स्थान पर 'कविता' शब्द रहता तो विषय सीमा पाठक को अधिक स्पष्टता से अवगत होती । 'काव्य' शब्द भारतीय अर्थों में साहित्य का पर्याय होकर ही प्रायः हिंदी में गृहीत है ।

यह कहा जा सकता है कि लेखिका ने अपनी विषय परिधि में ऐसे रूप भी समेट लिए हैं जिनमें शुद्ध कविता से अतिरिक्त अन्य रूपों या विधाओं का भी समावेश है, जैसे गीतिनाट्य आदि; मतः 'काव्य' शब्द का प्रयोग उचित ही है । यदि यह स्थिति मान ली जाय तो फिर 'काव्य' परिधि में परंपरा से सहज समाविष्ट रूपक या नाटक का विचार भी इस प्रबंध में होना न्याय्य था । पर यह स्थिति तो प्रबंध के लिये, भारवहन की दृष्टि से, भयावह हो उठती ! वस्तुतः विषय की सीमा को बांधना लेखिका के सामने एक भारी समस्या थी ।

इन सब कारणों से शीर्षक में 'काव्य' में प्रतिव्याप्ति और 'रूपविधाएँ' में पुनरावृत्ति सी जान पड़ती है ।

टाइटल कवर पर 'रूप' और विधाएँ ये दोनों शब्द किसी संयोजक रेखा के द्वारा संयुक्त न किए जाने के कारण लेखक की विवक्षित विषय-सीमा को ग्रहण करने में पहली नजर में कुछ बाधक होते हैं। प्रसन्नता ह कि ग्रंथ के भीतर शीर्षक के मुद्रण की यह अस्पष्टता कहीं नहीं है।

जहाँ यह बात देखकर हादिक प्रसन्नता हाती है कि लेखिका ने वैज्ञानिक दृष्टि से 'रूप' की प्रकृत भूमि को साफ तराश कर निकाल सकने की या निकाल लेने की प्रशंसनीय क्षमता प्रदर्शित की है ( पृ० ३, ४, ५, ८, १७ ), वहीं यह देख कर कम आश्चर्य नहीं होता कि उसने अपने विषय को कला और अभिव्यक्ति की अपेक्षाकृत अनिर्दिष्ट भूमि की ओर संक्रमित हो जाने दिया—यह मानते हुए भी कि रूप और कला या अभिव्यक्ति के सीमांत परस्पर बड़े तरल हैं ! अपने आप में ढाँचा ( बाह्याकार ) का क्षेत्र कम विस्तृत या उर्वर नहीं है, और वह गहन शोध के लिये कुछ कम अवसर प्रदान नहीं करता। बाह्याकार के विचार पर ही लंगर डाल देना कम उपयोगी न होता। भाषा, छंद, अलंकार आदि की भूमियों तक रूप के विषय को बढ़ा ले जाने से वैज्ञानिक निरूपण को न्यूनाधिक क्षति पहुँची ही है। अपनी आधारभूमि को स्थिर करने का प्रयत्न इन उद्धरणों से अनुमानित हो सकता है—

‘रूपभेद अथवा रूप प्रकार के विवेचन का अर्थ, उस रूपविशेष की निर्मात्री विद्या का भी अनिवार्यतः विवेचन कदापि नहीं हो सकता’ (पृष्ठ ८)।

‘अभिव्यंजना के विभिन्न तत्त्वों के अंतर्गत काव्य की भाषा, अलंकार, छंद, रीति, वृत्ति, गुण के अतिरिक्त एक अन्य तत्व ऐसा है जिसका पृथक् महत्व निर्देश हमारे साहित्य शास्त्र में अत्यल्प है; परंतु वही तत्व अभिव्यंजना के इन पृथक् अवयवों को एकत्र कर एकसूत्रता प्रदान करता है और कहने की आवश्यकता नहीं, वह तत्व काव्य का रूप विधान है’ (पृष्ठ १७)।

जो ‘हमारे साहित्य शास्त्र में अत्यल्प है’, वही वस्तुतः इस शोध ग्रंथ की मूल प्रेरणा है।

वास्तविक बात यह है कि ‘रूप’ की भूमि सीमित ( ढाँचा मात्र ) और विस्तृत ( कला या अभिव्यक्ति पक्ष ) दोनों ही है, और विषय निरूपण के समय यही इस विषय का सबसे बड़ा खतरा है। लेखिका ने इस खतरे को समझते हुए अपना मार्ग सुंदरता के साथ निकालने का पूरा पूरा प्रयास किया है।

छह सौ पृष्ठों से कुछ ऊपर का यह प्रबंध दो खंडों में विभाजित है । अंगारंभ में ५६ पृष्ठों की एक उपयोगी भूमिका है जो 'सैद्धांतिक विवेचन' और 'काव्यरूपों की ऐतिहासिक रूपरेखा' नामक दो स्वतंत्र प्रकरणों में विभक्त है । 'सैद्धांतिक विवेचन' के अंतर्गत 'रूप' एवं 'विधा' की मूल धारणाओं को स्पष्ट किया गया है और काव्यसृजन की प्रक्रिया उनके महत्व को स्थापित करने की दृष्टि से दी गई है । तत्पश्चात् 'काव्य रूपों की ऐतिहासिक रूपरेखा' नामक स्तंभ के अंतर्गत प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य के स्वरूप का विश्लेषण करके सन् १९०० से पूर्व के हिंदी साहित्य में उपलब्ध तथा भारतेंदु युग में प्रयुक्त हिंदी के अपने विविध काव्यरूपों का और हिंदीतर साहित्य और लोकसाहित्य से प्राप्त या प्रभावित काव्यरूपों का परिश्रमपूर्वक अवगाहन किया गया है ।

आगे ३२५ पृष्ठों का प्रथम खंड 'प्रबंध या निबद्धकाव्य' की विस्तृत एवं सोदाहरण विचारणा को समर्पित है । उक्त खंड क्रमशः महाकाव्य, खंडकाव्य, लघु प्रबंधकाव्य और काव्यरूपक नामक चार अध्यायों में समाप्त हुआ है । लगभग १४० पृष्ठों के प्रथम अध्याय में भारतीय और पाश्चात्य धारणा भूमि पर निकषनिर्माण की दृष्टि से महाकाव्य की व्यापकतम मूर्ति गढ़ी गई है, और हिंदी के आधुनिक महाकाव्य का स्वरूपपरीक्षण लक्षणबद्ध प्रबंध, अंशतः नवीन प्रयोग और सर्वथा नवीन प्रयोग—इन तीन स्तंभों के अंतर्गत, आधुनिक युग में निमित्त प्रायः सभी हिंदी महाकाव्यों के कथानक, शिल्प और परंपरागत तत्व के विचार के आधार पर किया गया है ।

६० पृष्ठों के द्वितीय अध्याय में खंडकाव्य का सैद्धांतिक और व्यावहारिक विवेचन है । खंडकाव्य के लक्षणपरीक्षण के बाद उसके महाकाव्यात्मक खंडकाव्य और लघु प्रबंधात्मक खंडकाव्य नाम के दो बड़े भेदों या प्रकारों का सूक्ष्म विवरण के साथ स्वरूपविश्लेषण किया गया है । लघु प्रबंधात्मक खंडकाव्य का विचार सर्गबद्ध खंडकाव्य और सर्गविहीन खंडकाव्य शीर्षकों के अंतर्गत स्वतंत्र रूप से किया गया है । यशोधरा, विष्णुप्रिया, कुरुक्षेत्र, खंडकाव्य के क्षेत्र में नवीन प्रयोग के रूप में प्रस्तुत और विवेचित हुए हैं ।

३० पृष्ठों के तृतीय अध्याय में लघु प्रबंधकाव्य का विवेचन है । इसमें पद्यकथाएँ, आख्यानक गीतियाँ, पर्यायबंध और पद्यात्मक निबंध पर विचार किया गया है ।

६० पृष्ठों के चतुर्थ अध्याय में काव्यरूपक नामक रूपविधा का सैद्धांतिक विवेचन के साथ एतद्विषयक विविध हिंदी कृतियों के संदर्भ में विवेचन

नग्रा है। काव्यनाटक या पद्यबद्ध नाटक, गीतिनाट्य, नाटकीय कविता—  
हुइ तीन रचनाप्रकारों के अंतर्गत विविध विशिष्ट कृतियों का अंतरंग  
रूपात्मक परिचय दिया गया है।

‘स्फुट मुक्तक’ एवं ‘संयुक्त मुक्तक’ नामक क्रमशः पाँचवें और छठे अध्यायों  
से मिल कर ग्रंथ का ‘मुक्तक या अनिबद्ध काव्य’ शीर्षक लगभग २१० पृष्ठों  
का द्वितीय खंड तैयार होता है। इसमें मनस्तत्व की गौणता, प्रधानता और  
शैलीभेद से निर्मित, देशी विदेशी प्रभाव से समन्वित, प्रसिद्ध अप्रसिद्ध  
विविध मुक्तक जातियों उपजातियों का, अभिव्यंजना शैली, अलंकार और छंद  
आदि के विचार के साथ विस्तृत सोदाहरण विवेचन हुआ है।

अंत में लगभग १० पृष्ठ ‘उपसंहार’ और परिशिष्ट में लगे हैं।

विषय सामग्री और स्थापत्य की दृष्टि से रचना समृद्ध एवं प्रौढ़ है।  
विषयानुक्रम सुगुंफित है। ग्रंथ में लगभग ८-१० छोटे बड़े चार्ट हैं जिनके  
द्वारा लेखिका के विषयबोध की स्पष्टता और गहराई का परिचय मिलता है।  
रूप के अध्ययन में सहायक आधारभूत काव्यकृतियों का अनुशीलन मनोयोग  
से किया गया है। भाषा उच्छ्वासमुक्त, सुथरी व शालीन है। आद्यंत  
शोधपरक दृष्टि का निर्वाह हुआ है।

विचार करने पर दो तीन बातें और कही जा सकती हैं—

१—समस्त विषय मूलतः रूपतत्त्व से संबंधित है। जिज्ञासा और ज्ञान-  
क्षेत्र का सीमा विस्तार ही यदि शोध का मुख्य धर्म है तो रूप के तत्व की  
खोज में लेखिका को अधिक जिज्ञासापूर्वक, साहित्य से घनिष्ठ रूप से संबद्ध  
विविध ज्ञानक्षेत्रों ( दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि ) की ओर भी  
बढ़ना उचित था। इससे सैद्धांतिक पृष्ठाधार पुष्ट होता।

२—यद्यपि लेखिका ने प्रसंगानुसार रूप और उससे संबंधित अन्य साहि-  
त्यिक सत्ताओं का स्वरूपविश्लेषण किया है, तथापि थोड़ा और आगे बढ़  
कर यदि सिद्धांतविवेचन के ही प्रसंग में रूप, विधा, शिल्प, कला, रीति,  
प्रकार, भेद, अभिव्यक्ति, शैली, आकार आदि अत्यंत अस्पष्ट और परस्पर  
गुंथी सत्ताओं का, साम्यवैषम्य निर्देशपूर्वक परीक्षण करके अंत में ‘रूप’ के  
क्षेत्र, प्रकृति और व्यापार का सटीक निर्धारण किया होता तो सैद्धांतिक पक्ष  
की यह एक बड़ी उपलब्धि होती। उक्त सत्ताओं की धारणा और व्यवहार  
में अनेक बार हमारी साहित्यचिन्ता में बड़ा प्रयोगशैथिल्य दिखाई पड़ता  
है। यह कुहरभेद प्रस्तुत ग्रंथ की लेखिका का दायित्व समझा जा सकता था।

३—अरूप को रूप देने की कलाकारोचित छुटपटाहट ही कलारूप के निर्माण का इतिहास है । अगणित कलारूपों की अखूट आविष्कृतिपरंपरा के पीछे जो कविमानस की अक्षय्य बेकली है उसका मनोविज्ञान की भूमि पर विचार इस या ऐसे ग्रंथ की एक हल्की भारी आवश्यक माँग समझी जा सकती है ।

सब कुछ मिलाकर, अपने वर्तमान रूप में अधिक अध्यवसायपूर्वक लिखा गया यह शोधग्रंथ रूपविषयक प्रबंधलेखन के क्षेत्र में एक बड़ा उप-योगी कार्य है, इसमें संदेह नहीं ।

---

# आधुनिक हिंदी काव्य में विरहभावना'

डॉ० विश्वनाथ गौड़

प्रस्तुत शोधप्रबंध दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत किया गया था। इसकी लेखिका श्रीमती मधुरमालती सिंह एम० ए० हैं। इस शोधप्रबंध का प्रकाशन आत्माराम एंड संस के द्वारा सन् १९६३ में हुआ है। इस प्रकाशित शोधप्रबंध को भूमिका रूप में आचार्य विनयमोहन शर्मा का आशीर्वाद प्राप्त है।

यह पूरा शोधप्रबंध दो खंडों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक खंड का विवेच्य विषय अर्थात् अध्यायों में विभक्त है।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी के शोधकार्य ने पर्याप्त प्रगति की है। प्रायः उन सभी विश्वविद्यालयों में, जहाँ हिंदी का अध्ययन अध्यापन होता है, शोधकार्य किए जा रहे हैं। सब मिलाकर हिंदी शोधकार्य का जो परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है वह अन्य क्षेत्रवालों के लिये ईर्ष्या का विषय हो रहा है। पर इस प्रकार के ईर्ष्यालु आलोचक इस बात पर विचार नहीं करते हैं कि शोधकार्य का यह वर्धमान परिणाम हिंदी क्षेत्र की विशालता के अभी अनुरूप नहीं हो पाया है।

शोधकार्य करानेवाली संस्थाओं के द्वारा निर्धारित किए गए शोध-तंत्र में शोधकार्य दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अज्ञात और अनुपलब्ध सामग्री को खोज कर उसे साहित्यिक मूल्यांकन के साथ साहित्य जगत के सम्मुख प्रस्तुत करना और (२) ज्ञात सामग्री का नवीन व्याख्यात्मक मूल्यांकन करना। पहले प्रकार का शोधकार्य अधिक अध्यवसाय और श्रम की अपेक्षा करता है और इसका परिमाण भी कम होता है। अधिकतर शोधकार्य दूसरे प्रकार का ही हो रहा है। पर इसका भी अयना महत्व है। इसमें अध्ययन की एक विशेष गहराई की आवश्यकता होती है और विशेष दृष्टि से तथ्यों का ऐसा आकलन हो जाता है जिसपर अन्यथा दृष्टि जाना कठिन हो जाता है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध इसी प्रकार का है। इसके दोनों खंडों में संबंधित तथ्यों का सुंदर आकलन और विवेचन किया गया है। विरहभावना साहित्य का एक देशकालातीत अंग है। साहित्य के क्षेत्र में इसे मूर्धन्य पद का अधिकार मिला है। विरहभावना जिस रतिभाव का अंग है वह जीवन के समस्त व्यापारों के मूल में बीजरूप में निहित है। हिंदी साहित्य के अनुक्रम में विशेष रूप से आधुनिक युग में इस भावना की समीक्षा करना नितान्त समीचीन और उपयोगी है।

प्रबंध के प्रथम खंड को यदि भूमिकात्मक कहें तो अनुचित न होगा। इसके प्रथम अध्याय में विरहभावना का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। विरहभावना शृंगार रस के अंतर्गत है। शृंगार रस को लेकर भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने विशद विवेचन किया है। विदुषी लेखिका ने परिश्रमपूर्वक भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक समस्त आचार्यों के प्राप्त सिद्धांतों का अवलोकन और विवेचन किया है। लेखिका ने बीच बीच में पाश्चात्य विद्वानों के तद्विषयक मतों का स्पर्श भी किया है और इस तरह अपने विवेचन को प्रमाणित रूप देने की सफल चेष्टा की है। शास्त्रीय विवेचन में भरत मुनि को प्रमुख स्थान प्राप्त है जो सर्वथा उपयुक्त है। भरत मुनि के पश्चात् लेखिका के मतानुसार भोजदेव ने इस विषय में अत्यंत सटीक विवेचन प्रस्तुत किया है। राजा हरिपाल के विप्रलंभ संबंधी दृष्टिकोण का उल्लेख विवेचन को पूर्ण बनाता है।

इन आचार्यों के मतों का विवेचन करने में अत्यंत सावधानी से काम लिया गया है। शृंगार के विप्रलंभ पक्ष की सभी दशाओं और अंतर्दशाओं का पूरा लेखाजोखा शास्त्रीय ढंग से किया गया है। कामदशाओं का विवेचन भी सुंदर और आधिकारिक ढंग से किया गया है। मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर भी लेखिका ने इस पूरे विषय को देखा और परखा है। विवेचन की शैली पुष्ट है और विषयवस्तु का प्रतिपादन स्पष्ट और विशद है।

शास्त्रीय विवेचन के पश्चात् पृष्ठभूमि के रूप में भारतीय वाङ्मय में विरह भावना के विकास का ऐतिहासिक दिग्दर्शन दूसरे अध्याय में है। यह विवेचन वैदिक साहित्य से आरंभ होकर हिंदी के आधुनिक युग से ठीक पूर्व तक के साहित्य का स्पर्श करता है। यह भाग शोधप्रबंध की विषयसीमा से बाहर है। अतः इसका अनुशीलन केवल पृष्ठभूमि के रूप में संक्षिप्त रूप से ही किया गया है। वेदों, पुराणों और बौद्ध साहित्य का ग्रहण एक क्षण का उत्पन्न करता है कि इस साहित्यवाह्य वाङ्मय के ग्रहण का क्या प्रयोजन

है। पर, इस प्रकार के वाङ्मय में भी विरहवृत्ति का तथा अन्य साहित्यिक उपादानों का सञ्जाव मिलता है और ऐतिहासिक विकासक्रम की पूर्णता के लिये इसका लिया जाना अनुपयुक्त नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस द्वितीय अध्याय ने आगे के मुख्य विवेचन के लिये पृष्ठभूमि का काम करने में सफलता पाई है।

द्वितीय खंड शोधप्रबंध का मुख्य विवेच्य विषय है। विवेचन की सुविधा की दृष्टि से आधुनिक युग के संपूर्ण विषय को चार भागों में विभक्त किया गया है। वस्तुतः स्वनामधन्य भारतेंदुजी के समय से आज तक का आधुनिक युग धाराओं और प्रवृत्तियों की दृष्टि से अनेकरूप है और किसी न किसी दृष्टि से वर्गीकरण की अपेक्षा करता है। २०वीं शती का आधुनिक युगीन हिंदी साहित्य रूप और रंग सभी दृष्टियों से अनेकधा नवीन है और परंपरा के बाहर जाता है। पर भारतेंदुजी का छत्रछाया में जिस साहित्य का निर्माण हुआ है वह रीतिकालीन पुरानी परंपरा के मेल में ही है। लेखिका ने प्रथम अध्याय में इसी युग के साहित्य में विरहभावना का विकास दिखाया है। अध्याय के प्रारंभ में इस युग की उन सांस्कृतिक परिस्थितियों का विशद विवेचन है जिनके परिवेश में साहित्यसृष्टि सक्रिय रही है। तदुपरांत उपलब्ध काव्य में विरहभावना का विवेचन शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। समुचित उद्धरणों के आधार पर प्रमाण पुरःसर विरहभावना के भिन्न भिन्न अंगों का दिग्दर्शन कराने में लेखिका को सफलता मिली है।

आधुनिक युग का सही समारंभ अर्थात् नई भावनाओं का उदय भारतेंदु के प्रभावक्षेत्र से बाहर है। द्वितीय अध्याय में इन नई परिस्थितियों का विवेचन है। इधर के काव्य को लेखिका ने दो धाराओं में बांटा है। पहली धारा व्यक्तवादियों की है जो वस्तुपरक दृष्टि लेकर चले और उन्होंने गौरवमय अतीत की आधारशिला पर नूतन भावनाओं को सजाया। इस प्रकार के लेखकों ने सांस्कृतिक आधार पर खड़े होकर अपने उज्ज्वल आदर्शों को चरितार्थ करनेवाले प्रबंधकाव्यों की रचना की है। इन लेखकों में स्वच्छंदतावादी रामनरेश त्रिपाठी से लेकर गुडभक्त सिंह तक प्रायः सभी प्रकार के प्रमुख कवियों का ग्रहण किया गया है। सांस्कृतिक प्रबंध कवियों की इस नामावली में प्रसाद और निराला के नाम भी हैं। वर्गीकरण के आधार की एकरूपता की दृष्टि से यद्यपि ऐसा ही ठीक जान पड़ता है, पर प्रकार की दृष्टि से प्रसाद और निराला इस श्रेणी में नहीं

आते । इनकी विशेषताओं का विवेचन छायावाद के अध्याय में ही होता तो अधिक समीचीन होता । प्रसाद के महाकाव्य कामायनी में रूप और शैली सभी कुछ नया है । स्वयं लेखिका का भी मत है—‘मनु और श्रद्धा का यह पूर्वप्रणय हिंदी काव्य के लिये एकदम नई चीज है’ ( पृ० २५७ ) । अस्तु—इस अध्याय के अंतर्गत आनेवाली सामग्री का अनुशीलन करके लेखिका ने प्रतिपादित किया है कि इन कवियों द्वारा गृहीत विरहभावना परंपरागत शास्त्रीय अंगों और उपांगों से सज्जित है तथा साथ ही नवीन भावनाओं से अनुप्राणित भी ।

तीसरा अध्याय छायावादी काव्य से संबंधित है । इस युग के कवियों की वृत्ति वैयक्तिक और अंतर्मुखी है । प्रकृति के साथ भी इनका निकट क संपर्क है । इन कवियों की विरहभावना मुख्य रूप में रहस्यवादी है । इसी संदर्भ में लेखिका ने आधुनिक रहस्य भावना का भी संक्षिप्त विवेचन किया है । इसी प्रकार की छायावादी अन्य विशेषताओं के संदर्भ में लेखिका ने छायावाद के प्रमुख कवियों के काव्य का विवेचन किया है ।

छायावाद के बाद का हिंदी साहित्यवादों की दृष्टि से अनेक प्रकार का है पर विरहभावना की दृष्टि से इन धाराओं और प्रवृत्तियों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । इनके प्रतिनिधि कवियों को एक साथ लेने में कोई आपत्ति नहीं है । इन कवियों की दृष्टि भी वैयक्तिक और अंतर्मुखी ही है । इनका यथोचित परिचय देकर शोधग्रंथ को समाप्त किया गया है ।

इस प्रकार यह शोधप्रबंध साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग का भली-भाँति विवेचन करता है । इधर उधर प्रकीर्ण सामग्री को एक साथ सजाने में बुद्धि और परिश्रम दोनों का समुचित उपयोग किया गया है । इसके दोनों खंडों की सामग्री सुसंबद्ध रूप में पाठक को अनायास ही एक स्थान पर मिल जाती है । लेखन और विवेचन की शैली भी स्वच्छ और प्रौढ़ है । इस कार्य से निश्चित रूप में साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है ।

---

# आधुनिक हिंदी कविता में शिल्प'

डॉ० जगदीश चतुर्वेदी

हिंदी कविता के आधुनिक युग का प्रथम उत्थान भारतेंदु हरिश्चंद्र से प्रारंभ होता है। शिल्पविधि की नवीनता तथा परंपरागत रीतिकालीन धारा से पृथक्त्व का बोध सर्वप्रथम यहीं से परिलक्षित होता है। लेखक ने यहीं से अपने प्रबंध का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। वैसे आदिकाल से रीतिकाल तक के काव्य की शिल्पविधि के विभिन्न उपकरणों पर भी इससे पूर्व के परिच्छेद में प्रकाश डाला गया है। यों पूर्ववर्ती काव्य की परंपरा से विच्छिन्नता का आभास प्रकट करने के लिये यह आवश्यक भी प्रतीत होता है। साथ ही, आधुनिक काव्य पर भारतीय काव्य की प्रशस्त संस्कृत साहित्य परंपरा तथा पाश्चात्य काव्यधारा का प्रभाव स्पष्ट करने के लिये 'भारतीय काव्य शिल्पविधि का स्वरूप' तथा 'पाश्चात्य काव्य शिल्पविधि का स्वरूप' ग्रन्थियों से संश्लिष्ट कर आधुनिक हिंदी कविता की शिल्पविधि के अध्ययन को एक सैद्धांतिक पीठिका प्रदान की गई है।

‘छायावादी काव्य की शिल्पविधि’ के अंतर्गत उस युग के प्रतीकविधान तथा बिंबयोजना पर सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यही नहीं छायावाद के मूल आधार कल्पनावैचित्र्य के साथ ही वस्तु बिंबों के यथार्थ चित्रों की मूर्तिमत्ता की संभावना जिन कवियों में कमोवेश दिखाई दी, उसको भी प्रतिभासित किया गया है। निराला की कविता ‘भिक्षुक’ के गत्यात्मक चित्र की प्रभावगरिमा का उल्लेख यहाँ समीचीन दृष्टिगत होता है। छायावादी रचनाओं में पुराख्यान तत्व (मिथ) का जिक्र करते हुए निराला की ‘राम की शक्ति पूजा’ और प्रसाद के ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ का सम्यक् विवेचन उल्लेखनीय है। अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिये धार्मिक विश्वास, जन कथाएँ तथा लोकोक्तियों के काव्यगत महत्व को भी उपमा, प्रतीक तथा बिंब रूप में समसामयिक कवियों ने किस रूप में

---

लेखक : डॉ० कैलास वाजपेयी, प्रकाशक : आत्माराम एंड संस, दिल्ली-६; प्रथम संस्करण १९६३। मूल्य : बारह रुपये।

प्रयुक्त किया इसपर भी लेखक ने सोदाहरण विचार किया है। पंतजी के काव्य को लेखक ने इस वर्ग की एक उपलब्धि के रूप में मान्यता दी है। निराला की रहस्योन्मुखता के एक अंग के रूप में भी पुराख्यान तत्त्व का सटीक विवेचन किया गया है। काव्यशिल्प के 'रूपकोक्ति' उपादान का सशक्त स्वरूप 'कामायनी' में मिलता है, ऐसा लेखक का मत है। यह सच भी है कि सृष्टि के प्रारंभ और अंत का अत्यंत व्यापक कथानक कामायनी में रूपकोक्ति के माध्यम से ही स्पष्ट हुआ है। छाया-वादोऽखंडयोजना पर भी लेखक के विचार सटीक तथा वैज्ञानिक हैं अंग्रेजी के वर्स लिबरे के अनुसरण पर निराला तथा पंत की कुछ कविताओं का विवेचन भी इसमें किया गया है। यही बात उसके पूर्व अन्य आलोचकों यथा इंद्रनाथ मदान और शंभूनाथ सिंह द्वारा भी दोहराई जा चुकी है।

कामायनी और युगांत के प्रकाशन के बाद, हिंदी कविता पाँच छह वर्ष तक छायावाद की ही रोमांटिकता में डूबी किंतु फिर छायावादी दुरुहता तथा अस्पष्टता से मुक्त रचनाओं का युग आता है। इसे 'उत्तर छायावाद युग' की संज्ञा देते हुए लेखक ने कवि वचन, भगवतीचरण वर्मा, अंबल तथा नरेंद्र शर्मा की कविताओं को इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानकर 'उत्तर छायावाद युग—एक टिप्पणी' शीर्षक से अपने प्रबंध का समीक्ष्य विषय बनाकर प्रस्तुत किया है। लेखक के अनुसार 'शिल्पविधि की दृष्टि से वचन की रचनाओं में प्रतीकों तथा बिंबों का चयन अत्यंत सहज और प्रकृत ढंग से हुआ है। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक प्रकृत वर्ग के हैं, जिसके जड़ और चेतन दोनों रूपों को वचन ने समान रूप से अपनाया है।' भगवतीचरण वर्मा की कविताओं के बारे में श्रीवाज-पेयी का कथन है कि 'उत्तर छायावादी युग के कवियों में एक वर्माजी ही ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में शिल्पाग्रह बहुत थोड़ा है। शैला, प्रतीक, बिंबों आदि की दृष्टि से उनकी रचना काव्य का अत्यंत अभिधात्मक रूप प्रस्तुत करती है जिसमें न प्रलंकरण की कृत्रिमता है और न कथन का वैचित्र्य। छंदबद्धता के अतिरिक्त वर्माजी की रचना 'मधुकण' और 'प्रेम संगीत' में शिल्पविधि के किसी अन्य उपादान के दर्शन नहीं होते।' इस प्रकार वर्माजी में शिल्प-विधि के अन्य तत्वों का समावेश या तो है ही नहीं, और है तो अत्यंत अल्प मात्रा में है।

उत्तर छायावादी युग के तीसरे महत्वपूर्ण कवि रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' भी उसी संक्रांतिकाल की उपज हैं, जब छायावाद का ह्रास और गांधीवादी चेतना के साथ फ्रायड और मार्क्स के सिद्धांतों का समन्वित रूप साहित्य में आधार खोज रहा था। किंतु इस काल की अंचल की कृतियों के संबंध में लेखक श्रीरामबहोरी शुक्ल और डा० भगीरथ मिश्र की इस राय से सहमत है कि अंचल उत्तर छायावादी युग के उन कवियों में हैं जिनकी कला का गुण वासनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति है। अंचल का शब्दशिल्प इसी कारण अधिक प्रांजल और प्रभावोत्पादक है। अंचलजी ने वासना को अर्थायित करने के लिये प्रकृति के उपादानों को अपरंपरात्मक ढंग से प्रयुक्त किया है, जो शुभ है। यों नवीन प्रतीकों के साथ परंपरात्मक प्रतीक भी अंचलजी की कविता में मिलते हैं। अलंकरण की दृष्टि से अंचल में उपमा-वैभव सब कवियों से महत्वपूर्ण तथा पृथक् है। तुलनात्मक दृष्टि से बच्चन की अपेक्षा अंचलजी की रचनाओं में शिल्पसौंदर्य अधिक है।

इस युग के चौथे कवि नरेंद्र शर्मा अनुभूति, कल्पना, भाषा और शिल्प सभी दृष्टियों से अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं। शर्माजी की रचनाओं में जो बात सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करती है वह है कवि की स्पष्ट आत्म-विज्ञप्ति। प्रेम की विरोधजन्य स्थितियों के मार्मिक चित्र उनके काव्य में द्रष्टव्य हैं। शिल्पविधि की दृष्टि से नरेंद्रजी की रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में हुआ है। ये प्रतीक सांस्कृतिक और प्रकृत दोनों वर्गों से संगृहीत हैं। प्रकृत वर्ग के प्रतीकों का प्रयोग नरेंद्रजी ने प्रेम की दोनों स्थितियों में समान रूप से किया है। 'प्रभातफेरी', 'मिट्टी और फूल', 'पलाशवन' तथा 'प्रवासी के गीत' संग्रहों के भाषासौष्ठव तथा अभिव्यंजना-कौशल पर लेखक के विचार सटीक तथा गवेषणात्मक हैं। इस वर्ग के कवियों की उपलब्धि प्रबंधकार ने 'कथन की शैली' मानी है, जिसने आगे आनेवाले कवियों का मार्ग प्रशस्त किया।

'प्रगतिवाद' इसके बाद का अध्याय है। मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का साहित्य में समावेश किस प्रकार हुआ, इसका वर्णन इसमें विस्तार से किया गया है। साथ ही प्रगतिशील रचनाओं की कुछ विशिष्ट मूल प्रवृत्तियों पर भी लेखक ने अपने मत प्रतिपादित किए हैं। इन प्रवृत्तियों को आधार बनाकर पंत, दिनकर, नरेंद्र शर्मा के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', अंचल आदि की इस काल में लिखी रचनाओं का सम्यक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में

मलग से 'प्रगतिशील काव्य की शिल्पविधि' पर विवेचना की गई है। प्रबंध में 'सांस्कृतिक प्रतीक' इस युग के काव्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि माने गए हैं। इन प्रतीकों का प्रयोग राजनीतिक जागृति और राष्ट्रीय भावना के उद्दीप्त करने के लिये भी हुआ है। वर्तमान समाज की दुर्दशा को अंकित करने के लिये विरोधस्वरूप प्राचीन वैभव और समृद्धि को पृष्ठभूमि में रखकर कवियों ने इतिहास के प्रसिद्ध चरित्रनायकों को भी प्रतीकात्मक ढंग पर प्रस्तुत किया है। प्रकृत प्रतीकों का प्रयोग भी प्रगतिशील काव्य में पाया जाता है। जड़ और चेतन दोनों प्रकार के प्रकृत प्रतीकों के माध्यम से इस युग के कवियों ने क्रांति और प्रगति की सूचना दी है। चूँकि प्रगतिशील युग में कल्पना और रोमांटिकता का स्थान बौद्धिकता और यथार्थ ने ले लिया था, अतएव इस युग में वस्तुविवृत और प्रतिचित्रात्मक बिंबों का आधिक्य है। काव्य शिल्पविधि के अनुसार बिंबों का यह वर्ग अलंकारिता से युक्त होता है। लेखक के अनुसार 'इस युग में काव्य के समस्त उपकरणों में नवीनता के आग्रह ने कवियों को नवीन उपमानों की खोज और उनके उपयुक्त प्रयोग के लिये प्रेरित किया है।'

किंतु शिल्पसंबंधी दोष प्रगति युग में छायावादी काव्य की तुलना में अधिक पाए जाते हैं। लेखक ने निष्कर्ष रूप में अंत में कहा भी है—'यदि भाषा की असंगतियों पर ध्यान दिया जाय तो शायद इस युग का बहुत थोड़ा काव्य श्रेष्ठ काव्य की श्रेणी में रखने योग्य होगा। छायावाद के कवियों में काव्य की प्रशस्त परंपरा का जो ज्ञान झलकता है वह प्रगति युग के नवीन कवियों में कम है।' लेखक ने अपनी पुष्टि के लिये इन दोषों पर जो विचार अध्याय में प्रस्तुत किए हैं, उनसे सहमत हुआ जा सकता है।

इसके बाद के अध्याय 'प्रयोगवाद' में तारसप्तक के संपादकीय वक्तव्य तथा प्रकाशित कृतियों से उसके विरोधाभास तथा इस शब्द की सैद्धांतिक विवेचना प्रस्तुत की गई है। लेखक के अनुसार 'तारसप्तक के सभी कवियों का स्वर मूल से प्रगतिवादी ही है तथा प्रयोग की दृष्टि से तारसप्तक में ऐसी रचनाएँ कम होंगी जो अज्ञेयजी के वक्तव्य के दायरे में आ सकें। तारसप्तक के सात कवियों—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय में से गिरिजाकुमार माथुर और अज्ञेय को छोड़कर शेष सभी कवियों ने अग्रे चलकर काव्य के क्षेत्र में निर्दिष्ट दिशा में कोई उपलब्धि नहीं की। यही नहीं, कुछ तो इस प्रकाशन के बाद मंद पड़ गए या मार्ग छोड़ गए' (पृष्ठ २६६)।

अज्ञेयजी द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक' की भूमिका के संबंध में भी लेखक का मत विरोधजन्य है। भूमिका के संबंध में नंददुलारे वाजपेयी के इस मत को लेखक उचित मानता है—'अज्ञेयजी की यह भूमिका प्रयोग का स्पष्टीकरण नहीं करती क्योंकि प्रयोगवादी साहित्य से साधारणतः उम्र व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। 'प्रयोगवाद' शब्द को शाब्दिक अर्थ में किसी प्रकार का महत्व देना लेखक को संगत नहीं लगता। किंतु फिर भी वह मानता है कि प्रयोगवाद में कला के प्रति जागरूकता अधिक है। इस जागरूकता का मूल्यांकन 'प्रयोगवादी काव्य की शिल्पविधि' अध्याय में किया गया है। यों प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं का विवेचन उसी आधार पर प्रस्तुत किया गया है जिस आधार पर छायावाद तथा प्रगतिवाद के कवियों की रचनाओं का। उन्हीं साँचों पर यह विवेचन कुछ हास्यास्पद लगता है और एकेडेमिक प्रबंध की परंपरागत दुर्बलता उसमें परिलक्षित होती है। इस अध्याय में मात्र 'प्रयोगवादी शिल्पविधि के दोष' विवेचन ही ध्यान आकृष्ट करता है।

अंतिम अध्याय 'गीतिकाव्य का नवोत्थान एवं शिल्पविधि' की विवेचना में जहाँ वह गीतिकाव्य का मूल्यांकन स्वतंत्र अध्याय के रूप में करता है, वहाँ समकालीन नई कविता या अभिनव काव्य पर कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं करता। इसके संबंध में भूमिका में लेखक ने स्पष्टीकरण भी दिया है—'पिछले चार वर्षों की हिंदी कविता के उद्धारण भी किसी प्रकार इस ग्रंथ में सम्मिलित हो सकते तो अच्छा था किंतु इस पश्चायन बोध के साथ ही लेखक का अपना विचार है कि शोध-बंध लिखने की वैज्ञानिक परंपरा और स्वतंत्र पुस्तक लेखन में अंतर है। किंतु यहाँ प्रश्न यह है कि इस परिपाटी का निर्वाह कहाँ तक उचित है?' साथ ही लेखक यह भी मानता है कि 'इन चार वर्षों में वर्तमान हिंदी कविता में एक मोड़ आया है। यह मोड़ शिल्प एवं वस्तु दोनों दृष्टियों से आज के जागरूक पाठक को सोचने के लिये विवश करता है।' यदि इस दशक की उपलब्धियों पर भी लेखक विचार कर पाता तो ग्रंथ की उपादेयता और अधिक होती और आधुनिक काव्य के अत्याधुनिक कृतित्व तक का आकलन प्रस्तुत करने में वह सहायक होता।

तथापि, काव्यशिल्प के संबंध में इस ग्रंथ का महत्व निर्विवाद है और निश्चय ही काव्यसमीक्षक तथा चिंतक इससे लाभ उठा सकेंगे।

# हिंदी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन'

डॉ० शांतिगोपाल पुरोहित

आलोच्य पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत एक शोधप्रबंध है और सन् १९६४ ई० में प्रकाशित हुई है। इसमें एक विशेष दृष्टिकोण से हिंदी नाटक के इतिहास का पर्यवेक्षण किया गया है। लेखक ने पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हिंदी नाटक के उद्भव और विकास संबंधी बहुत से तथ्यों को स्वीकार करते हुए अध्ययन को दो दृष्टियों से आगे बढ़ाने का उपक्रम किया है। एक तो लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि उषःकाल से लेकर अद्यतन पर्यंत हिंदी नाटक के विकास में अंग्रेजों एवं अंग्रेजी साहित्य का किन किन रूपों में प्रभाव पड़ा है और संस्कृत नाट्यप्रणाली का उसके विकास में क्या योगदान है। वस्तुतः हिंदी नाटक के विकास में इन दोनों नाट्य परंपराओं का क्रमिक संघात परिलक्षित होता है। हिंदी नाटक के शैलीविकास को समझने के लिये इस प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। लेखक ने दूसरी महत्वपूर्ण बात यह की है कि शैलीविकास को दृष्टिपथ में रखकर हिंदी नाटक के इतिहास को नए ढंग से कालविभक्त किया है। इन दृष्टियों से अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक की कतिपय उपलब्धियाँ भी हैं और स्खलन भी लक्षित होते हैं। समीक्षा के दौरान यथास्थान उनकी ओर इंगित किया जा सकता है।

लेखक ने अपने अध्ययन को आठ अध्यायों में विभक्त कर प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्याय में वि० सं० १९२५ पर्यंत रचे गए हिंदी के मौलिक एवं अनूदित नाटकों का विवरण दिया गया है। लेखक ने यह स्थापित किया है कि पूर्वभारतेंदु काल में हिंदी नाटक का विकास दो धाराओं में विभक्त होकर घटित हो रहा था, एक धारा संस्कृत नाट्यप्रणाली का कठोरता-पूर्वक पालन करने के प्रति अग्रसर थी, तो दूसरी धारा लोकनाटकों के अनुरूप शास्त्रीय नियमों से हटकर प्रवाहित हो रही थी। लेखक का निर्णय है कि 'आनंद रघुनंदन' जैसे मौलिक नाटकों में और 'प्रबोध चंद्रोदय' जैसे अनूदित

नाटकों में संस्कृत नियमों का कठोरतापूर्वक पालन किया गया है तो अन्य मौलिक व अनूदित नाट्यरचनाएँ लोकनाटकों एवं अपभ्रंश परंपरा के कारण नियमों से दूर हटने लगी' ( पृ० ६३ ) । हिंदी के आदि नाटक ( रास शैली के नाटक ) में लोकनाटक सुलभ संस्कृत नाट्यनियमों से दूर हटने की प्रवृत्ति पाई जाती है । क्रमशः दूसरी धारा ही हिंदी नाटक की मूल धारा बनती गई । अंग्रेजी संपर्क से इस धारा को और बल मिला । आलोच्य युग के बहुत से मौलिक एवं संस्कृत से अनूदित नाटकों में भी संस्कृत नाट्यनियमों के उल्लंघन के प्रति प्रवाह है । 'रामायण महानाटक'<sup>१</sup> ( सन् १६१० ), 'हनुमन्नाटक'<sup>२</sup> (अनूदित), 'समयसार नाटक', 'करुणाभरण' ( सन् १६१७-१६५६ ई० ), 'शकुंतला उपाख्यान' ( सन् १६८० ई० ), 'सभासार'<sup>३</sup> ( सन् १७०० ) आदि हिंदी के आरंभिक नाटकों में भाषानाटक अथवा लोकनाटक का प्रभाव अधुण है । इस युग में 'इंदर सभा' की रचना के साथ हिंदी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव का क्रम जारी हो जाता है ।

भारतेंदु युग तक आते आते हिंदी नाटक पर पाश्चात्य नाटक का प्रभाव अधिक स्पष्ट होकर पड़ने लगता है । लेखक ने यहाँ यह दिखलाया है कि इस प्रभाव के फलस्वरूप हिंदी नाटक में त्रासदी की शैली का नाटक अवतरित हुआ । गंभीर नाटकों में दोहरी कथावस्तु की पाश्चात्य प्रथा अपनाई जाने लगी । गंभीर नाटकों में कामिक अलग से भी चलने लगे । उदाहरण स्वरूप 'श्रवणकुमार' में जहाँ श्रवणकुमार की पितृभक्ति का चित्रण है वहीं चमेली और उसके पत्नीभक्त पति की भी कथा चलती है ( पृ० ८६ ) । आलोच्य युग के प्रहसनों में अंग्रेजी के प्रहसनों के संघात से व्यंग्य तत्व का नया सन्निवेश हुआ, जो उसे संस्कृत की विदूषक शैली से भिन्न कर देता है । अंग्रेजी प्रभाव से पल्लवित हिंदी नाटक के इन नए अंगुरों को लक्ष्य कर लेखक ने

१. 'इसमें संस्कृत नाट्यविधान का भी उल्लंघन हुआ है—वस्तुविकास का अभाव, दृश्यात्मकता की अवहेलना और रंगसंकेतों का न मिलना इसके उदाहरण हैं ।' पृ० १४ ।—हिंदी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन ।
२. '...इसमें प्रबंधकाव्य शैली और लोकनाट्य परंपरा की रूढ़ियों का निर्वाह किया गया है, जिससे संस्कृत नाट्य शैली का अधिकांशतः उल्लंघन हुआ है ।' पृष्ठ ३ ।—वही ।
३. 'शकुंतला उपाख्यान' के समान 'सभासार' भी संस्कृत नाट्यशैली से परे दिखाई देता है ।'—पृष्ठ ५३ ।

वि० सं० १९२५ से लेकर वि० सं० १९६५ तक की अवधि को हिंदी नाटक के विकास का दूसरा काल माना है, जो समीचीन है। किंतु हिंदी नाटक पर संस्कृत और अंग्रेजी के प्रभावों निदर्शन करते हुए लेखक ने कहीं कहीं अयाचित या अज्ञात निष्कर्ष भी निकाले हैं। इस विषय पर विचार करते हुए कि अंग्रेजी प्रभाव से ही हिंदी में त्रासदी (दुःखांत नाटक) का अवतरण हुआ, लेखक ने लिखा है कि 'पौराणिक और ऐतिहासिक वस्तु से संबंधित पात्र भी जीवन के निकट दिखाई देते हैं। फिर भी सामान्यतः नायक का स्वभाव आदर्शप्रधान ही रहा—उसमें यथार्थ का पुट बीसवीं शताब्दी के नाटकारों ने दिया है। इसका कारण यह था कि साधारणतया शेक्सपीयर ने 'काव्य-न्याय' (पोएटिक जस्टिस) का उल्लंघन नहीं किया है, और संस्कृत नाटकों की आदर्शप्रियता प्रख्यात है। अतएव हिंदी के नाटक भी आदर्शवादी दृष्टिगोचर होने लगे। 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'नील देवी' आदि नाटक इसके प्रमाण हैं। (पृ० ८६, पात्र चरित्रचित्रण का प्रसंग)। यहाँ पहली बात तो यह है कि शेक्सपीयर की त्रासदियों में 'काव्यन्याय' का निर्वाह होता ही नहीं, दूसरी असंगत बात यह दिखलाई पड़ती है कि शेक्सपीयर की त्रासदियों को नायक विषयक परिकल्पना संस्कृत नाटक की आदर्शवादी नायक की परिकल्पना के सानुरूप नहीं है। अतः दोनों का तालमेल बैठाने की यहाँ कोई आवश्यकता ज्ञात नहीं होती है। उपर्युक्त कथन में बातें परस्पर संबद्ध नहीं जान पड़तीं। फिर भी समग्रतः इस काल के नाटकों की पात्रप्रवृत्ति, कथानक, संवाद एवं दृश्य नियमों आदि का लेखक ने सुंदर निरूपण किया है। लेखक का यह निष्कर्ष महत्वपूर्ण है कि अंग्रेजी के प्रभाव के फलस्वरूप ही हिंदी के नाटकों में नाट्यवर्जनाओं को न मानने की प्रवृत्ति आई। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' 'दुःखिनी बाला' 'मयंक मंजरी', 'नीलदेवी' आदि भारतेंदु युगीन नाटकों में भोजन, चुंबन, आलिंगन और मृत्यु के दृश्यों को रंगमंच पर दिखलाने की प्रवृत्ति पनपी।

जयशंकर प्रसाद के नाट्यसृजन के साथ हिंदी नाटक का एक नया विकास प्रतिफलित होता है। यहाँ हिंदी नाटक एक नए रूप में अंग्रेजी नाटक से प्रभावित हुआ। हिंदी नाटक में अब अंतर्द्वंद्व प्रधान संघर्ष का तत्व महत्वपूर्ण स्थान पाने लगा। इस प्रकार वि० सं० १९२५ से लेकर वि० सं० २०१८ तक हिंदी नाटक पाश्चात्य नाटक से अनेक नए रूपों में प्रभावित होने लगता है। प्रसाद शैली के रोमानी नाटक के बाद यथार्थवादी नाट्यधारा प्रवाहित हुई। पाश्चात्य रंगमंचसुलभ नाट्यशिल्प के संघातों

से हिंदी में भी नई नई नाट्यशैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। किंतु इन बातों को स्फुट करने का प्रयास करते हुए लेखक ने कुछ विवादास्पद कथन भी किए हैं, यथा : 'सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास और डॉ० सरनाम सिंह शर्मा आदि भारतीय नाट्य विधान के समर्थक हैं।' (पृ० १६०, द्वितीय अवतरण)। स्वयं उसके द्वारा किए गए अग्रिम विवेचनों में उक्त कथन के समर्थन के बजाय उसका असमर्थन ही होता है। पुनः हिंदी नाटकों में क्रमशः अंतर्भुक्त होनेवाले संस्कृत और अंग्रेजी के नाट्यतत्वों को लेखक ने प्रकाशित किया है। उनके रासायनिक योग से उभरनेवाले हिंदी नाटक के निजी स्वरूप को स्फुट करने का उसने महत्वपूर्ण उपक्रम किया है। परंतु इस विषय के विवेचन में थोड़ी और स्पष्टता अपेक्षित थी।

पाँचवें अध्याय में हिंदी एकांकी का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने गंभीरता के साथ हिंदी में विकसित एकांकी कला के संस्कृत और अंग्रेजी प्रभावों की गवेषणा की है। लेखक ने इस विचारधारा का अनुमोदन किया है कि हिंदी में एकांकी कला का प्रादुर्भाव अंग्रेजी संघात का ही एकांतिक प्रतिफल नहीं है, प्रत्युत संस्कृत के एक अंकवाले उपरूपकों में हा व्यंग्यवक्रतासुलभ पाश्चात्य एकांकी की विशेषताओं सन्निवेश हुआ। भारतेंदु युग में 'विषय विषमोषधम्' और 'अंधेर नगरी' सट्टा छोटे नाटक और भाषा, नाट्य रासक तथा सट्टक शैली के एक अंक प्रधान नाटक लिखे गए थे। ये छोटे नाटक एवं उपरूपक ही पाश्चात्य में विकसित एकांकी कला का प्रभाव ग्रहण कर आधुनिक एकांकी के रूप में परिणत हो गए।

छठे अध्याय में लेखक द्वारा सांप्रतिक अभिनव नाट्य प्रयोगों एवं स्वतंत्र नाट्य प्रकारों का उल्लेख किया गया है। हिंदी की नवीन नाट्य विधाओं के उत्स और विकास में अंग्रेजी के नाट्यसाहित्य के संघातों का संकेत करना यहाँ लेखक का अभीष्ट है। यथास्थान संस्कृत के रूपकों, उपरूपकों से भी उनका सादृश्य दर्शाने का उपक्रम किया गया है। परंतु यह अध्याय वैज्ञानिक ढंग से नियोजित प्रतीत नहीं होता। नाट्य रूपों के अंतर्गत चर्चित नाटकों के चुनाव में असंगतियाँ लक्षित होती हैं। स्वोक्ति नाटक (पृ० ३०८) के विवेचन के संदर्भ में जिन नाटकों की चर्चा की गई है, वे वहाँ क्यों लाए गए हैं इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। सातवें अध्याय में हिंदी रंगमंच के विकास क्रमों एवं उसके नवीन आयामों का संकेत किया गया है। पुनः भारत में चलचित्रों के विकास और चलचित्र में नाटक की

परिणति का विवेचन किया गया है। विवेचन हिंदी रंगमंच के कतिपय नवीन तथ्यों को प्रकाशित करने में समर्थ है। पुस्तक का आठवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है।

आलोच्य पुस्तक में एक दोष विशेष खटकता है। संभवतः प्रूफ का उचित संशोधन न किए जाने के कारण भाषा की बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। ऐसी अशुद्धियों से शायद ही कोई पृष्ठ बचा हो। एक ही पृष्ठ पर ( पृ० ६१ ) 'राज्य', 'उद्देश्य', 'अतिभिन्न', 'अश्लीलता', 'अधिक्य' आदि अशुद्ध शब्द दिखलाई पड़ते हैं। 'दृश्य' शब्द अपने इस अशुद्ध रूप में पृष्ठ ३५३ पर जगह जगह आया है। शब्दों के इस असंशोधित रूप के कारण कहीं कहीं तो मंतव्य के बोध में भी बाधा पड़ी है। इसी प्रकार के संशोधन की असावधानी के कारण वाक्यों में भी कहीं कहीं अर्थ व्याघात आ गया है, यथा : 'आज संस्कृत नाट्यपद्धतियों के प्रति उदासीनता ही नहीं प्रकट की जाती है अपितु कुछ लोग तो उन्हें हेय भी नहीं मानते हैं' ( पृ० १८६ )।

---

# भारतेंदुयुगीन नाट्यसाहित्य'

डा० गोपीनाथ तिवारी

नाटक निर्माण की दृष्टि से भारतेंदु काल महत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल में नाटकों का निर्माण अन्य साहित्यिक विधाओं से परिमाण में अधिक हुआ, यद्यपि यह नाटकों का आदि काल ही था। नाटकों की अपेक्षा इस काल में निमित्त उपन्यास आलोचनाओं की संख्या अत्यंत अल्प है। निबंध प्रचुर मात्रा में लिखे गए किंतु नाटकों के सम्मुख वे बहुत कम हैं। कविताओं की धूम थी किंतु ये भी नाटकों से अधिक नहीं हैं। फलतः नाटकों की दृष्टि से इस काल का विवेचन आवश्यक था। किंतु यह भी सत्य है कि नाटकों का उल्लिखित महत्व संख्या की ही दृष्टि से है, स्तर एवं मूल्य की दृष्टि से नहीं। संख्या में अपेक्षाकृत अधिक होते हुए भी ये नाटक इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि कई शोधप्रबंध इनपर लिखे जायें। वस्तुस्थिति यह है कि तीन शोध-प्रबंध इस काल के नाटकों को अपना कर लिखे जा चुके हैं। ये हैं—( १ ) डा० गोपीनाथ तिवारी कृत भारतेंदुकालीन नाटक साहित्य ( १९५६ ई० ), ( २ ) भानुदेव शुक्ल कृत भारतेंदुयुगीन नाट्यसाहित्य ( १९६२ ई० ) एवं डा० वासुदेवनंदन प्रसाद कृत भारतेंदु युग का नाट्यसाहित्य और रंगमंच जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। शृंखलित व्यवस्था न होने से यह हुआ है कि एक सामान्य से सीमित विषय पर तीन शोधप्रबंध प्रस्तुत हो गए हैं। अप्रकाशित होने से तीसरे के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है किंतु प्रथम दोनों में ऐतिहासिक विवरण बहुत कुछ समानता लिए हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबंध 'भारतेंदुयुगीन नाट्यसाहित्य' अध्यायों या खंडों में विभाजित नहीं है वरन् शीर्षकों के सहारे लिखा गया है। ये शीर्षक सोलह हैं जिनके नाम हैं—( १ ) विषय प्रवेश, ( २ ) भारतेंदु युग : समय-निरूपण तथा पृष्ठभूमि, ( ३ ) पौराणिक नाटक, ( ४ ) प्रेमप्रधान नाटक, ( ५ ) प्रतीक शैली के नाटक, ( ६ ) सामाजिक नाटक, ( ७ ) प्रहसन, ( ८ ) ऐतिहासिक नाटक, ( ९ ) नाटकों का रूपगत एवं वैधानिक अध्ययन,

( १० ) भारतेन्दुयुगीन नाटक, ( ११ ) भारतेन्दुयुगीन नाटकों का कलागत अध्ययन, ( १२ ) अनुवादित नाटक, ( १३ ) हिंदी प्रदेश में रंगमंच, ( १४ ) भारतेन्दुयुगीन नाटकों में सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब, ( १५ ) उपसंहार एवं ( १६ ) भारतेन्दु हरिश्चंद्र का नाट्य साहित्य । अच्छा होता शोधप्रबंध को अध्यायों, भागों या खंडों में बाँटा जाता । ऊपर के सोलह शीर्षकों में चार भाग या खंड स्पष्टतया दिखाई पड़ते हैं । ये हैं—( १ ) पृष्ठभूमि जिसके अंतर्गत प्रथम, द्वितीय एवं चौदहवें शीर्षक समा जायेंगे । ( २ ) नाटकों का ऐतिहासिक विवरण इसके अंतर्गत तीसरे शीर्षक से आठवें शीर्षक तक के छह शीर्षक एवं बारहवाँ शीर्षक ( अनुवादित नाटक ) समाविष्ट होंगे । ( ३ ) नाटकों का कलागत अध्ययन इसमें १० वाँ, ११ वाँ, १३ वाँ एवं १५ वाँ ये चार शीर्षक सम्मिलित होंगे । चौथे भाग में सोलहवाँ शीर्षक ( भारतेन्दु का नाट्य साहित्य ) आएगा । भाग, अध्याय या खंड न होने से सामग्री इधर उधर अव्यवस्थित रूप में बिखर गई है और आवृत्ति हो गई है । अनुवादित नाटकों को पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक नाटकों के साथ सँजोना चाहिए था और प्रहसन को कलागत अध्ययन में सम्मिलित होना चाहिए था क्योंकि प्रहसन नाटक का शिल्पगत भेद है । आरंभ में भारतेन्दु युग : समयनिरूपण तथा पृष्ठभूमि शीर्षक देकर सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति का विवेचन किया गया है जिसमें आर्यसमाज आंदोलन, नारी समस्या इत्यादि को लिया गया है । आगे चल कर उत्तरार्द्ध में 'भारतेन्दुयुगीन हिंदी नाटकों में सामाजिक जीवन के प्रतिबिंब' नामक शीर्षक में पुनः उन्हीं सामाजिक समस्याओं को कुछ अधिक विस्तार से चित्रित किया गया है । इन दोनों शीर्षकों में राष्ट्रीय चित्रों ( गोरक्षा, राष्ट्रीय भावना, आंग्ल शासन, नौकरी ) की भी आवृत्ति हुई है । अच्छा होता ये सब चित्र पृष्ठभूमि रूप में प्रारंभ में ही गृहीत होते अथवा देशकाल के अंतर्गत उत्तरार्द्ध में संगृहीत किए जाते ।

पौराणिक नाटकों के अंतर्गत कृष्ण, राम, प्रह्लाद, नल, सावित्री एवं अन्य देवोपम नरनारियों से संबद्ध नाटकों का वर्णन किया गया है । सामाजिक नाटकों में सामाजिक समस्याओं का चित्रण हुआ है । किंतु इन्हीं नाटकों के साथ प्रहसनों का विवेचन भिन्न शैली पर हुआ है । प्रहसनों के प्रसंग में हास्य का सैद्धांतिक विस्तृत विवेचन है । तत्पश्चात् प्रहसनों और प्रहसनकारों का विवरण दिया गया है ।

नाटकों के रूपगत और वैधानिक अध्ययन नामक शीर्षक में वैधानिक नाम भ्रामक है। शोधप्रबंध में निश्चित अर्थवाले शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। वैधानिक शब्द हिंदी में कानूनी (कॉस्टीट्यूशनल) अर्थ में रुढ़ हो चला है। तकनीकी अर्थ लेने के लिये शिल्प, विधि या रचनाविधि कहना पड़ता है। अतः इसका शीर्षक होना चाहिए था—रूपगत एवं शिल्पगत अध्ययन। इस अध्ययन में पहिले संस्कृत नाट्यशास्त्र की स्थूल बातें बताई गई हैं। रूपक के दश भेदों का संक्षिप्त परिचय देकर वस्तु, नेता एवं रस का परिचय दिया गया है। पश्चिमी ट्रेजडी एवं कामेडी का संक्षिप्त विवरण लिखा गया है। अच्छा होता ट्रेजडी एवं कामेडी के हिंदी रूपांतर दिए गए होते। इस परिच्छेद में अंग्रेजी नामों का अनुवाद भी भ्रामक हुआ है। उदाहरण—

|                                      |                          |
|--------------------------------------|--------------------------|
| अंग्रेजी                             | हिंदी                    |
| युनिटी                               | संकलन                    |
| फासं                                 | अद्भुत                   |
| कॉमेडी ऑफ़ रोमांस                    | काल्पनिक                 |
| कामेडी ऑफ़ मैनर्स आर कामेडी ऑफ़ विट् | प्रहसन                   |
| द कामेडी ऑफ़ इन्ट्रीग                | श्रीत्सुक्यप्रधान प्रहसन |
| ट्रैजी कामेडी                        | गंभीर नाटक               |

‘भारतेंदुयुगीन नाटक’ शीर्षक के अंतर्गत पहिले संस्कृत नाट्यपरंपरा के नाटकों का विश्लेषण किया गया है। यही नाटकों का वही विषयगत वर्गीकरण उपस्थित है जो दूसरे खंड में था, अर्थात् नाटकों को (१) पौराणिक, धार्मिक, (२) प्रेमप्रधान, (३) प्रतीकवादी, (४) सामाजिक, (५) प्रहसन एवं ऐतिहासिक वर्गों में विभाजित किया गया है। पौराणिक नाटकों के साथ धार्मिक शब्द क्यों जोड़ा गया है जबकि धार्मिक नाटक कौन से है इसकी चर्चा नहीं की गई है! प्रेमप्रधान नाटकों में केवल कालिदास कृत ‘शकुंतला’ का संघियों की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। कालिदास कृत ‘शकुंतला’ नाटक कौन है? क्या ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ से अभिप्राय है? वह तो संस्कृत का नाटक है, हिंदी का नहीं। यह ध्यान में रखने की बात है कि भारतेंदुकालीन हिंदी नाटकों का शैलीगत रूपगत विवेचन किया जा रहा है। कालिदास कृत शकुंतला नाटक हिंदी में नहीं है। यदि राजा

लक्ष्मण सिंह कृत अनुवादित नाटक से अभिप्राय है जिसकी चर्चा पृ० १५१ पर हुई है तो इसका स्पष्टतया उल्लेख होना चाहिए था। उस स्थिति में भ्रम उत्पन्न न होता। पुनः अनुवादित नाटक लेने से हिंदी प्रेमनाटक की विवेचना नहीं मानी जायगी। प्रतीकवादी नाटक कुंदकला में नाट्य-शास्त्रीय नियमों का समुचित समावेश वर्णित है। इसमें संधियाँ खोजी गई हैं। यह दुःखांत नाटक है क्योंकि नायक नायिका के बिछोह में नाटक का अंत होता है। कोई भी दुःखांत नाटक नाट्यशास्त्र की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें 'फलागम' एवं 'निर्वहण' का समुचित पालन नहीं हो सकता है। कुंदकला तो अर्थ प्रकृतियों, कार्य अवस्थाओं एवं संधियों की दृष्टि से सफल है ही नहीं। इसका इतना ही महत्व है कि यह प्रतीक शैली का नाटक है। शोधकर्ता ने समस्त भारतेंदुकालीन प्रहसनों को भारतीय नाट्यशास्त्र से दूर स्वीकार किया है जबकि भारतेंदुजी अपने नाटक नामक निबंध में प्रहसन के लक्षण भारतीय नाट्यशास्त्रानुरूप देकर उदाहरण में अपने दोनों प्रहसनों—वैदिकी हिंसा और अंधेर नगरी को सामने रखते हैं ( भारतेंदु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७१८ )। भारतेंदुकालीन नाट्यशास्त्र का परिचय देने के पश्चात्, शोधकर्ता का मत है कि 'भारतेंदु युग में रचे हुए नाटक संस्कृत एवं पाश्चात्य दोनों शैलियों की मिश्रित एवं स्वतंत्र शैली में प्रकट हुए हैं ( पृ० २०६ )। यह स्वतंत्र शैली क्या है इसकी व्याख्या कहीं नहीं दी गई है। न इसके उदाहरण में किसी नाटक का नामोल्लेख किया गया है।

भारतेंदुयुगीन नाटकों का कलागत अध्ययन नामक शीर्षक में वस्तुविवेचन के अंतर्गत द्वितीय खंड की आवृत्ति होती है। यहाँ पौराणिक, सामाजिक, प्रेमप्रधान, प्रतीकवादी, ऐतिहासिक नाटकों एवं प्रहसनों के नाम बताए जाते हैं एवं उनकी संक्षिप्त कथा दी जाती है जो दूसरे खंड में विस्तार से दी गई थी। पात्रगत विवेचन में पात्रों के दो वर्ग बनाए गए हैं—साधारण और असाधारण। संवाद तत्व के अंतर्गत प्रधानतया भाषा का ही विवेचन हुआ है। कलागत अध्ययन में इन तीन तत्वों के आधार पर ही नाटकों को कसा गया है जबकि कलागत अध्ययन के आरंभ में पाँच तत्व—वस्तु-विन्यास, पात्र, संवाद, भाषा और देशकाल बताए गए थे ( पृ० २१७ )। क्यों दो तत्वों का विवेचन छोड़ा गया, इसका कारण शोधप्रबंध में नहीं बताया गया है। अनुवादित नाटक एवं हिंदी प्रदेश के रंगमंचों का विवरण देने के बाद भारतेंदुकालीन नाटकों में सामाजिक जीवन का जो प्रतिबिंब

प्राप्त होता है, उसका उल्लेख है। यदि यह देशकाल के अंतर्गत है तो यहीं इसका विवेचन होना चाहिए था।

हिंदी प्रदेशों में रंगमंच के अंतर्गत विस्तार से लोकनाट्यों,—विशेष-तया रासलीला, रामलीला, स्वांग के साथ पारसी नाटक मंडलियों का विवरण उपस्थित किया गया है जो स्पष्ट और उचित है। हिंदी के साहित्यिक रंगमंच वाला विवरण प्रयास एवं शोधमय है। कानपुर, वाराणसी, प्रयाग, आरा, बिहार, झाँसी नगरों में जो साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुए उनका विवरण परिश्रमपूर्वक संकलित किया गया है और मूल्यवान् है। अंत में भारतेंदुजी के मौलिक, रूपांतरित एवं अनूदित नाटकों का आलोचनात्मक विवरण दिया गया है। शोधकर्ता ने पीछे भारतेंदुकालीन 'अनुवादित' नाटकों का विवरण दिया था ( पृ० २४३ से २७८ तक )। भारतेंदुजा के नाटकों के प्रसंग में अनुवादित शब्द का प्रयोग न करके 'अनूदित' शब्द का प्रयोग हुआ है ( पृ० ३८४ )। शोध में ऐसे विशृंखलित प्रयोग उचित नहीं कहे जाते हैं। भारतेंदुजी के नाटकों का यह विवेचन सामान्य है, विशिष्ट एवं शोधपरक नहीं। ऐसा विवरण भारतेंदु के नाटकों के संबंध में अन्यत्र भी मिल जाता है, प्रायः नाटककार भारतेंदुजी पर लिखे सभी ग्रंथों में।

---

# हिंदी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना

डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त

भारतीय समाज में नारी के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास अपने आप में एक रोचक विषय है, उसे उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना और भी रोचक है। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल० की उपाधि प्रदान किए गए इस शोधप्रबंध का उद्देश्य सन् १८५७ से सन् १९४७ तक हिंदी उपन्यास द्वारा नारी की स्थिति का अध्ययन प्रस्तुत करना है। यह विषय रोचक और महत्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक अछूता रहा है। लेखक की यह उक्ति तो प्रतिशयोक्तिपूर्ण है, 'प्रस्तुत शोधप्रबंध इस दिशा की ओर किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में सर्वप्रथम शृंखलाबद्ध एवं मौलिक प्रयास है।' क्योंकि विदेशी भाषाओं में नहीं, मराठी तक में (अन्य भारतीय भाषाओं की बात मैं नहीं जानता) डॉ० दु० का० संत का 'मराठी स्त्री' इस दिशा में किया गया स्तुत्य प्रयास है। हाँ, हिंदी में इससे पूर्व नायिकाओं का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया था। डॉ० सिनहा ने इस अभाव को दूर किया है, अतः वह अभिनंदन के पात्र हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबंध के ३१३ पृष्ठ नौ अध्यायों तथा उपसंहार में विभाजित हैं। प्रथम अध्याय 'पूर्व पीठिका' में १८५७ ई० से १९४७ ई० तक की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और विभिन्न आंदोलनों का विवरण देते हुए लेखक ने बताया है कि किस प्रकार इनके कारण नारी की स्थिति में शनैः शनैः परिवर्तन हुआ और उसने हिंदी उपन्यासों की नायिका की परिकल्पना को प्रभावित किया।

हिंदी के अनेक शोधप्रबंध विषय के पिष्टपेषण, सर्वविदित बातों के पुनः प्रस्तुतीकरण, भरती की सामग्री आदि दोषों से आक्रांत रहते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ भी इस दोष से नहीं बच पाया है। दूसरे अध्याय में 'उपन्यास का महत्व', उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति, उपन्यास की विविध परिभाषाएँ, उपन्यास का आरंभ, उपन्यास के रचना तत्व और

उनमें पात्रयोजना आदि विषय ऐसे हैं जिनपर अन्यत्र भी विपुल सामग्री मिलती है। उपन्यास की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए और उनमें कोई न कोई कमी बताकर उन्हें अस्वीकार करने के उपरान्त लेखक ने जो परिभाषा स्वयं दी है, वह भा पूर्ण और आदर्श नहीं है। परंतु अन्य अनेक समस्याएँ—पात्रयोजना में नारी पात्र, नारी पात्रों में नायिका, नायिका की परिभाषा आदि पर लेखक ने मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया है। लेखक का यह मंतव्य भी युक्तियुक्त है कि औपन्यासिक पात्र समाज के जीवित व्यक्तियों की पूर्ण प्रतिकृति नहीं होने चाहिए, क्योंकि जिन लेखकों, जैसे मराठी में डा० केतकर, ने ऐसा किया है, उनके पात्र विद्रूप मात्र बनकर रह गए हैं।

इस अध्याय में प्रस्तुत लेखक के कतिपय मत स्वीकार नहीं किए जा सकते। उसके अनुसार नारी के प्रति सहज आकर्षण और सहानुभूति हमें उससे पूर्णरूप से घृणा करने से रोकती है और यदि हमें आक्रोश होता है, तो लेखक पर, नारी पात्र पर नहीं, भले ही वह कितनी ही पतित क्यों न हो। पर बात ऐसी नहीं है। यदि वह पतिता है, मर्यादा का उल्लंघन करती है, तो हमें उसपर और उसके स्रष्टा दोनों पर आक्रोश होता है। हाँ, यदि लेखक ने उसके पतन के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारण दिए हैं जैसे कि जैनेंद्र की सुनीता के संबंध में, तो न हम सुनीता से घृणा करते हैं और न उसके स्रष्टा से। सुनीता के प्रति हमारी सहानुभूति का कारण यह नहीं कि वह अबला है, बल्कि इसलिये कि उसके मानसिक अंतर्द्वंद्व के प्रति लेखक हमारी सहानुभूति उभारने में समर्थ रहा है।

लेखक की दृष्टि में वे पात्र जैसे 'दिव्या' का मारिश, निठल्ले हैं जो कथानक के विकास में अनुपयोगी या अनावश्यक हैं, भले ही वे किसी सिद्धांत या विचारधारा का प्रतिपादन करने के लिये अवतरित किए गए हों। आज जब कथानक ही उपन्यास का अनिवार्य तत्व नहीं रह गया है और उपन्यास में गंभीर विषय का विवेचन अभीष्ट माना जाता है, पात्रयोजना संबंधी यह दृष्टि ठीक प्रतीत नहीं होती।

तीसरे अध्याय में नायिकाओं की परिकल्पना के प्रमुख स्रोतों को लेखक ने दो वर्गों में बाँटा है—परंपरागत और आधुनिक। प्रथम में उसने आदर्श पत्नी, माता, भगिनी, वीरांगना आदि को रखा है और दूसरे के अंतर्गत नवीन चेतना और नारी मनोविज्ञान को। इस संदर्भ में मनोविज्ञान के

विभिन्न सिद्धांतों का संक्षेप में बहुत सुंदर विवेचन किया गया है जो पात्रों को समझने में सहायक होगा। लेखक का कथन है, 'जब भी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के कथानक की पृष्ठभूमि भारतीय समाज एवं परिवार की आधारशिला पर निर्मित की है, मातृत्व की इन्हीं भावनाओं को अपनी नायिकाओं से प्रतिबिंबित किया है।' यह तो ठीक है कि माता और मातृत्व की गरिमा पर हमारे यहाँ के उपन्यासों 'गोदान' आदि में बहुत कुछ लिखा गया है, पर जैसा कि आगे चलकर लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है 'नायिका का ऐसा रूप जो अवासनात्मक वर्ग के अंतर्गत रखा जा सके नहीं देखने में आया। माँ, बहिन आदि रूप में नायिकाओं की कल्पना हिंदी उपन्यासों में अभी तक नहीं की गई है।' जब नायिकाओं की सृष्टि ही नहीं हुई, तो उनकी परिकल्पना के स्रोत की बात कहना कहाँ तक संगत है ?

हिंदी उपन्यासकारों के लिये आदर्श पत्नी अवश्य प्रेरणा का स्रोत रही है और प्रारंभिक उपन्यासों में उन्हें प्रमुख नारी पात्र के रूप में चित्रित भी किया गया है, पर लेखक ने जो उदाहरण दिए हैं, उनमें से कुछ उपयुक्त नहीं। 'कर्मभूमि' की सुखदा पति, श्वसुर और समाज तीनों से विद्रोह करती है; उसे परंपरागत आदर्श पत्नी कैसे कहेंगे ? जैनेंद्र की कल्याणी की सृष्टि के पीछे आदर्श पत्नी का रूप नहीं, लेखक का 'आत्मपीड़न' का सिद्धांत है। वस्तुतः ये दोनों नारी पात्र नवीन चेतना और नारी मनोविज्ञान के आधार पर गढ़े गए हैं और जिन तीन वर्गों में लेखक ने आधुनिक नायिकाओं को वर्गीकृत किया है, उनमें से सुखदा ( शैला नहीं ) विद्रोही तथा कल्याणी आत्मपीड़ा सहन करनेवाली नायिकाओं के अंतर्गत आएँगी।

चौथे अध्याय में नायिकाओं के वर्गीकरण का आधार और अगले तीन अध्यायों में उस आधार पर नायिकाओं के तीन वर्ग—प्रेमिकाएँ, गृहस्थ नायिकाएँ और अग्र्य नायिकाएँ—किए गए हैं। हमारी दृष्टि में इस शोध-प्रबंध की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि नायिकाओं के वर्गीकरण का आधार सुनिश्चित और वैज्ञानिक नहीं है। कभी लेखक वासनात्मक अवासनात्मक को आधार बनाता है, तो कभी समाज में नारी की स्थिति, उपन्यास लेखिकाओं की स्थिति, औपन्यासिक शिल्प में प्रयोग एवं उपलब्धियों की संभावनाओं तथा स्थानीयता को ध्यान में रखने की बात कहता है। उपन्यास के प्रतिपाद्य, लेखक के उद्देश्य या परिकल्पना संबंधी दृष्टि के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक संगत और वैज्ञानिक होता; पर ऐसा नहीं किया

गया है जिसके फलस्वरूप ग्रंथ में पुनरावृत्ति और असंगतियाँ आ गई हैं। प्रेमिका नायिकाओं की विशेषता बताते हुए लेखक 'परख' की कट्टो को प्रेम में त्याग को प्रधानता देनेवाली तथा 'कायाकल्प' की मनोरमा को प्रेम का दमन करनेवाली कहता है, जबकि दोनों में इस दृष्टि से कोई अंतर नहीं—दोनों अपने प्रेम भाव का दमन करती हैं, प्रेमी के लिये त्याग करती हैं। निरंजना को लेखक ने प्रतिहिंसा भाव से प्रेरित हो प्रेम करनेवाली नायिका कहा है, पर वस्तुतः लेखक का बल उसके प्रतिहिंसा भाव को उभारना नहीं, वह तो उसके माध्यम से ऐसी कुंठाग्रस्त नारी का चित्रांकन करना चाहता है, जो हीनता भाव से ग्रस्त है। जिसकी अंतश्चेतना में यह बात गहरी जड़ जमा चुकी है कि वह एक वेश्या माता तथा खूनी पिता की संतान है और प्रयत्न करने पर भी जिसके चरित्र से वेश्या के संस्कार नहीं मिट पाते। मंजरी को लेखक ने पुरुष की छलना द्वारा उत्पीड़ित नायिका कहा है, जबकि वस्तुतः इलाचंद्र जोशी उसे और नीलिमा दोनों को अचेतन सचेतन के भूलें में भूलती हुई नारी के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। सारांश यह कि नीलिमा, मंजरी, निरंजना तीनों को एक वर्ग में रखना चाहिए क्योंकि उनकी परिकल्पना के पीछे एक दृष्टि है। वे प्रेमिका अवश्य हैं, पर उनके चरित्र की मुख्य विशेषता उसकी मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ हैं।

छठे अध्याय में लेखक ने गृहस्थ नायिकाओं के अंतर्गत भाग्यवती, लक्ष्मी, त्रिवेणी, तितली, कल्याणी, मृणाल, सुनीता, जमना, जालपा, निर्मला आदि को रखा है। इस कटघरे में एक साथ बंद किए जाने के लिये उन्होंने केवल एक अपराध किया है कि वे गृहस्थी बसाए हुई हैं। पर क्या यह सादृश्य उन्हें एक श्रेणी में रखने के लिये पर्याप्त है? लेखक के उद्देश्य और रचना के प्रतिपाद्य की ओर ध्यान न देने के कारण ही ऐसा हुआ है। प्रारंभिक उपन्यासों के नारी पात्र भाग्यवती आदि तो गृहस्थ नायिकाएँ कही जा सकती हैं, पर सुनीता, मृणाल, कल्याणी आदि की सृष्टि के पीछे तो मनोवैज्ञानिक ग्रंथि और कुंठा का चित्रण ही लेखक को अभीष्ट था, अतः वे एक वर्ग में नहीं रखी जा सकतीं। जमना और मृणाल, तितली और कल्याणी को एक साथ रखना भी उनके प्रति अन्याय है। यह कहना कि 'मृणाल की परिकल्पना का स्रोत निश्चय ही वे भारतीय परंपराएँ थीं, जिनके शिकंजे में नारी कुछ इस तरह जकड़ी हुई थी कि उसका अस्तित्व दासी के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था', लेखक के दृष्टिकोण को न

समझने का परिचायक है। जैवैत्र तो आत्मवीक्षण के सिद्धांत की महत्ता बताना चाहते थे, नारी समस्या का व्यावहारिक समाधान देना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसके विपरीत सियारामशरण को जमना के माध्यम से हिंदू नारी का आदर्श रूप प्रतिष्ठित करना था। इस तथा अगले अध्याय के कुछ उपशीर्षकों—अनमेल विवाह और पारिवारिक अशांति, आभूषण, प्रेम और गृहस्थ जीवन की असफलता, वास्तविक नारी शिक्षा का अभाव आदि देख कर लगता है जैसे इन अध्यायों का मुख्य विषय सामाजिक समस्याओं का चित्रण है, नायिकाओं का वर्गीकरण नहीं।

आठवें अध्याय में नायिकाओं तथा प्रधान नारी पात्रों के आधार पर उपन्यास लेखकों के नारी संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। लेखक ने पहले दो दृष्टिकोण माने हैं—सुधारवादी और आदर्शवादी। पुस्तक के पृष्ठ १७ पर लेखक सुधारवादी आंदोलनों का कारण परंपरा का मोह, धार्मिक आडंबरों में विश्वास, रूढ़ियों में आस्था मानता है। स्पष्ट है कि वह इन सबके विरोध को ही सुधारवाद स्वीकार करता है। परंतु जब वह किशोरीलाल गोस्वामी और मेहता लज्जाराम शर्मा को सुधारवादी कहता है, तो बात उलझ जाती है और यह उलझन उस समय और भी बढ़ जाती है जब वह पुनः कहता है, 'वे कट्टर सनातनधर्मी थे और नारी शिक्षा के विरोधी थे।'.....उनका दृष्टिकोण कितना संकुचित एवं रूढ़ था ... वह सुधारवादी भले ही हों, वह भी लेखक के अपने मतानुसार.....' वस्तुतः यदि इन दो वर्गों के स्थान पर एक ही वर्ग किया जाता और उसका नाम आदर्शवादी रखा जाता तो अधिक उचित होता क्योंकि आदर्श तो समय के साथ बदल सकते हैं और एक लेखक का आदर्श दूसरे से भिन्न भी हो सकता है। तीसरा दृष्टिकोण रोमांटिक परिकल्पना संबंधी कहा गया है पर इसका सम्यक् स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है। इन कतिपय असंगतियों के होते हुए भी यह अध्याय लेखक की सुलभी दृष्टि का परिचायक है और उसने उपन्यासकारों के नारी संबंधी दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझा है। 'गोदान' की मालती के चरित्र विश्लेषण में उसकी गहरी पैठ और सूक्ष्म विश्लेषण पद्धति का प्रचुर प्रमाण मिलता है।

अंतिम अध्याय में नायिकाओं के स्वरूप का विकासक्रम भी बड़े सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया गया है और लेखकों को उचित ही परामर्श दिया गया है कि मर्यादा और शास्त्रीनता का उल्लंघन करनेवाली इनी गिनी नारियाँ

को भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व मानकर वे अपनी नायिकाओं की परिकल्पना समाज के नैतिक उत्थान को दृष्टि में रखकर करें।

लेखक ने 'आत्मकथन' में इस बात पर बल दिया है कि नायिका और प्रधान नारी पात्र में भेद है। आठवें अध्याय की बात छोड़ भी दें, जिसके विषय में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसमें प्रधान नारी पात्रों की चर्चा की गई है और जो शेष ग्रंथ का पूरक है; तो भी अन्य कई स्थलों पर नायिका और प्रधान नारी पात्र में भेद नहीं किया गया है और ऐसे नारी-पात्रों की नायिका के रूप में चर्चा की गई है जो उसके द्वारा प्रणीत नायिका की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। उदाहरण के लिये, किशोरी-लाल गोस्वामी प्रभृति आरंभिक उपन्यासकारों के स्त्री पात्र नायिका नहीं कहे जा सकते, पर लेखक ने ऐसा किया है। पृष्ठ १२१ पर उसने कुछ नायिकाएँ गिनाई हैं जैसे, वेश्याएँ, कृषक बाला, मजदूरिन, विधवा आदि। हमारे देखने में ऐसा कोई उपन्यास नहीं आया जिसमें ये नायिका के रूप में चित्रित हुई हों—हाँ, प्रधान नारी पात्रों के रूप में उनकी स्थिति वहाँ अवश्य है।

परस्परविरोधी कथनों से शोध की वैज्ञानिकता को आघात पहुँचा है। पृष्ठ ४० पर उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन बताया गया है, और अगले ही पृष्ठ पर कहा गया है कि 'मनोरंजन उपन्यास का उद्देश्य नहीं है।' पृष्ठ ७१ पर लेखक वेश्यावृत्ति की समस्या का मूल समाज में नहीं व्यक्ति में—नारी की कुवासना में—मानता है तो आगे चलकर उसका कारण आर्थिक परतंत्रता बताता है जिसके लिये समाज ही उत्तरदायी होता है। पृष्ठ २२६ पर वह दिव्या की परिकल्पना के पीछे आर्य ललना का आदर्श मानता है, तो पृष्ठ २२८ पर लिखता है—'दिव्या की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी भावनाएँ क्रियाशील थीं।' .

प्रबंध में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जो अधिक विचारमंथन और संतुलित दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं—(१) भारत में नारियों में मातृत्व का इतना विकास हो गया था और उसकी महत्ता इतनी वृद्धि प्राप्त कर गई थी कि विश्व के अन्य भागों में भी नारियों में ममत्व के विकास पर बल दिया जाने लगा (पृ० ८२)। (२) उस समय तक भारतीय नारियों में काफी आत्म-पतन हो चुका था.....नारियों के नैतिक उत्थान की दृष्टि से एक वीर चरित्र की आवश्यकता का अनुभव कर ही लेखक ने लक्ष्मीबाई का चित्रण किया (पृ० २१२)।

मुद्रणदोष, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद की भूलें, पादटिप्पणी संबंधी भूल भी चिंत्य हैं। मुद्रणदोष के कारण तो कहीं कहीं अर्थ का अनर्थ हो गया है जैसे, संख्या के स्थान पर संस्था ( पृष्ठ २३ ), भौतिकता की जगह मौलिकता ( पृष्ठ १७ ), रूपक के स्थान पर पूरक ( पृष्ठ ३८ ), नायिका की जगह याचिका ( पृष्ठ ११० ), प्रयाण की जगह प्रमाण ( पृष्ठ १११ )। पृष्ठ १३६ पर पात्र का नाम एक स्थान पर वीरेंद्रसिंह है, दूसरे स्थान पर नरेंद्र सिंह। इसी प्रकार पृष्ठ २४६ पर नायिका का नाम एक जगह निशा है, तो दूसरे स्थान पर निराशा। अंग्रेजी शब्दों के अनुपयुक्त अनुवाद के उदाहरण हैं—मेमोरेण्डम के लिये विवरण पत्र ( पृष्ठ २५ ) तथा सुपिरीयार्टी कॉम्प्लेक्स के लिये उच्चता का भाव ( पृष्ठ २२६ )। पृष्ठ २४४ की पहली पादटिप्पणी गलत प्रतीत होती है। आशा है अगले संस्करण में इन दोषों का परिहार हो जायगा।

इस मौलिक और अछूने विषय पर लिखे गए इस प्रथम शोधप्रबंध के लिये लेखक निश्चय ही बधाई का पात्र है। उसकी सूझ और अथक परिश्रम का प्रतिफल यह ग्रंथ हिंदी के एक अभाव को दूर करने की दिशा में निस्संदेह स्तुत्य प्रयास है।

---

# हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन'

डॉ० सत्यपाल चुप

आलोच्य ग्रंथ में लेखक ने विश्व के बीच उपन्यास साहित्यों—फ्रांसीसी अंग्रेजी तथा रूसी उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में हिंदी उपन्यास साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। किसी देश के साहित्य का सही मूल्यांकन विश्व साहित्य से उसके तुलनात्मक अध्ययन से ही संभव हो सकता है, इस दृष्टि से, हिंदी उपन्यास की समीक्षा के क्षेत्र में डॉ० गणेशन का यह ग्रंथ प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। इस तुलनात्मक अध्ययन की सफलता में लेखक के पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टिकोण तथा व्यापक अध्ययन ने पर्याप्त योग दिया है। इस संबंध में खटकनेवाला आश्चर्य यही है कि लेखक ने संसार के परिप्रेक्ष्य को तो चुना है किंतु अपने ही घर के भारतीय परिप्रेक्ष्य—बंगला, मराठी, गुजराती आदि के उपन्यासों को वह भूल गया है जिससे हिंदी उपन्यास, विशेषतया अपनी आरंभिक अवस्था में, विशेष प्रभावित हुआ है। हिंदी उपन्यास क्षेत्र में भी लेखक ने जहाँ अनेक अल्पचर्चित या उपेक्षित उपन्यासों एवं उपन्यासकारों को स्थान दिया है—और यह प्रशंसा है—वहाँ महत्वपूर्ण उपन्यासों एवं उपन्यासकारों की वह जाने या अनजाने उपेक्षा कर बैठा है। उदाहरणतया निराला के अप्सरा, अलका, प्रभावती जैसे अपेक्षाकृत सफल उपन्यासों का नाम तो है किंतु इनके कहीं अधिक सफल 'बिल्लेसुर बकरिहा' का उल्लेख तक नहीं। आश्चर्य है कि लेखक अमृतलाल नागर तथा राजेंद्र यादव की एकांत उपेक्षा कैसे कर सका है। नागरजी का 'बूंद और समुद्र' तो हिंदी के गिने चुने श्रेष्ठ उपन्यासों में से है। 'भूले बिसरे चित्र' का अनुल्लेख भी चिंत्य है। इनके अतिरिक्त लेखक प्रेमचंदोत्तर युगीन नए प्रयोगों की भी प्रायः उपेक्षा कर बैठा है। 'सोया हुआ जल', 'काठ का उल्लू और कबूतर', 'सेठ बाकिमल', 'चाँदनी के खंडहर', 'बहती गंगा' आदि का उल्लेख ही नहीं हुआ, 'बाबा बटेसरनाथ' का केवल एक ही स्थान पर—वह भी फुटनोट में—उल्लेख मात्र है और यह भी उसकी प्रायोगिकता

के संदर्भ में नहीं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का दो स्थलों पर उल्लेख है किंतु ऐसा लगता है कि लेखक ने उसे पढ़ा नहीं या बहुत सतही ढंग से पढ़ा है, नहीं तो वह उसे विषयैक्य की कमी के प्रसंग में रांगेय राधव के असंबद्ध उपन्यास 'अंधेरे की भूख' की तरह कई कहानियों का संग्रह न कहता। उपन्यास के विभिन्न प्रकारों के विवेचन में लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास का पृथक् विवेचन नहीं किया। यथार्थवाद के विभिन्न रूपों की चर्चा तो है किंतु ऐतिहासिक उपन्यासों से संबद्ध ऐतिहासिक यथार्थवाद को स्थान नहीं दिया गया।

आलोच्य प्रबंध आठ अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय उपन्यास की परिभाषा, व्याख्या तथा उसके महत्व से संबद्ध है। लेखक ने उपन्यास के क्षेत्र, दायित्व तथा विश्लेषणक्षमता पर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने पूर्वप्रचलित उपन्यास की विभिन्न परिभाषाओं की परीक्षा समीक्षा न करते हुए सीधे अपनी परिभाषा दी है—'उपन्यास मनुष्य के सामाजिक, वैयक्तिक अथवा दोनों प्रकार के जीवन का रोचक साहित्यिक प्रतिरूप है, जो प्रायः एक कथा-सूत्र के आधार पर निर्मित होता है'। इस परिभाषा पर साहित्य की अन्य विधाओं तथा उपन्यास के स्वरूपविकास के इतिहास को दृष्टि में रखकर अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं और यह आपत्ति तो एकांत स्पष्ट है कि लेखक ने उपन्यास की गद्यरूपता का उल्लेख तक नहीं किया।

दूसरे अध्याय में हिंदी एवं पश्चिमी उपन्यास के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। लेखक का निष्कर्ष संगत है कि 'प्राचीन से उपन्यास के निर्माण में विशेष सहयोग नहीं मिला।' निस्संदेह 'हिंदी उपन्यास की परंपरा उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही शुरू हुई और उसपर समय समय पर देश विदेश के विभिन्न साहित्यों का प्रभाव पड़ा।' प्रेमचंद पूर्व उपन्यास साहित्य की चर्चा को यद्यपि लेखक ने 'सिंहावलोकन मात्र' कहा है तथापि उस युग की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताओं तथा उपन्यासों की उपेक्षा खटकनेवाली बाब है; जैसे, ऐतिहासिक उपन्यासों में ब्रजनंदन सहाय के 'लालचीन' का नामोल्लेख आवश्यक था और विशेषताओं में उपन्यासों की सुखांत परिणति का। इसी अध्याय में लेखक ने प्रेमचंद के गुण दोषों का सुसंगत तथा कुछ नया अध्ययन किया है। उसने प्रेमचंद पर लिखी आलोचना पुस्तकों की एक तालिका प्रस्तुत कर पाठकों और आलोचकों का ध्यान इस स्थिति दशा की ओर इंगित किया है कि 'प्रेमचंद के उपन्यासों के ठीक ठीक रचनाकाल ( अथवा प्रकाशन काल ) का निर्णय करना अब बहुत कठिन हो

गया है ।' प्रेमचंदोत्तरकालीन उपन्यासों के विवेचन में लेखक ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को ऐतिहासिक उपन्यासों में नहीं, 'कुछ विशेष प्रकार के' उपन्यासों के अंतर्गत रख इसे 'शुद्ध साहित्यिक उपन्यास' कहा है । किंतु इसका कोई कारण नहीं दिया । शोधग्रंथों में प्रचलित मतों से भिन्न मत प्रस्तुत करने की कारणसंगति के अभाव में लेखक की मनमानी ही कही जाएगी ।

आलोच्य पुस्तक का तीसरा अध्याय उपन्यास के वस्तुविधान के विवेचन से संबद्ध है और यह इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय है । लेखक ने सफलता से वस्तुविधान की विभिन्न पद्धतियों, विवरण शैली, दृश्यविधान शैली ( उसमें गतिशील एवं गतिहीन दृश्यों आदि ) का विवेचन किया है । यहाँ पनोरमिक तथा सरितोपम उपन्यासों के गुण दोषों का भी उपयोगी अध्ययन हुआ है । इसी अध्याय में ही वस्तुगठन की दृढ़ता शिथिलता, विषयाधिक्य एवं विषयाल्पत्व, विषयैक्य, भाववेग ( टेम्पू ), मनोदशा ( मूड ) का भी हिंदी में पहली बार यत्किंचित् गंभीर अध्ययन किया गया है ।

चौथा अध्याय 'उपन्यास और समाज' के संबंधों पर आद्धृत है । इस संबंध में लेखक का निष्कर्ष विचारणीय है—'हिंदी उपन्यास में जैसे विशालता का अभाव है, उसी तरह अग्राधता का भी है । चाहे सामाजिक जीवन का अध्ययन हो, चाहे वैयक्तिक जीवन का, हमारे लेखकों ने सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं समझी है । यूरोप के प्रारंभिक उपन्यासों में अग्राध अध्ययन का अभाव है, पर अधुनातन यूरोपीय उपन्यास का आधार ही गंभीर अध्ययन है ।

पाँचवें अध्याय में पात्रों के चरित्रचित्रण के अध्ययन का गंभीर प्रयत्न मिलता है । लेखक ने इस भ्रांत धारणा को दूर किया है कि प्रेमचंद के पात्र टाइप मात्र हैं । इस अध्याय के अंतिम खंड में लेखक और पात्रों के पारस्परिक संबंध का भी संगत विवेचन हुआ है ।

छठे अध्याय में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सामान्य विशेषताओं के साथ पात्रों की मूल वृत्तियों तथा मानसिक कार्यपद्धतियों को निदर्शित किया गया है । अंत में लेखक ने हिंदी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कुछ बलहीनताओं को भी स्पष्ट किया है ।

सातवाँ अध्याय यथार्थ, आदर्श और उनसे संबंधित वादों का अध्ययन करता है । इन वादों में प्रकृतिवाद का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिससे

लेखक हिंदी में फैली तत्संबंधी अनेक भ्रांतियों को दूर कर सका है। पात्र, वातावरण और शैली की पारस्परिक अनुकूलता का भी अच्छा विवेचन हुआ है।

अंतिम अध्याय में 'उपसंहार' के अंतर्गत विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासों के मुख्य गुणों को देते हुए उन्हीं के आलोक में हिंदी उपन्यास की उपलब्धि-सीमाओं तथा विश्व उपन्यास साहित्य की कुठित दशा को निष्कर्षित किया गया है। लेखक का मत है—'वैसे, जैसे आज है; हमें गोदान, शेखर, दिव्या, सागर लहरें और मनुष्य, भाँसी की रानी, मृगनयना, मैला आँचल आदि आधे दर्जन से अधिक उत्कृष्ट उपन्यास प्राप्त हुए हैं जिन्हें निस्संकोच विश्व उपन्यास साहित्य में स्थान दिया जा सकता है।' इस निष्कर्ष से मतभेद की बड़ी गुंजायश है। इस मतभेद वाली बात को टाला जा सकता है किंतु आपत्ति यही है कि उपर्युक्त निष्कर्ष लेखक के अपने अध्ययन की स्वाभाविक परिणति नहीं—उसने 'सागर लहरें और मनुष्य' और 'भाँसी की रानी' जैसे उपन्यासों के जो दोष दिखाए हैं, वे किसी प्रकार भी इन उपन्यासों को विश्व-उपन्यास साहित्य में स्थान देने की अनुशंसा नहीं करते। इन दो उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य उपन्यासों का भी ऐसा वैशिष्ट्य सामने नहीं आया कि इन्हें विश्व उपन्यास साहित्य में स्थान दिया जाय—कम से कम लेखक का यह अध्ययन उसे सिद्ध नहीं कर सका। इसके लिये इन उपन्यासों के पृथक् विवेचन की आवश्यकता थी। लेखक की कुछ साधारण भूलों का उल्लेख भी किया जा सकता है। उसने वृंदावनलाल वर्मा के 'प्रत्यागत' को जोशीजी का उपन्यास लिख दिया है। डा० देवराज की 'साहित्य चिंता' को डा० देवराज उपाध्याय की समझ लिया गया है। 'झूठ सच' को गलती से सियारामशरण गुप्त का उपन्यास कहा गया है।

डा० गणेशन का गद्य शैली की अभिव्यक्तिकक्षमता स्तुत्य है। इस प्रबंध की प्राविधिक व्यवस्था भी प्रशंसनीय है। हिंदी के शोध ग्रंथों में प्रायः संदर्भग्रंथ सूची में पूरे विवरण नहीं दिए जाते किंतु इस ग्रंथ में यह कमी नहीं मिलती।

फिर भी कुल मिलाकर यह प्रबंध डा० गणेशन के पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टिकोण, व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म विश्लेषण तथा स्पष्ट अभिव्यंजना के कारण महत्वपूर्ण बन गया है। आशा है उपन्यास की समालोचना के क्षेत्र में इस पुस्तक का समुचित समादर होगा।

# हिंदी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव'

डा० कैलाशपति ओझा

डा० मिश्र का यह शोधप्रबंध प्रयाग विश्वविद्यालय में डॉक्टर आफ फिलामफी की उपाधि के लिये सन् १९५० ई० में प्रस्तुत किया गया था। इस ग्रंथ के 'निवेदन' में अभिव्यक्त लेखक के शब्दों के साथ मेरी पूर्ण सहमति है कि 'हिंदी भाषा तथा उसके साहित्य की विभिन्न विधाओं पर अंग्रेजी प्रभाव का यह अध्ययन, निश्चित रूप से, एक महत्वाकांक्षापूर्ण प्रयास रहा है'। मैं इसमें केवल इतना ही और जोड़ना चाहूंगा कि यह प्रयास प्रतिशय महत्वाकांक्ष हो गया है क्योंकि, भाषागत अथवा साहित्यगत कोई भी एक विशिष्ट रूप अपने आप में शोधप्रबंध का पूर्ण विषय बन सकता था। दोनों रूपों को संयुक्त करके शोधविषय का विस्तार कर दिया गया है। इससे शोधप्रबंध की एकनिष्ठता को आघात पहुँचा है, सूत्रवत्ता स्थलित हो गई है और शोधात्मकता भी कुछ कुछ शिथिल हो गई है।

प्रबंध को कुल मिलाकर बारह अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त छब्बीस पृष्ठों का परिशिष्ट भी है। 'प्रथम' अध्याय से 'पंचम' अध्याय तक की सामग्री प्रायः भूमिकात्मक ही है। विषय का विवेचन और विश्लेषण वास्तव में 'षष्ठ' अध्याय से प्रारंभ होता है। 'हिंदी भाषा पर अंग्रेजी प्रभाव' इस अध्याय का विषय बनाया गया है। 'सप्तम' अध्याय से लेकर 'एकादश' अध्याय तक साहित्य के विभिन्न रूपों—कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध एवं आलोचना आदि पर अंग्रेजी प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। प्रबंध का 'द्वादश' अध्याय निष्कर्ष और उपलब्धियों को अर्पित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अध्यायों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है और उनका विभाजन असंतुलित तथा असंयत हो गया है। क्योंकि, प्रथम पाँच अध्यायों को सरलता से दो अध्यायों में सन्निविष्ट किया जा सकता था। आठ आठ, दस दस पृष्ठों के अध्याय बनाना कहाँ का प्रबंधकौशल है? दूसरे, भाषा और साहित्य के

विश्लेषण के लिये नियुक्त अध्यायों में भी वांछनीय संतुलन नहीं है। 'भाषा' के लिये मात्र एक अध्याय देकर ही अलमिति मान ली गई है। अतः विषय के चयन और सामग्री के विभाजन में सामंजस्य और सानुपातिकता का अभाव आँखों और मन दोनों को बहुत ही खटकता है।

अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के संबंध में लेखक की यह उपपत्ति सर्वथा युक्त है कि अंग्रेजी भाषा ने सर्वप्रथम हिंदी के शब्दसमूह पर कार्य करना प्रारंभ किया था। पहले पहले तो अंग्रेजी शब्द अपने मूलरूप में ही ग्रहण किए जाने लगे। धीरे धीरे उन्हें अनूदित करके आत्मसात् करने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। शब्दों के साथ क्रमशः मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी अंग्रेजी से हिंदी भाषा में आने लगी। इसके अनंतर बड़े पैमाने पर, अंग्रेजी के व्याकरण तथा वाक्यविन्यास ने भी हिंदी भाषा के गठन को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। लेखक का तो यहाँ तक दावा है कि 'अंग्रेजी प्रभाव से ही हिंदी भाषा ने विरामचिह्नों के प्रयोग तथा अनुच्छेदों की व्यवस्था को ग्रहण किया।' विभिन्न तर्कों और प्रमाणों के आधार पर लेखक ने अपनी इन मान्यताओं को सिद्ध करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इस प्रयास में उसका गहन, गंभीर अध्ययन और श्रम प्रतिबिंबित हैं।

भाषा के संबंध में लेखक के इस विचार से भी मैं सहमत हूँ कि जिन प्रवृत्तियों को अंग्रेजी भाषा ने स्वयं शताब्दियों में विकसित किया, उसे हिंदी भाषा ने दशकों में ही संपन्न कर लिया। साथ ही, उसका यह मत भी निश्चय ही औचित्यपूर्ण है कि हिंदी के लेखकों ने अंधानुकरण नहीं किया है। अपनी प्रतिभा तथा अपने देश की साहित्यिक परंपरा के प्रति सजग रहते हुए ही उन्होंने अंग्रेजी भाषा की विभिन्न प्रवृत्तियों को आत्मसात् किया है।

कविता पर अंग्रेजी प्रभावों का अनुसंधान करते हुए लेखक ने यह स्थापना की है कि 'रीतिकाव्य से सहसा प्राधुनिक हिंदी कविता को विच्छिन्न कर देना सचमुच अंग्रेजी प्रभाव का परिणाम है।' यह निश्चय ही एक साहसपूर्ण स्थापना है। परंतु मेरा अपना विनम्र मत यह है कि देश का तत्कालीन वातावरण उससे कहीं अधिक इस 'विच्छिन्नता' के लिये उत्तरदायी है। लेखक की उपलब्धि है कि अंग्रेजी के कवियों में गोल्डस्मिथ, टामसन और वर्ड्सवर्थ ने हिंदी कविता को विशेष प्रभावित किया है। साथ ही साथ पोप, मैकाले और बायरन की कुछ काव्य कृतियों की भी हिंदी कविता पर स्पष्ट छाप है। परंतु प्राधुनिक हिंदी कविता को संवेदनशीलता और भाव-

सिक्तता का वरदान शैली और कीट्स से मिला है, इस तथ्य का परिशोध करने की ओर संभवतः लेखक ने ध्यान नहीं दिया है। क्योंकि, मात्र अनु-राग और प्रकृतिप्रेम ही आधुनिक हिंदी कविता की विशेषताएँ नहीं हैं, जिनपर उसने अपने शोधप्रबंध में विशेष बल दिया है। उपर्युक्त कवियों के प्रभाव की सीमा का निरूपण करते हुए लेखक ने साफ साफ कहा है कि 'हिंदी कविता पर यह प्रभाव अनुकरणात्मक नहीं वरन् अंतरग्रहण के रूप में है, आत्मसात् होकर आया है।' वस्तुस्थिति भी यही है। इस मत की अभिव्यक्ति हिंदी के पक्षपातवश नहीं की गई है, यह तथ्य है।

हिंदी नाटक पर अंग्रेजी प्रभावों की चर्चा करते हुए डॉ० मिश्र ने साहस-पूर्वक कहा है कि 'अंग्रेजी प्रभाव से फलस्वरूप ही हिंदी नाटक संस्कृत नाट्यशास्त्र की प्रस्तावना, नांदी, अर्थोपक्षेपक, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकमुख और अंकावतार आदि जटिलताओं से मुक्त हो सका है'। परंतु इस मान्यता के प्रक्षेपण के पूर्व संभवतः उसने भारतीय लोकनाट्य की संपदा और उसकी प्रवृत्तियों की ओर ध्यान नहीं दिया है। हिंदी नाटक के मनीषी आलोचक डा० दशरथ शोभा ने स्पष्टतः कहा है कि 'लोक नाटककार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विविष्ट नियमों, रूढ़ियों, अंधपरंपराओं एवं मान्यताओं के बंधनों को तोड़ता हुआ, प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है' ( सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ, पृ० १६ )। इसी प्रकार उन्होंने यह भी बल देकर कहा है कि 'लोकनाट्य का तंत्र शास्त्रीय तंत्र से पृथक् होता है। इनमें पंचसंधियों, कार्य अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, संह्यंतरों आदि को ढूँढ़ने के लिये सिर खपाना व्यर्थ है'। अतः यह कहना कि हिंदी नाटकों ने संस्कृत नाटकों के विस्तार और नियमों का अपरिग्रह अंग्रेजी नाटक से सीखा है, तर्कसंगत नहीं है।

संस्कृत नाट्यसाहित्य की जिन 'जटिलताओं' की चर्चा लेखक ने की है, वे लोकनाटकों में कितने अंश में सुलभ हैं, संभवतः इसकी छानबीन का प्रयत्न शोधार्थी ने करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। इसी लिये वह इतना खतरनाक वक्तव्य देने में अग्रसर हुआ है। इसी दौरान लेखक ने अंग्रेजी से प्रभावित हिंदी नाट्यकारों के विषय में कहा है कि 'अब वह ( नाट्यकार ) दुखांतका और आचारप्रधान एवं षडयंत्र प्रधान सुखांतकी रचनाएँ लिख सकता था।' जहाँतक दुखांतकी अथवा त्रासदी का संबंध है, लोकनाटकों में भी उनके अंत में मृत्यु एवं भयानक कष्ट देखने को मिलते हैं। अतः इन नाटकों को हम सुंदर और गंभीर त्रासदी की संज्ञा दे सकते हैं। परिणामतः

लेखक का यह कथन भी अतिरेकपूर्ण है। आचारप्रधान कामदियों के प्रभाव के विषय में निश्चय ही मुझे लेखक से सहमति है परंतु, लेखक की इस धारणा से मैं बिल्कुल भी तालमेल नहीं बैठा पा रहा हूँ कि 'पारसी थियेटर कम्पनियों का प्रभाव भी, अंग्रेजी प्रभाव का ही एक प्रकार रहा है।'

हिंदी उपन्यासों पर अंग्रेजी प्रभाव बँगला के माध्यम से ही आया है, ऐसी मिश्रजी की स्थापना है। जार्ज रेनॉल्ड का प्रभाव प्रस्तुत काल के उपन्यासों पर सर्वाधिक पड़ा है, यह ठीक ही है। निश्चय ही देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि उपन्यासकार रेनॉल्ड से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। रेनॉल्ड के साथ विल्की कालिंग्स और सर आर्थर कानन डायल अन्य अंग्रेजी उपन्यासकार हैं, जिन्होंने इस युगविशेष के हिंदी उपन्यासकारों पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। प्रेमचंदजी के दो उपन्यास प्रेमा (सन् १९१३) और सेवासदन (सन् १९१८) प्रस्तुत कालविशेष की सीमा में आ जाते हैं। डा० मिश्र के दृष्टिकोण से अंग्रेजी के दो विशिष्ट उपन्यासकारों—जार्ज इलियट और हैलिट स्टो का प्रभाव उनके प्रारंभिक उपन्यासों पर है। अन्य विधाओं के समान, लेखक के अनुसार, उपन्यास पर भी अंग्रेजी प्रभाव अनुकरणात्मक न होकर प्रेरणात्मक ही रहा है। उपन्यासकारों का साहित्यिक लक्ष्य सामाजिक परिष्कार की भावना है और प्रेमचंदजी का लक्ष्य नए प्रभाव के साथ साथ भारतीय आदर्शवाद की परंपरा का दृढ़ीकरण है। लेखक की ये उपर्युक्त उपलब्धियाँ तर्कसंगत, अतः उपयुक्त हैं।

हिंदी कहानी पर अंग्रेजी प्रभाव उपन्यास के समानांतर ही है। परंतु, उसपर अंग्रेजी की छाप अधिक गहरी और सुथरी है, यह मान्यता भी स्पष्ट, अतः अनुमोदनीय है।

निबंध और आलोचना पर प्रभावविश्लेषण के प्रारंभ में लेखक निबंध और आलोचना को 'छोटे साहित्यिक रूप' मानता है। यद्यपि आगे चलकर वह यह स्पष्ट कर देता है कि 'इस ग्रंथ की दृष्टि से ही वे छोटे हैं। निबंध के विषय में लेखक की उपलब्धि है कि 'हिंदी निबंध तो विशेष रूप से अंग्रेजी प्रभाव की ही सृष्टि है। हिंदी आलोचना भी अंग्रेजी के आलोचना ग्रंथों के संपर्क से सुदृढ़ हुई है।' यह मत तथ्यपूर्ण है, भले ही कटु है। अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव जितना प्रत्यक्ष निबंध और आलोचना पर है, उतना अन्य साहित्यरूपों पर नहीं। कारण यह है कि ये दोनों विधाएँ

प्रायः विचारप्रधान होती हैं । इनमें वैज्ञानिकता और तर्कसंगति अधिक होती है । ये विशेषताएँ पाश्चात्य देशों से, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हमें प्राप्त होती रही हैं । अतः निबंध और आलोचना विषयक लेखक की मान्यता का मैं स्वागत करता हूँ ।

शैली शिल्प के कतिपय दोषों के बावजूद तथा कुछ मान्यताओं से वैषम्य रहते हुए भी, मेरे विनम्र मत में, इस ग्रंथ की महत्वपूर्ण शोधदिशा सराहनीय है, स्तुत्य है ।

---

# आचार्य रामचंद्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य'

डॉ० शिवनाथ

रामचंद्र शुक्ल की भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के संपूर्ण कृतित्व का विवेचनापूर्वक लेखाजोखा लेनेवाला यह नवीनतम ग्रंथ है। उनके साहित्यसिद्धांतों और उनकी रचनाओं की ढूँढ़ खोज के जितने सूत्र मिल सके हैं उन सब तक लेखक की पहुँच है, और इन सूत्रों का विस्तार कर उन्होंने कई प्रसंगों में शुक्ल साहित्य से उनकी तुलना कर अपना मत प्रतिष्ठित करने का भी प्रयत्न किया है। ऐसा करने के लिये रामचंद्र शुक्ल के सिद्धांत एवं साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका, उनकी वैयक्तिक मानसिक पीठिका भी लेखक ने तैयार की है। उनका कोई भी ऐसा साहित्यिक कार्य नहीं है जिस तक लेखक की गति न हो। उनके जीवन और व्यक्तित्व की भाँकी भर परिशिष्ट में दिखाई गई है। संपूर्ण शुक्ल साहित्य को सामने रखनेवाला यह ग्रंथ प्रशंसनीय है।

ग्रंथ इस ढाँचे पर खड़ा है; अवतरणिका; साहित्यिक मान्यताएँ; परि-पाश्विक मान्यताएँ; व्यावहारिक आलोचना; आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी समीक्षा; हिंदी साहित्य का इतिहास; निबंध साहित्य, जीवनी साहित्य; कहानी; काव्य; इतर साहित्य; परिशिष्ट १, जीवन और व्यक्तित्व; परि-शिष्ट २, संदर्भ ग्रंथ; परिशिष्ट ३, नामानुक्रमणिका।

ग्रंथ देखने से ही पता चल जाता है कि लेखक में विवेचना और अध्य-वसाय की भी शक्ति है, जो विशेष रूप से वहाँ दिखाई पड़ती है जहाँ उन्होंने रामचंद्र शुक्ल द्वारा विवेचित नाना मनोविकारों के मनोवैज्ञानिक मूल को दरसाया है—मुख्यतः पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों के आधार पर।

‘आचार्य रामचंद्र शुक्ल : सिद्धांत और साहित्य’ शोधप्रबंध है, जिसकी मूल स्थापना है कि ‘उन्होंने समूची साहित्यिक साधना को और विशेषरूप से काव्यसाधना को ‘भावयोग’ के रूप में ही जाँचा और परखा है’ (पृ० २७-८)। फिर कैसे कहा जाय कि ‘.....शुक्लजी विभाव पक्ष पर अधिक बल देते थे भावपक्ष पर कम’ (पृ० ९१)।

शोधक अपनी एक दृष्टि से कुछ देखना चाहता है, क्योंकि इस प्रकार देखकर उसे अपना भी कुछ दिखाना रहता है। इससे होता यह है कि शोधक विषय, कृति या कर्ता में 'देखने' की इस दृष्टि से जब उसे कुछ नहीं मिलता तो वह उसकी टीका करता है। क्या शोधक की दृष्टि से देखना आवश्यक नहीं है ? 'साहित्यिक मान्यताएँ' के अंतर्गत मनोविकारगत रामचंद्र शुक्ल के विवेचन को विदेशी मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से देखने पर ग्रंथकार को बहुत कुछ नहीं मिला है। नहीं भी मिल सकना, क्योंकि उनकी दृष्टि प्रधानतः समाज में चलती मन की वृत्तियों तथा साहित्य पर ही रही है, इनको मनःशास्त्र की दृष्टि से देखने पर नहीं। इसे तो लेखक भी स्वीकार करते हैं ( पृ० ६१ )। फिर टीका टिप्पणी की गुंजाइश नहीं रह जाती।

'काव्य का अधिवास अभिवेयार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में' के प्रसंग में कई पंडितों का खंडन कर रामचंद्र शुक्ल का पक्ष विवेचनापूर्वक स्थापित करने के बाद भी कहा गया है : '.....इस स्थापना का क्या रहस्य है' '.....स्थापना का कोई संतोषजनक चिंतनसूत्र नहीं मिल पाता' (पृ० १११)। ऐसी उक्तियाँ ग्रंथकार के आत्मविश्वास, सामर्थ्य के विपक्ष में जाती हैं। 'रहस्य' तथा 'चिंतनसूत्र' बताने के लिये तो रामचंद्र शुक्ल ने कम माथा नहीं मारा है। बात यह है कि ग्रंथ में केवल 'कुछ कहने के लिये' भी कुछ कहा गया है। जैसे, रामचंद्र शुक्ल द्वारा मीमांसित रस की कोटियों में से मध्यम कोटि पर विचार करते हुए एक लेखक ने लिखा है : 'ऐसी स्थिति में जब काव्यगत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव की व्यंजना करता है, सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यंजना करता है, तब श्रोता, पाठक या दर्शक को 'प्रपूर्व तुष्टि' होती है। यह तुष्टि ही रस की मध्यम कोटि है' (पृ० ११८)। इसपर टीका करते हुए कहा गया : 'यदि इस तुष्टिवाले प्रसंग में ही रस की मध्यम कोटि मानें तो उसकी उत्तम कोटि कौनसी होगी ?' (पृ० वही)। कैसे समझाया जाय कि प्रसंगानुसार यह 'तुष्टि' और असल रसदशा एक ही नहीं हो सकती। इन्हीं लेखक द्वारा 'वस्तु' और 'भाव' के प्रसंग के विवेचन पर ग्रंथकार की टिप्पणी है : 'वस्तु को भावरूप मानने पर जो बल दिया गया वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता' (पृ० १३१)। उपयुक्त इसी लिये है कि स्वयं ग्रंथ में ही कहा गया : 'काव्य में केवल वस्तुरूप का चित्रण और बोध कराना मात्र कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता, वह भाव को जाग्रत करके रसानुभूति कराने का भी प्रयास करता है' (पृ० १३२)।

ग्रंथ में ( पृ० २६६ ) मेरी एक तथ्य संबंधी भूल दिखाई गई है, जिसे मैं अत्यंत विनम्र भाव से स्वीकार करता हूँ । इसा प्रसंग में क्षमाप्रार्थी होते हुए यह कहना चाहता हूँ कि रामकृष्ण परमहंस को 'रामकृष्ण मिशन' का जो संस्थापक माना गया है (पृ० ६), वह ठीक नहीं है । उनका स्वर्गवास सन् १८८६ ई० में हुआ और पहली मई, सन् १८९७ ई० को उनके शिष्य एकत्र हुए तथा स्वामी विवेकानंद ने आग्रह किया कि एक संस्था स्थापित होनी चाहिए । इसपर प्रस्ताव पास किया गया कि 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से एक संस्था स्थापित हो । ( रोम्याँ रोलैं, दि लाइफ् आव् विवेकानंद एंड युनिवर्सल गॉस्पेल, पृ० १३८-४१, अद्वैताश्रम, फलमोड़ा, सन् १९३१ ई० ) । विवेकानंद ही इसके प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किए गए ।

ग्रंथकार की उक्तियाँ किसी व्यक्ति, प्रसंग, विवेचन आदि में अत्यधिक अवसरों पर 'हाँ' और 'नहीं' के बीच से निकल भागती हैं । यदि ये सशक्त होकर किसी एक पर टिकी रहतीं तो शोधप्रबंध का सौंदर्य कुछ और होता ।

ऐसे ही ग्रन्थ को भी लेखक के मत विचारोत्तेजना दे सकते हैं जो स्वाभाविक है, क्योंकि 'मुँडे मुँडे मतिभिन्ना तुँडे तुँडे सरस्वती ।' और, यह भी है कि 'वादे वादे जायते तत्वबोधः ।' इससे इस शोधप्रबंध का महत्व कমেगा नहीं । लेखक की विद्वचनाशक्ति तथा श्रम की प्रशंसा सभी करेंगे । अधिक प्रसंगों में लेखक ने रामचंद्र शुक्ल की स्थापनाओं का सही मूल्यांकन कर उनकी जो प्रशंसा की है उससे किसको एतराज हो सकता है ।

# बालकृष्ण शर्मा नवीन : व्यक्ति एवं काव्य'

## डा० कमलाकांत पाठक

श्रीबालकृष्ण शर्मा नवीन आधुनिक हिंदी काव्य के कृती कवि हैं। उद्दाम यौवन के अलमस्त कवि के रूप में वे सुविख्यात हैं। उनका यह विशेषत्व अविस्मरणीय है कि उनकी यौवन वीणा के तारों की झंकार भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक भी है। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में कदाचित् जीवन की वास्तविक ऊष्मा उन्हीं के काव्य में उपलब्ध होती है। वे प्रकृत अनुभूतियों के कवि हैं। ऐसी सीधी और सपाट जीवनानुभूति तथा उसकी इतनी बेलाग अभिव्यंजना हमारे साहित्य में बेमिसाल ही कही जाएगी। उनकी रचना का सौंदर्य तराश और सजावट में नहीं है, अपनी बात दो टुक कह देने में है। उनकी कला का आकर्षक उपादान उसकी कलाविहीनता है। संक्षेप में, नवीनजी की कविता राष्ट्रीय नवप्रभात का उन्मुक्त कलरव है। उन्हें अनुभूति की सघाई और संवेगों की स्वाभाविकता का कवि समझना चाहिए।

और उनका व्यक्तित्व साहित्यिक ही नहीं, सार्वजनिक भी रहा है। वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सैनिक, यशस्वी पत्रकार, केंद्रीय विधायक तथा भावप्रवण नेता एकसाथ रहे हैं। अतएव उनकी जीवनी भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनका जीवन युगनिर्माता महापुरुषों और जननायकों के सान्निध्य तथा सहवास में व्यतीत हुआ है। वस्तुतः वे साधारणता की महत्ता और सरलता की श्रेष्ठता का जीवन जी गए हैं।

ऐसे महत् व्यक्तित्व का साहित्यिक अनुशीलन होना ही चाहिए था। उसकी रचनाओं का अनुशीलन और मूल्यांकन भी एक अनिवार्य कार्य था। यह परितोष का विषय है कि डा० लक्ष्मीनाराण दुबे ने इसे अपने शोधकार्य का विषय निश्चित किया और यह श्रमसाध्य कार्य मनोयोग के साथ और अध्यवसायपूर्वक संपन्न किया। उन्होंने जहाँ तहाँ बिखरी हुई सामग्री को निष्ठा के साथ एकत्र किया है और उसपर अपनी सुचिंतित विवेचना उपस्थित

की है। उन्हें इस कार्य को प्रस्तुत करने के कारण पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। 'बालकृष्ण शर्मा नवीन : व्यक्ति एवं काव्य' शीर्षक वही शोध प्रबंध आवश्यक परिशोधन के साथ अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है।

डा० दुबे का यह प्रबंध वस्तुमुखी विवेचना और साहित्यिक अनुसंधान का अच्छा नमूना है। उन्होंने स्वर्गीय नवीनजी के विषय में जहाँ कहीं जो कुछ भी प्राप्त हो सकता था, वह सब एकत्र कर लिया है तथा अपनी अधिकांश संचित सामग्री का इस ग्रंथ में समावेश कर दिया है। तथ्याकलन और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह कार्य सर्वथा प्रामाणिक है। इस प्रबंध का यह गुण द्रष्टव्य है कि इसमें नवीनजी से संबंधित सभी उपलब्ध तथ्यों का आकलन कर लिया गया है तथा समीक्षा भाग में साधारण असाधारण सभी मंतव्यों को प्रायः उद्धृत कर दिया गया है। अतएव अपने व्याप्तिगुण के कारण यह पुस्तक नवीन संदर्भ कोश का आभास देती है।

इस उपलब्धि की सीमा यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ में चयन तो खूब है, पर शोधन कम। शोधग्रंथों में आलोचनात्मक उद्धरणों की एक मर्यादा होती है। केवल प्रामाणिक मतों और प्रतिष्ठित आचार्यों के वक्तव्यादि ही खंडन या मंडन के अभिप्राय से अथवा प्रमाण उपस्थित करने की दृष्टि से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उनका आधिक्य विषयप्रतिपादन की अवरोधक सीमा बन जाता है। डा० दुबे के ग्रंथ में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। उन्होंने नवीनजी की जीवनी और साहित्य सृष्टि का सप्रमाण उत्तम अध्ययन उपस्थित किया है, पर सब कुछ समेट लेने के मोह के कारण नवीनजी के व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण रेखाओं का अंकन और काव्यसृष्टि का मर्मोद्घाटन प्रमुखता नहीं प्राप्त कर सका। उनका उल्लेख अवश्य हुआ है, पर अपेक्षित महत्व नहीं प्राप्त हुआ। इसी प्रकार तुलना के प्रसंग में भी नवीनजी को सुस्थिति (रिलीफ) में नहीं रखा गया। तुलना का आशय यहाँ नवीनजी के काव्य के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करना ही हो सकता था, पर अनेक कवियों के साथ उनका साम्यवैषम्य निर्दिष्ट करते करते इस उद्देश्य का सूत्र ही लेखक के हाथ से छूट गया जान पड़ता है। उसने निस्संदेह शोध की वैज्ञानिक पद्धति का सर्वत्र अनुसरण करते हुए विश्लेषण और वर्गीकरण के आधार पर ही अपना कार्य संपादित किया है।

आशय यह है कि डा० दुबे का यह ग्रंथ विविध अंग प्रत्यंगों के संयुक्त और विपुल संदर्भ संकेतों से परिपुष्ट है। इसमें नवीन काव्य की प्राणचेतना

अवश्य परिब्याप्त है, पर लेखक सर्वत्र उनके प्रति श्रद्धाभिभूत दिखाई पड़ता है। अस्तु, यह पुस्तक नवीनजी के जावन, कार्य और साहित्य का प्रामाणिक विश्लेषण उपस्थित करती है और इसका लेखक अपने आलोच्य कवि के प्रति पूज्य भावना अपनाए रहता है। अतएव यहाँ नवीनजी के काव्य का, निर्वैयक्तिक नहीं, सहृदयतापूर्ण समीक्षण किया जा सका है।

डा० दुवे ने अपना प्रबंध नौ अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय ग्रंथ का भूमिका भाग है। इसके द्वारा लेखक के शोधकार्य की दिशा, प्रवृत्ति, पद्धति और महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। द्वितीय अध्याय में नवीनजी की जीवनी का सप्रमाण विवरण उपस्थित किया गया है। तृतीय अध्याय में उनके व्यक्तित्व का निरूपण तथा जीवन दर्शन का आकलन हुआ है। दूसरे तथा तीसरे अध्याय में नवीनजी के व्यक्तिरूप को व्यापक परिपार्श्व में रखकर देखा गया है और उसका अर्थपूर्ण प्रत्यक्षीकरण कराया गया है। इन अध्यायों में वैशद्य होते हुए भी कवि के व्यक्तिरूप की समग्रता खंडित नहीं हो पाई है।

परवर्ती अध्यायों में नवीनजी के रचनाकार्य का अनुशीलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है—‘विहंगावलोकन एवं वर्गीकरण’। यह परितोष का विषय है कि इसमें मात्र विहंगावलोकन नहीं हुआ है। इस अध्याय में नवीनजी की समस्त कृतियों का रचनाकार्य, काव्यप्रवृत्ति, शैली आदि की दृष्टि से अनुशीलन किया गया है। इस अध्याय में अनुसंधान की प्रामाणिक प्रक्रिया व्यवहृत हुई है। लेखक ने वर्गीकरण के अंतर्गत सभी संभाव्य भेदों की धारणा बनाई है। इसी अध्याय में नवीनजी के प्रारंभिक काव्य का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया है। इस अध्याय के साथ उक्त विषय का अदृष्ट संबंध नहीं है। नवीनजी के काव्याभ्यास काल पर पृथक् अध्याय की आयोजना होनी चाहिए थी अथवा इसी अध्याय को कविकर्म के विकासात्मक अध्ययन के रूप में लिखा जाना चाहिए था। जान पड़ता है कि मुद्रण की सुविधा के लिये प्रबंध के आकार प्रकार में परिदर्तन किया गया है। इसी कारण इस अध्याय के अंतर्गत एकाधिक विषय संयुक्त कर दिए गए हैं।

इस प्रबंध के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्याय में क्रमशः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य, प्रेम और दर्शन विषयक काव्य तथा ‘ऊर्मिला’ महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। ये तीनों अध्याय तर्क, युक्ति और प्रमाणयुक्त काव्यालोचन के अच्छे उदाहरण हैं। मुझे यह शिकायत

अवश्य है कि सर्वत्र प्राप्त अथवा प्रतिष्ठित समीक्षकों के विचारों को ही उद्धृत नहीं किया गया, बल्कि उथले गहरे या गंभीर और चलते हुए सभी प्रकार के उद्धरणों से अपने वक्तव्य को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास हुआ। यह उद्योग काव्यसौंदर्य को उद्घाटित करने में सर्वत्र सहायक नहीं हो पाया तथा कहीं कहीं अनावश्यक वाक्यादि भी उद्धृत हो गए। 'काव्य शिल्प' शीर्षक अध्याय उपयुक्त बन पड़ा है। इसमें कवि के प्रमुख और अविस्मरणीय बिंबों या कल्पना चित्रों का विवरण उपस्थित किया जाना उपादेय होता, पर प्रथित क्रियाकल्प के गृहीत सौंचे में उनका समावेश हो पाना कठिन अवश्य था।

'निष्कर्ष' शीर्षक उपसंहारात्मक अध्याय में लेखक ने नवीनजी के काव्य का मूल्यमापन किया है। इस कार्य के लिये उसने व्यापक परिप्रेक्ष्य रक्खा है। किंतु यदि विविध साहित्यिक वादों या सिद्धांतों से संबंधित हिंदी की आधुनिक काव्यधाराओं के संदर्भ में नवीनजी के काव्य का स्थान और महत्व निर्धारित हो पाता तो और भी उपयुक्त ज्ञात होता। लेखक का श्रद्धासंवलित यह मंतव्य इस प्रबंध का समीचीन निष्कर्ष ही है, यथा—

‘राष्ट्र के वैतालिक, प्रेमभक्ति काव्य के रसखान, दार्शनिक काव्य के नचिकेता एवं फक्कड़ता के इस महाकवि ‘नवीन’ की काव्यवाणी इतिहास के मानसरोवर को सदा सर्वदा तरंगायित करती रहेगी और युगयुगांतरों का शृंगार।’ यहाँ साहित्य के इतिहास और उसके युगांतरों का आश्रय ही ग्रहण करना चाहिए। इस वाक्य की सार्थकता यही है कि इसमें नवीनजी की सभी काव्यप्रवृत्तियों का निर्देश हो गया है तथा उनके कवि-वर्म के स्थायी महत्व का संकेत दे दिया गया है।

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे का यह शोधप्रबंध आधुनिक कवियों के काव्याध्ययन के कार्य को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाता है। नवीनजी के जीवन और काव्य का एक अध्ययन श्रीजगदीशप्रसाद श्रीवास्तव ने प्रकाशित करवाया है और उसी विषय का विस्तृत तथा सर्वांगोष्ण अनुशीलन प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है। दोनों ही पृथक् कोटिक्रम के अनुशीलन कार्य हैं। यहाँ मुझे इन दोनों की तुलना करना अभीष्ट नहीं है। पर यह कहना चाहूँगा कि प्रथम पुस्तक में नवीनजी के काव्योत्कर्ष को प्रत्यक्ष करने का विशेष आयास हुआ है और दूसरी पुस्तक में इसी विषय के समग्र, सांगोपांग और विशद अध्ययन को सप्रमाण निबंधित किया गया है। डा० दुबे ने

अालोच्य विषय का सर्वतोमुखी अध्ययन किया है । वे इस कार्य के लिये बघाई के पात्र हैं । उन्होंने अपने प्रबंध पर प्राप्त विविध विद्वानों की संमतियाँ भी पाठकों के लिये सुलभ कर दी हैं । मैं समझता हूँ कि आधुनिक हिंदी कविता और विशेषतः हिंदी के राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य के अध्येताओं के लिये डा० दुबे की यह पुस्तक संदर्भ ग्रंथ के रूप में उपादेय सिद्ध होगी ।

---

खण्ड : ३

**श्रेष्ठ प्रकाशन**



# तुलनात्मक भाषाविज्ञान'

डा० कैलाशचंद्र भाटिया

‘तुलनात्मक भाषाविज्ञान’ शीर्षक आलोच्य पुस्तक अंग्रेजी की ‘एन इन्ट्रोडक्शन टु कंपरेटिव फिलोलोजी’ के चतुर्थ संस्करण का प्रथम हिंदी अनुवाद है। मूल पुस्तक का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था जिसका उस समय बहुत महत्व था। इधर भाषा शास्त्र में आशातीत प्रगति हुई पर पुस्तक में सब कुछ सम्मिलित नहीं हो सका है फिर भी कुछ अंशों में इसका विशेष महत्व है इसी दृष्टि से डा० चटर्जी, डा० कत्रे तथा प्रो० गोडे के विशेष आग्रह से डा० गुणे के पुत्र ने पुस्तक को पुनः संपादित किया। उन्होंने सिलवां लेवी, मैकडोनल महोदय के सुझावों को संमिलित करते हुए अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर तीन परिशिष्ट—भारत आर्य और हिट्टाइट, भारोपीय लोगों का निवासस्थान, ब्रान्देन्बस्ताइन का मत, सात नोट्स—ग्रीक भाषा, भारतीय आर्यभाषा—जर्मैनिक तथा अंग्रेजी, मराठी में कुछ प्राचीन एवं अर्वाचीन विदेशी शब्द, मुंडा, तोखारियन, सरल हिंदी की ओर, भारतीय आर्यभाषाएँ और उनके संबंध का वंशवृक्ष तथा जनसंख्या, अनेक डाइग्राम, चार्ट्स, मानचित्र, अनुक्रमणिका आदि जोड़ दिए। इस संशोधित तथा संपादित संस्करण की भूमिका डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी थी।

इस पुस्तक के अनुवादक हैं यशस्वी भाषाविद् डा० भोलानाथ तिवारी। मौलिक सर्जन तथा अनुवाद कार्य में मौलिक अंतर है, प्रथम में जहाँ लेखक स्वतंत्र रहता है वहाँ दूसरे में बंधा। यदि अनुवादक विषय का ज्ञाता नहीं होता तो अनुवाद अच्छा नहीं हो पाता और यदि विषय का जानकार अनुवाद कार्य को करता है तो मौलिक सर्जन के प्रति स्थान स्थान पर उसमें छटपटाहट होती है। विशेषकर जब उस क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति हो चुकी हो या कोई विवेचन तथ्य के बिल्कुल विपरीत हो। इन कठिनाइयों के अति-

- 
१. मूल लेखक : स्व० डा० पांडुरंग दामोदर गुणे, संपादक : प्रो० एन० पी० गुणे, अनुवादक : डा० भोलानाथ तिवारी, प्रकाशक : मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, मूल्य : १० रुपया।

रिक्त कुछ समस्याएँ और भी सामने खड़ी होती हैं जिनमें से प्रमुख है—भाषासमस्या। भाषाविज्ञान की शब्दावली के हिंदी अनुवाद का लेखक को विशेष अनुभव है। बहुत कुछ शब्दावली संस्कृत से ले ली है।

अनुवादक ने मूल पुस्तक का अनुवाद करते समय संशोधन अपेक्षित समझे हैं और स्वयं अनुभव किया है कि और भी परिवर्द्धन और संशोधन किए जा सकते थे किंतु उनके बिना भी पुस्तक का अपना मूल्य है।

मूल पुस्तक के प्रथम भाग में सिद्धांतों का अध्ययन है जिसके अंतर्गत भाषा क्या है—बाह्य आंतरिक पक्ष तथा उसकी उत्पत्ति, भाषा में निरंतर परिवर्तन, उसके कारण—शारीरिक और श्रावणिक, ध्वनि नियम, अर्थविज्ञान तथा बौद्धिक नियम आदि का विवेचन है। द्वितीय भाग में भाषा परिवार का विवेचन है जिसके अंतर्गत योगात्मक—श्लिष्ट, अयोगात्मक,

१ इसका प्रमाण है कि अनुवादक ने कुछ स्थानों पर अपनी टिप्पणी जोड़ दी है। इन टिप्पणियों से हिंदी अनुवाद का महत्व और भी बढ़ जाता है।

उदाहरण इस प्रकार हैं :—

पृष्ठ ११ : पर इसके दो कारण हैं। एक तो इसमें स्वतः एक ध्वनि या ध्वनिसमूह है, बनाने या कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, और दूसरे इस ध्वनि का किसी वस्तु या जीव जंतु आदि से संबंध भी प्रायः सहज है। भाषा या शब्द में ये ही दो बातें आवश्यक हैं।

पृष्ठ १८ : भाषा सदा प्रवाह की स्थिति में रहती है। जिस प्रकार गणित में रेखा बिंदु का प्रवाह है, उसी प्रकार भाषा मस्तिष्क का प्रवाह है।

पृष्ठ २३ : 'करकर' इसका शुद्ध रूप 'करके' है। 'कर्' धातु के साथ 'कर' न आकर 'के' आता है।

पृष्ठ १२२ : इस विभाजन के अनुसार संस्कृत के 'अ' वाले भ्वादिगण, तुदादिगण, 'य' वाला दिवादिगण, अय वाला चुरादिगण, ये चारों थीमेटिक या सविकरण हैं, और शेष अदादि (रूट क्लास जिसमें कुछ नहीं जुड़ता), जुहोत्यादि रिड्युप्लीकेटिव), स्वादि (नु वाली), तनादि (उ वाली), क्रयादि (ना—वाली), रुधादि (न वाली) नानथीमेटिक या विकरण शून्य। अनुवादक इस वर्गीकरण की वैज्ञानिकता से सहमत नहीं है। वस्तुतः केवल अदादिगण की धातुएँ ही अविकरण नाम की अधिकारिणी हैं। शेष के भी कई उपवर्ग बन सकते हैं।

पृष्ठ १५० : इन्हें धातुवर्ग (रूट क्लास) या धातुक्रिया (रूट वर्ब) इसलिये कहते हैं कि इनके रूप बनाने में धातु और प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं जुड़ता। संस्कृत का अदादि गण ऐसा ही है।

द्रविड़, भारोपीय परिवार का विस्तृत अध्ययन है । तीसरे भाग में भारत ईरानी ग्रन्थवा आर्य वर्ग, चौथे भाग में पालि और प्राकृतपालि का स्वरूप, ध्वनिपरिवर्तन के कारण, ध्वनिप्रक्रिया, रूप, भाषा का उद्भव, झिलालेखी प्राकृत, ध्वनिप्रक्रिया तथा पाँचवें भाग में साहित्यिक प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ—प्राकृतें, नाम एवं उत्पत्ति, अपभ्रंश, विभिन्न प्राकृतें, ध्वनिप्रक्रिया, रूप देशी शब्द, प्राकृतों का काल, आधुनिक भारतीय भाषाएँ—प्रमुख भाषाएँ—क्षेत्र तथा उपबोलियाँ, समानताएँ, ध्वनिप्रक्रिया, रूप, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का प्रारंभ आदि शीर्षकों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।

मेरी यह धारणा है कि अनुवादक का कार्य मूल पुस्तक की रचना से अधिक कठिन है । अनुवाद में मूल पुस्तक की सामग्री की समीक्षा नहीं होनी चाहिए वरन् यह देखना चाहिए कि अनूदित पुस्तक कहाँ तक मूल पुस्तक की आत्मा को सुरक्षित रखे हुए है । इस दृष्टि से लेखक ने स्वयं भूमिका में अपनी सीमाओं की ओर निर्देश किया है । उसमें प्रधान है कि पुस्तक छपी देहली में और अनुवादक उस समय रहना था ताशकंद में । निस्संदेह यदि अनुवादक की देखरेख में पुस्तक मुद्रित होती तो आज उसका रूप कुछ दूसरा ही होता । फिर भी विषयवस्तु की दृष्टि से अनुवाद पर भरोसा किया जा सकता है और शैली में प्रवाह है । इस अनुच्छेद में अनुवादक की शैली देखी जा सकती है—

‘प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इसे एक युक्तियुक्त मत कहा है, क्योंकि यह वर्तमान युग की श्रेष्ठतम भाषावैज्ञानिक और पुरातात्त्विक प्रविधियों के अनुकूल है । ऐसा प्रतीत होता है कि यूरेशिया का मैदान जो जंगली घोड़े का आदिम निवास था, भारोपीयों का मूल स्थान था । इसका कारण यह है कि जंगली घोड़े को पालतू बनाना तथा सिधाना भारोपीय लोगों ( जिन्हें आज बीरोस (सं० बीरः) कहते हैं ) की भौतिक सभ्यता को, सबसे महत्वपूर्ण अकेली देन थी ।’

अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि उसमें मूल का सा आनंद आए तथा यह भ्रम भी हो कि प्रस्तुत अनुवाद नहीं मूल ही है । प्रस्तुत पुस्तक में यह विशेषता भी भरपूर है जैसे—

७. भाषा की उत्पत्ति—अब हम थोड़ा रुककर भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करें । आज भाषा हमारे लिये एक उपलब्धि है, एक अर्जन है । हमने इसे विचारों के आदान प्रदान द्वारा पूर्व पीढ़ियों से ग्रहण किया

है, किंतु मानव ने आदि रूप में इसे किस प्रकार प्रजित किया ? 'भाषा ईश्वरीय देन है' अथवा 'बहु आदिम मानव समुदाय के सदस्यों द्वारा सोच समझ कर दिए गए समझौते का परिणाम है' आदि सिद्धांत सर्वथा अमान्य हैं । कोई भाषावैज्ञानिक आज इनमें विश्वास नहीं करता ।

इतनी विशेषताओं के होते हुए भी यत्रतत्र हिंदी तथा अंग्रेजी के शब्दों की वर्तनी की भूलें रह गई हैं । पृष्ठ तीन पर Einleitung के स्थान पर Einltitung, पृष्ठ ३२ पर Kunos के स्थान पर humos तथा गोथिक 'P' के स्थान पर सर्वत्र एक विशिष्ट चिह्न होना चाहिए । पृष्ठ २६३ पर 'भारतीय इतिहास एक विच्छिन्न घटना नहीं है' उपशीर्षक होना चाहिए । इसी पृष्ठ पर दूसरे शीर्षक में 'अनेक संस्कृतियाँ' में 'अनेक' निरर्थक है । पृष्ठ २६६ पर बाल्टिक से स्थान पर 'बास्क' मुद्रित हो गया है, पृष्ठ २७६ पर दंत्य ध्वनियों में जैसे t, s आदि के अंत में 'r' छूट गया है । पृष्ठ ३०३ पर भाषा-सर्वेक्षण की टेबिल जो १६३१ के आधार पर दी गई है, उसके नीचे सन् ६६१ की जनगणना के आंकड़े दिए जा सकते थे ।

नवीन पारिभाषिक शब्द भी अच्छे प्रयुक्त किए गए हैं जैसे, stratified ( स्ट्रेटीफाइड ) के लिये स्तरीकृत, migration ( माइग्रेशन ) के लिये 'प्रवासन', flora & fauna ( फ्लोरा ऐंड फौना ) के लिये वनस्पति एवं पशु आदि ।

इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है कि इसमें भारोपीय भाषा-परिवार के साथ ग्रीक शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया गया है पर अपने मूल संस्करण में ( सन् १६१८ ई० ) ही टाइपों के अभाव में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गईं जिनकी ओर सिल्वा लेवी तथा मैकडोनल महोदय ने ध्यान दिलाया था । फिर बाद में दूसरे संस्करण ( सन् १६५० ई० ) में पर्याप्त अशुद्धियाँ ठीक कर दी गईं तथा साथ ही यह भी उचित समझा गया कि परिशिष्ट में ग्रीक ध्वनियों तथा वर्णों का परिचय कराते हुए एक नोट जोड़ दिया जाय जिससे विद्यार्थी उसको पढ़कर इतनी जानकारी प्राप्त कर लें कि छोटी मोटी अशुद्धियों को ठीक कर लें । इस दृष्टि से द्वितीय संस्करण का अत्यधिक महत्व है । हिंदी संस्करण प्रस्तुत करते समय पुनः ग्रीक टाइपों का अभाव विशेष रूप से खटका जिसकी ओर बड़े स्पष्ट शब्दों में अनुवादक ने ध्यान आकर्षित किया है ।

मैं यहाँ केवल पृष्ठ २८० पर पाठकों का ध्यान केंद्रित करना चाहता हूँ जिसमें ग्रीक वर्णों का चार्ट दिया गया है । इस विवेचन का उद्देश्य यही है

कि भविष्य में या तो इसको टाइपों द्वारा शुद्ध मुद्रित किया जाय अथवा ब्लॉक बनवाकर मुद्रित किया जाय अन्यथा हटा देना उचित होगा—

१. वर्णों का क्रम का नितांत बदल गया है। पाँचवें अक्षर इप्सिलोन के बाद जीता, एता, थीता, इओता आने चाहिए। फिर इसके बाद कप्पा, लम्बा, मु, नु, तब फिर किस, ओमिक्रोन, पाइ, एहो, सिग्मा तत्पश्चात् ताउ, यूप्सिलोन, फाइ, खाइ, प्साइ तथा ओमेगा आना चाहिए।

२. किस तथा पाइ का कैपिटल वर्ण अशुद्ध है। पाइ का लिखित वर्ण तो बहुधा गणित में प्रयोग में आता है, अतएव उसको आसानी से शुद्ध किया जा सकता है।

३. थीता का कैपिटल अशुद्ध है, फाइ का कैपिटल भी अशुद्ध है।

४. लम्बा के छोटे रूप में भी उलट पलट हो गई है। ओमेगा का कैपिटल वर्ण उल्टा लगा गया है। इनमें से बहुत से वर्ण मूल पुस्तक के चतुर्थ संस्करण में भी अशुद्ध मुद्रित हुए हैं अतएव लेखक (अनुवादक) इतना दोषी नहीं है।

अनुवादक ने कुछ स्थानों पर ग्रीक वर्णों के हिंदी समकक्ष जो मूल में अशुद्ध थे उन्हें ठीक भी कर दिया है, जैसे, 'ड' के स्थान पर 'द' तथा 'ऋ' स्थान पर 'ज'। इस प्रकार अनुवादक बधाई का पात्र है।

ग्रीक टाइपों की अपनी समस्या है जिसका निराकरण आसान नहीं। शास्त्रीय विषयों पर हिंदी में शुद्ध पुस्तकें छापना आसान नहीं। इन सीमाओं के होते हुए भी लेखक के मूल ग्रंथ को, साथ ही संपादक की टिप्पणियों को, अनुवादक ने बड़ी सहज तथा सरल भाषा में अनुवादित रूप में प्रस्तुत किया है जिसके लिये साधुवाद दिया जा सकता है। मूल की भावना को सुरक्षित रखते हुए लेखक ने अपनी अनुवादित पुस्तक की नई अनुक्रमणिका भी दी है जिसमें शब्द मूल के ही सम्मिलित किए गए हैं। इसी प्रकार पारिभाषिक शब्दावली की एक सूची भी प्रस्तुत की है जो हिंदी में होने के कारण हिंदी वर्णमाला से संयोजित की गई है। इस कार्य के लिये भी अनुवादक की सूझ सराहनीय है। आशा है आगामी संस्करण में और अधिक सुधार के साथ पुस्तक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगी।

# भाषाविज्ञान कोश'

डा० अंबाप्रसाद 'सुमन'

‘भाषाविज्ञान कोश’ भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली का कोश है, जिसमें डा० भोलानाथ तिवारी ने बड़े परिश्रम से सात सौ उनचास पृष्ठों में पारिभाषिक शब्दों के सोदाहरण अर्थ दिए हैं और फिर पृष्ठ ७५० से ८०७ तक परिशिष्ट रूप में भाषाविज्ञान की अंग्रेजी हिंदी पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत कोश के विज्ञ संपादक ने केवल किसी पारिभाषिक शब्दविशेष को उदाहरण देकर समझाया ही नहीं है, अपितु उससे संबंधित भेदउपभेद-मूलक अन्य पारिभाषिक शब्दों का अर्थ भी साथ साथ स्पष्ट कर दिया है। उदाहरणार्थ जहाँ ‘बलाघात’ शब्द का अर्थ लिखा गया है, वहीं साथ साथ ‘बलाघात’ के भेदों—(१) ध्वनि बलाघात, (२) अक्षर बलाघात, (३) शब्द बलाघात, (४) वाक्य बलाघात, (५) वाक्यांश बलाघात—के अर्थों को भी समझा दिया गया है। इस शैली के कारण प्रस्तुत कोश वस्तुतः परम उपादेय बन गया है।

कोश के आकार अर्थात् पृष्ठसंख्या के संबंध में संपादक डा० तिवारी ने ग्रंथ में लिखे हुए अपने ‘दो शब्द’ के अंतर्गत अपने विचार व्यक्त करते हुए अपनी बात इन शब्दों में स्पष्ट कर दी है—

‘अन्य क्षेत्रों की भाँति ही भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी पारिभाषिक शब्द अनेकानेक हैं, और दिनों दिन उनकी संख्या में वृद्धि हो रही है। यहाँ सभी को नहीं लिया जा सका है। इसका प्रमुख कारण इन पंक्तियों के लेखक की अपनी सीमाएँ हैं। यों यह प्रयास अवश्य किया गया है कि बहुत आवश्यक शब्द न छूटने पाएँ।’

सैद्धांतिक पक्ष के अतिरिक्त विश्व की प्रमुख भाषाओं और लिपियों पर भी इस कोश में प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण टिप्पणियाँ दी गई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इसके विज्ञ संपादक ने दो सौ से अधिक ग्रंथों का अनुशीलन

करके उनके आधार पर भाषाविज्ञान के प्रायः पूरे विस्तार को न्यूनाधिक रूप में समेट लेने का प्रयास किया है ।

हिंदी में वास्तव में एक अभाव की पूर्ति इस कोश द्वारा हुई है । अब तो 'भाषाविज्ञान' पर एक बृहत् पारिभाषिक शब्दकोश भी बनना चाहिए । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने जिस प्रकार 'हिंदी शब्दसागर' को कई भागों में प्रकाशित किया है, ठीक उसी प्रकार किसी प्रामाणिक हिंदी संस्था की ओर से एक बहुत बड़े पैमाने पर 'भाषाविज्ञान कोश' प्रकाशित होना चाहिए जो टीमवर्क के रूप में संपन्न किया जाय ।

अभी तक हिंदी में इस ओर व्यक्तिगत प्रयास ही हुए हैं । 'भाषाविज्ञान' की पारिभाषिक शब्दावली को कोश के रूप में प्रस्तुत करने का पहला प्रयास श्रीराजेंद्र द्विवेदी का है । श्रीद्विवेदी का वह कोश आत्माराम एंड संस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है । दूसरा यह प्रयास डा० भोलानाथ तिवारी का है, जो प्रथम प्रयास की अपेक्षा निस्संदेह अधिक प्रामाणिक है और अभिनंदनीय भी ।

ऐसे कोशों को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिये उनके संपादक अथवा संपादकों को चाहिए कि पारिभाषिक शब्द विशेष के संबंध में अर्थ या परिभाषा लिखते समय जिन मूल लेखकों तथा ग्रंथों से वे जब टिप्पणियाँ देते हैं, तब उन ग्रंथों के प्रमाणसंदर्भ भी साथ साथ उनके द्वारा लिखे जाने चाहिए, ताकि पाठक को प्रामाणिकता के संबंध में पूर्ण विश्वास हो जाय कि संपादक मूल विद्वान् के मूल ग्रंथ को स्वयं देख चुका है और उसके मत की आत्मा से भी साक्षात्कार कर चुका है । पूर्व संपादित कुछ कोशों को सामने रखकर एक नया कोश गढ़ देना कोई बड़ी बात नहीं मानी जा सकती । इतना ही नहीं, ऐसे कोशों से एक ही भूल या त्रुटि भविष्य में भी निरंतर चलती ही रहती है और उसका परिणाम होता है अज्ञान का प्रसार । एक हिंदी आलोचक ने अपनी एक पुस्तक में सौंदर्य की परिभाषा लिखते हुए निम्नांकित श्लोकांश को उद्धृत किया है और उसे भारविकृत बताया है—

**‘क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः ।’**

वस्तुतः उक्त श्लोकांश माघकृत 'शिशुपाल बध' का है जो रैवतक पर्वत की शोभा के संबंध में लिखा गया है ।

उक्त पुस्तक का प्रभाव मेरे देखने में फिर यह आया कि कुछ नए लेखकों ने जब हिंदी मासिक पत्रों में काव्य, कला या सौंदर्य पर लेख लिखे तो

‘उन्होंने उक्त श्लोकांश को भारविकृत ही बनाया । यही बात उन कोशों में भी आ सकती है, जो पूर्वकृत कोशों के आधार पर तैयार किए जाते हैं ।

बहुत संभव है कि डा० भोलानाथ तिवारी ने अपने कोश की टिप्पणियाँ मूल ग्रंथकारों की मूल कृतियों को स्वयं पढ़कर ही लिखी हों; किंतु निश्चित संदर्भप्रमाण के अभाव में इतर शंका का उठना भी स्वाभाविक है ।

‘कोश’ के प्रेस में जाते ही डा० तिवारी को विदेश चला जाना पड़ा । अतः वह इसकी छपाई में साथ न दे सके । इस कारण त्रुटियाँ अधिक हो सकती हैं । बात ठीक भी है; जब मूल लेखक सुदूरवर्ती हो और उसकी कृति का प्रूफरीडिंग अन्य व्यक्ति करे, तब त्रुटियों का आधिक्य हो जाना स्वाभाविक है । किंतु कुछ भूलें या त्रुटियाँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रकृति अथवा स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि वे प्रूफ की भूलें नहीं हैं ।

प्रस्तुत कोश में पृष्ठ ११३ पर ‘उपसर्ग’ शब्द का अर्थ प्रस्तुत करते हुए कोशकार ने निश्चित रूप से ‘अव्यय’ शब्द लिखा होगा, किंतु कोश में ‘अव्यय’ छपा है । इसे हम छापे की ही भूल मानेंगे । पृष्ठ ६७६ पर शब्द ‘Diphthang’ के स्थान पर ‘Dipththang’ छप गया है । यह भी निस्संदेह प्रूफरीडिंग की भूल है । अंदर के मुख पृष्ठ पर छापे ‘डॉ०’ पर अनुनासिक चिह्न भी मुद्रण की भूल ही माना जाएगा ।

अब यहाँ कुछ ऐसी भूलों पर विचार किया जाएगा, जिसे छापे की भूलें मानने में हमें हिचक होती है ।

पारिभाषिक शब्द का अर्थ बड़ी सतर्कता से लिखना चाहिए । वाक्य-रचना ऐसी हो कि उसका अर्थ पाठक ठीक वही ग्रहण करे जिसे कोशकार ग्रहण कराना चाहता है । पृष्ठ ३५० पर एक वाक्यांश इस प्रकार है—

‘कुछ प्रत्यय कुछ धातुओं के साथ लगते हैं और कुछ कुछके साथ’ ।

उक्त वाक्यांश से अभीष्ट अर्थ की तुरंत बोधगम्यता नहीं होती ।

पृष्ठ ३५० पर कोशकार ‘पद’ का अर्थ व्यक्त करते हुए लिखता है—

‘जिसमें ‘सुप्’ और तिङ् विभक्तियाँ लगाई गई हों ।’

जिसमें ‘सुप्’ और ‘तिङ्’ विभक्तियाँ लगाई गई हों, वह तो ‘पद’ नहीं होता । ‘सुप्’ विभक्ति जिसमें लगाई जाए वह तो ‘प्रातिपदिक’ होता है, और तिङ् प्रत्यय जिसमें लगता है, उसे ‘धातु’ कहते हैं । यदि हम संस्कृत व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग में और अधिक जागरूक बनें तो हमें ‘तिङ्’ को विभक्ति नहीं मानना चाहिए ।

पाणिनि के सूत्र ( अष्टा० १।४।१४ ) 'सुप् तिङन्तं पदम्' का अर्थ यह है कि 'सुप् या तिङ्' जिसके अंत में हो, वह पद कहाता है ।

मान लीजिए कि एक मूल शब्द अर्थात् प्रातिपदिक 'बालक' है । इसमें 'सुप्' विभक्ति का योग देकर 'बालकः' बना लिया; तो 'बालकः' पद माना जायगा । इसी प्रकार 'पठ्' धातु में 'तिङ्' प्रत्यय के योग से 'पठति' बनाया, तो 'पठति' पद माना जाएगा ।

'सुप्' विभक्ति 'बालक' में लगी है, तब 'बालकः' बना है । 'तिङ्' प्रत्यय 'पठ्' में लगा है, तब 'पठति' बना है । जिसमें उक्त विभक्ति और प्रत्यय लगा है, वह तो वस्तुतः क्रमशः प्रातिपदिक और धातु है ।

पृष्ठ ३८१ पर प्रातिपदिक की परिभाषा देते हुए लिखा गया है—  
'अर्थवद् धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' । वास्तव में इस उद्धरण को यों लिखना चाहिए था—'अर्थवद् धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' । अर्थात् प्रातिपदिक अर्थवान् होता है लेकिन वह धातु या प्रत्यय नहीं होता ।

पृष्ठ ६३५ पर लेखक यह मानता है कि 'अर्थ' के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतंत्र इकाई शब्द है ।

फिर पृष्ठ ६८३ पर लेखक 'रसोईघर' को सामासिक शब्द मानता है और उसका विग्रह करता है—'रसोई का घर', जबकि उसका विग्रह होना चाहिए 'रसोई के लिये घर' । 'रसोईघर' वास्तव में संप्रदान तत्पुरुष समास है ।

उसी पृष्ठ ( ६८३ ) पर लेखक लिखता है—'जब दो या अधिक शब्दों के.....समास कहते हैं ।' तब उसके चेतन से शब्द और पद का अंतर निकल जाता है ।

पृष्ठ ६८३ पर ही 'समास' शब्द का व्युत्पत्ति देते समय 'अस' धातु लिखी गई है, जब कि धातु वास्तव में 'अस्' है अर्थात् हलन्त ।

पृष्ठ ६८४ पर 'नञ् तत्पुरुष' समास में प्रथम शब्द 'न्' भी माना है । इस समास में प्रथम शब्द 'न' तो होता है, किन्तु 'न्' नहीं होता ।

पृष्ठ ६७९ पर 'संयुक्त व्यंजन' की परिभाषा और उदाहरण देते हुए लिखा गया है 'क्त' 'प्व', 'त्य' संयुक्त व्यंजन हैं ।

वास्तव में प्रस्तुत प्रसंग से संबंधित पारिभाषिक शब्द पृथक् पृथक् दो होने चाहिए—(१) संयोग ( कम्बिनेशन ), ( २ ) गुच्छ ( क्लस्टर ) । जब दो मूल ध्वनियाँ अलग अलग सुनाई पड़ें तब उसे व्यंजन संयोग कहना चाहिए, जैसे 'मुक्त' में 'क् + त्' का संयोग है । जब दो ध्वनियाँ एक साथ

एक झटके में मुख से निकलें तब उसे 'व्यंजन गुच्छ' कहना चाहिए, जैसे 'कल्याणी' में 'ल् + य्' का गुच्छ है ।

पृ० १७० पर 'देवनागरी लिपि' के संबंध में टिप्पणी देते हुए डा० तिवारी ने नाम की उत्पत्ति पर पाँच मत लिखे हैं । अद्यतन मत भी देना चाहिए था, जिसे छठा मत कहा जा सकता है । वह छठा मत डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल का है । डा० अग्रवाल ने 'पादताड़ितकम' नाटक आदि प्राचीन ग्रंथों के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'पाटलिपुत्र' का प्राचीन नाम 'नगर' अर्थात् राजधानी था । चंद्रगुप्त द्वितीय को 'देव' भी कहते थे । इसी लिये लिपि का नाम 'नागरी' या 'देवनागरी' प्रचलित हो गया था ।

उपर्युक्त कुछ त्रुटियों तथा अभावों के होते हुए भी प्रस्तुत कोश हिंदी के पारिभाषिक शब्दकोश साहित्य में सफल प्रयास है । इसकी सहायता से भाषाशास्त्र का प्रेमी पाठक पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है और भाषाविज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के प्रत्ययों ( कन्सेप्ट्स ) से अवगत हो सकता है । कोशकार डा० भोलानाथ तिवारी के साथ साथ श्रीदेवनारायण द्विवेदी, डा० जयचंद राय, डा० कैलाशचंद्र भाटिया और श्रीरमेशचंद्र मेहरोत्रा भी हमारी बधाई के पात्र हैं ।

---

# हिंदी साहित्य कोश ( द्वितीय भाग )'

राजेंद्र द्विवेदी

हिंदी साहित्य कोश का दूसरा भाग पहले भाग के प्रकाशन के पाँच साल बाद प्रकाशित हुआ है । इस दूसरे भाग में साहित्य के अध्ययन में प्रयुक्त होने-वाली नामवाची शब्दावली को लिया गया है, जिसमें नीचे लिखे वर्गों के नाम प्रमुख रूप से आए हैं—लेखक, कृतियाँ, प्रधान पात्र ( रचनाओं के ), प्रमुख साहित्यिक संस्थाएँ, प्रमुख पत्र पत्रिकाएँ, पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्र तथा कथासंदर्भ ( हिंदी साहित्य में प्रयुक्त ) । केवल वही लेखक लिए गए हैं, जिनका जन्म १९१५ ईसवी तक हो चुका था और उनकी वही कृतियाँ ली गई हैं, जिनका प्रकाशन १९५० ईसवी तक हो चुका था । अनूदित रचनाएँ और अनुवादकों के नाम छोड़ दिए गए हैं । कोश का मुख्य केंद्र साहित्य और साहित्यकार ही रहे हैं, पर उनके साथ हिंदी भाषा तथा साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वानों, प्राध्यापकों, प्रचारकों, साहित्यसेवियों तथा विभिन्न विषयों के हिंदी के माध्यम से लिखनेवाले विद्वानों को भी इस कोश में लिया गया है ।

जैसा संपादकों ने स्वयं माना है, हिंदी साहित्य कोश के दूसरे भाग का कार्यक्षेत्र पहले कार्य की तुलना में ज्यादा कठिन था । बहुत से लेखकों तथा ग्रंथों के बारे में अभी तक स्पष्टता और स्थिरता नहीं पाई है । प्राचीन युग के मध्य युग और आधुनिक युग के अनेक लेखकों के बारे में हमारे पास विशेष प्रामाणिक सामग्री नहीं है । तिथियों और जीवनवृत्तों के बारे में भी स्थिति बड़ी अनिश्चित है । इन कारणों से दूसरे भाग का संकलन संपादन ज्यादा दुःसाध्य और श्रमसाध्य रहा है । इस भाग में ७० से ऊपर टिप्पणी लेखकों ने योगदान दिया ।

हिंदी साहित्य कोश का दूसरा भाग पहले भाग से प्रत्यक्षतः संबद्ध नहीं है । मूल योजना में इस कार्य को शामिल भी नहीं किया गया है और तदनुसार प्रथम भाग का उल्लेख प्रथम भाग के रूप में नहीं किया गया ।

---

१. संपादक : डा० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी और डा० रघुवंश ( संयोजक ), प्रकाशक : ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी ।

दूसरे भाग की संपादकीय भूमिका में इस बात को माना भी गया है। कोश ग्रंथों में आमतौर पर विषयानुसार जिल्दों का विभाजन नहीं किया जाता, यह कार्य वर्णक्रम के अनुसार ही किया जाता है; फिर भी पूरे कौशल के साथ दोनों खंडों को इस तरह जोड़ दिया गया है, जिससे परस्पर किसी प्रकार की असंगति या असंबद्धता न आने पाए। लेकिन ऐसी स्थिति में एकाध त्रुटि रह जाना बहुत संभव है और ऐसा हुआ भी। जब नामवाची शब्दावली का पहले खंड से कोई संबंध नहीं है तो फिर उस खंड में 'भरथरी' नाम का उल्लेख क्यों? स्पष्ट है कि जो कुछ हो चुका था वह सुधार योग्य न रहा था।

नामवाची शब्दावलीवाले इस कोश में कुछ टिप्पणियाँ निश्चय ही बड़ी रोचक और उपयोगी हैं। अनेक टिप्पणियों में इन नामों को इनके साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में ही लिया गया है। उदाहरण के लिये 'अंगद' संबंधी टिप्पणी में नीचे लिखे ग्रंथों का उल्लेख किया गया है : वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, दूतांगद, अंगद पैज, रामचरितमानस, रामचंद्रिका और रावण महाकाव्य। दशरथ संबंधी टिप्पणी में भी ये नाम आए हैं : दशरथजातक, वाल्मीकि रामायण, दशरथ कथानक, जैन साहित्य, स्कंदपुराण, रघुवंश, रामचरितमानस, साकेत और कौशल किशोर।

प्रमुख नामों की टिप्पणियों का आकार कैसा है, इसकी कुछ बानगी इससे मिल जाती है : सूरसागर ६ स्तंभ, रामचरितमानस ७ स्तंभ, सूरदास ८ स्तंभ, प्रेमचंद साढ़े सात स्तंभ, राधा ६ स्तंभ, रामचंद्र शुक्ल ६ स्तंभ, दयानंद ३ स्तंभ। इस प्रसंग में भूमिका के इस अंश का उद्धरण बहुत कुछ प्रासंगिक है और सारी स्थिति को स्पष्ट कर देता है : 'सामान्यतः लेखकों तथा कृतियों पर प्रस्तुत की गई टिप्पणियों का एक सोमा तक सानुपातिक विस्तार उनके सापेक्ष महत्व तथा उपलब्धि का संकेत दे सकता था। कार्य शुरू करते समय यह बात ध्यान में थी। परंतु इस सिद्धांत का निर्वाह कई कारणों से नहीं किया जा सका। इनमें लेखकों पर प्राप्त सामग्री, उनकी रचनाओं की संख्या तथा सहयोगी लेखकों की शैलियों की विभिन्नता प्रमुख कारण माने जा सकते हैं। इस स्थिति में प्रस्तुत टिप्पणियों के आकार से लेखकों के महत्व या मूल्यांकन का कोई भी निश्चित संबंध नहीं है, यह मानकर चलना चाहिए।' केवल इस उद्धरण को इस परिप्रेक्ष्य में पढ़ना चाहिए कि इसमें अनाहूत आलोचना से बचने की संपादकीय कला भी भाँक रही है।

उपनिषद् संबंधी टिप्पणी बड़ा ही अधूरी है और वेदों, आरण्यक, ब्राह्मण, जातक आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों की टिप्पणियों का सर्वथा अभाव भी बड़ा खटकता है। कुछ नगण्य ग्रंथों पर बड़ी बड़ी टिप्पणियाँ दी गई हैं, जैसे : जान कवि की 'कथा बिजरवां साहिजादे व देवल दे की' पर तीन स्तंभ लंबी टिप्पणी दी गई है और 'चंदरवदन ओ माहियार' पर ४ स्तंभ की।

गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, कावेरी, गोदावरी और सिंधु नदियाँ पर टिप्पणियाँ दी गई हैं, पर मंदाकिनी, सरयू, सोन, बेतवा, गोमता, काली, सतलज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम आदि ऐसी अनेक नदियों को नहीं लिया गया है, जिनका हिंदी साहित्य में काफी उल्लेख है। भारत के अनेक पहाड़ों का हिंदी साहित्य में उल्लेख है, पर इस कोश में एक भी पर्वत नहीं लिया गया है। रंभा, तिलोत्तमा और उर्वशी पर टिप्पणियाँ हैं, पर मेनका पर नहीं। सुकरात को एक स्तंभ दिया गया है, पर अरस्तू का नामोल्लेख नहीं है। पिरामिड पर एक छोटी सी टिप्पणी है, पर अनेक कविताओं के प्रेरक ताजमहल को छोड़ दिया गया है।

अंगद संबंधी टिप्पणी में इस भ्रामक वाक्य को देखिए—'वाल्मीकि कृत अंगदचरित्र ही परवर्ती रामकाव्यों के लिये आधार रहा है।' यहाँ 'कृत' का अर्थ है वाल्मीकि द्वारा 'निरूपित', क्योंकि स्पष्ट ही वाल्मीकि किसी अंगदचरित्र काव्य के प्रणेता नहीं हैं। इस कोश में क० म० मुंशी और चक्रवर्ती राजागोपालाचारी पर टिप्पणियाँ देख कर अचंभा होता है, जब रवींद्र, बंकिम, शरद्, सुब्रह्मण्यम् भारती आदि पर कोई टिप्पणी नहीं है।

जिन महाभागों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं, उनके बारे में भी प्रामाणिक सामग्री संकलित करने के लिये कभी कभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। शंभुनाथ शेष के बारे में यह वाक्य 'कई वर्ष पूर्व अकस्मात् आपका देहांत हो गया' या वचनेश मिश्र के बारे में यह वाक्य 'कई वर्ष पूर्व आपका देहांत हो गया' इसके उदाहरण में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। शेष के बारे में सामग्री साप्ताहिक हिंदुस्तान की पुरानी फाइलों से या दिल्ली के पुराने साहित्य-सेवियों से प्राप्त की जा सकती थी और निधन तिथि तो आकाशवाणी से ही प्राप्त हो जाती। इसी प्रकार वचनेश के बारे में काफी सामग्री फर्खाबाद की किसी हिंदी संस्था से प्राप्त की जा सकती थी।

महत्वपूर्ण टिप्पणियों के नीचे सहायक ग्रंथों की सूची का अभाव भा बहुत खटकता है। लेखकों और उनकी कृतियों संबंधी टिप्पणियों का कृतियों और उनके पात्रों संबंधी टिप्पणियों के बीच परस्पर संदर्भ का सर्वथा अभाव भी बड़ा विचित्र लगता है। मान लीजिए मैंने प्रेमचंद की टिप्पणी पढ़ी। इस टिप्पणी के अंत में ही मुझे पता चल जाना चाहिए कि गोदान, सेवा-सदन, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प आदि पर अलग से टिप्पणियाँ दी गई हैं, जो मुझे यथास्थान देख लेनी चाहिए। इसी प्रकार गोदान संबंधी टिप्पणी के नीचे ही उसके प्रमुख पात्र होरी, धनियाँ आदि की टिप्पणियों को यथास्थान देख लेने का संकेत मुझे मिलना चाहिए। इसी प्रकार प्रेमचंद या जयशंकर शब्द के अंत में इन दोनों के बारे में अबतक लिखे गए सभी प्रमुख ग्रंथों की सूची भी दी जानी चाहिए। हमें विश्वास है कि कोश के नए संस्करण में इन सभी बातों की ओर समुचित ध्यान दिया जायगा।

इस दोषोत्प्रेषण का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि इन छोटे मोटे अभावों से इस महान् ग्रंथ का महत्व घट जाता है। हमारे विचार से हिंदी साहित्य कोश का प्रणयन हिंदी साहित्य जगत् की एक महत्वपूर्ण घटना है। हमारा विश्वास है कि इस कोश का हिंदी साहित्य के प्रत्येक अध्ययन में बड़ा महत्व रहेगा। इस प्रकार के संदर्भ ग्रंथों से ही साहित्य को समृद्ध किया जा सकता है।

---

# सौंदर्यतत्त्व और काव्यसिद्धांत'

डा० हरद्वारीलाल शर्मा

मूल पुस्तक मराठी में है। इसके दो भाग हैं : सौंदर्यसिद्धांत एवं काव्यसिद्धांत। पहले भाग में लेखक ने सौंदर्यवाचक विधानगत विधेय और उद्देश्य का पर्यालोचन एवं परीक्षण किया है। सौंदर्यगत विधान है : यह काव्य, मूर्ति, चित्र अथवा राग सुंदर है। इस विधान में 'सुंदर' इस विधेय की व्याख्या करना सौंदर्यशास्त्र का गंतव्य है। प्रश्न यह है : क्या 'सुंदर' अनुभवसापेक्ष है अथवा अनुभवनिरपेक्ष ? ग्रहकेंद्री अथवा वस्तुनिष्ठ ? शास्त्र की संभावना के लिये सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ, अनुभव-निरपेक्ष मानना आवश्यक है।

सौंदर्यवाचक विधान में उद्देश्य का विश्लेषण भी कला में वस्तुनिष्ठता की पुष्टि करता है। बारलिगे का यह वास्तववादी दृष्टिकोण कलामीमांसा के लिये उनका महनीय योगदान है।

वास्तववादी दृष्टिकोण की स्थापना के लिये बारलिगे ने रसेल एवं मूर की दार्शनिक विवेचन शैली ( लाजिकल पाज़िटिविज़्म ) अपनाई है। संगति एवं संवाद इस विवेचन के प्रमुख शस्त्र हैं। अर्थविज्ञान ( सेमेन्टिक्स ) इसका मार्ग है। मनीषी लेखक ने पहले भाग में एक कुशल यौक्तिक तथा तार्किक की नाई अपने निष्कर्ष की स्थापना की है जो उसके शब्दों में इस प्रकार है : 'कला का कलात्व निर्धारित करते समय कला के घटकों का विश्लेषण करना अर्थात् सौंदर्यवाचक विधान के उद्देश्य के संबंध में अस्तित्व-वाचक विधान करना आवश्यक है। काव्य, नाट्य, चित्र, नृत्य इत्यादि कलाओं में भी यह अस्तित्ववाचक घटक अनिवार्य होता है' ( पृ० ५६ )।

पुस्तक के दूसरे भाग काव्यसिद्धांत में काव्यतत्त्व की मीमांसा के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। ऐसा नहीं है कि यौक्तिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों में कोई विरोध हो। वस्तुतः पहला दूसरे भाग के लिये पीठिका अथवा परिप्रेक्ष्य का काम करता है। सारे ग्रंथ का गर्भभाग तो

‘भरतमुनि प्रतिपादित रस की वस्तुनिष्ठता को स्थापित करना है।’ ‘भरतमुनि जब विभाव, अनुभाव, संचारिभाव, अथवा वाक्, अंग, सत्व इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उन्हें यही घटक अभिप्रेत होता है और इन्हीं घटकों को और उनके संबंधों को अर्थात् अस्तित्ववाचक संबंध को वे ‘रस’ संज्ञा देते हैं। अस्तित्ववाचक रस का आनंद में रूपांतर कैसे हुआ इसकी एक बड़ी लंबी कहानी है’ ( पृष्ठ ५६ )।

पुस्तक के दूसरे भाग में यही ‘बड़ी लंबी कहानी’ प्रस्तुत की गई है।

‘रस ज्ञातृनिरपेक्ष वस्तु है।’ ‘रस मूर्ति, वस्तुनिष्ठ और अभिनयात्मक है।’ रस की स्थिति रंगमंच पर है। ‘प्रेक्षक को प्राप्त होनेवाले तत्त्व है—हर्ष, शोक आदि, न कि रस। रस की स्थिति तो रंगमंच पर ही है, नाट्याश्रित है, अभिनयात्मक है।’ ‘रसनिष्पत्ति का आधार रंगमंच है’ (पृ० ५)। लेखक ने अपने इन और एतादृश विधानों का आधार भरतमुनि के रससूत्र को माना है —‘तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः’। ‘तत्र’, ‘विभाव’, ‘अनुभाव’, ‘व्यभिचारि’, संयोगात् एवं ‘रसनिष्पत्तिः’—इन पदों का निर्वचन रस की रंगमंचगत मूर्तता और वस्तुनिष्ठता को प्रतिष्ठित करने के लिये ही चिंतक ने किया है, जैसे, ‘तत्र’ का अभिप्राय है रंगमंच न कि सहृदय प्रेक्षक।

तब रस और आनंद का समीकरण कैसे हुआ ?

प्रारंभ में सांख्यदर्शन में ‘रस’ का प्रयोग ‘तन्मात्र’ के लिये हुआ। तदेव तन्मात्रम्। तत् = वस्तु। रस से तन्मात्र अथवा वस्तुमात्र का निर्देश होता है। आयुर्वेद ने भी ‘रस’ को इसी अभिप्रेत के लिये प्रयुक्त किया। भरत ने नाट्यशास्त्र में रस का यही मौलिक मंतव्य स्वीकार किया। रस का अर्थ है नाट्यप्रयोग जो रंगमंच पर कुशल कुशीलवों द्वारा अभिनीत किया जाता है। परंतु भरत भी जानते थे कि प्रयोग का प्रयोजन स्वयं प्रयोग अथवा प्रयोक्ता नहीं हो सकते। इसलिये उन्होंने सिद्धिसिद्धांत का प्रतिपादन किया—रस से सिद्धि होनी चाहिए और इस सिद्धि का आश्रय है प्रेक्षक, ठीक वैसे ही जैसे रस का आश्रय होता है प्रयोक्ता। शारीरी सिद्धि एवं दैवी सिद्धि—ये सिद्धि के दो रूप माने गए। इनमें दैवी सिद्धि सचमुच प्रेक्षक की अनुभूति है। इस प्रकार रस = आनंद इसी समीकरण का ऐतिहासिक सूत्रपात हुआ।

आमह और वामन ने रस की वस्तुनिष्ठता को माना और कलामीमांसा को दार्शनिक मतवादों के प्रभाव से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। परंतु प्राठवीं शती के आते आते वेदांतकेसरी की गर्जना के संमुख सारे शास्त्रजंबुक छिप गए और भरत की कलामीमांसा की वस्तुता, रस की रंगमंचगत मूर्तता सब कुछ 'आत्मैवाभूत्' आत्मनिष्ठ हो गए। जब यहाँ कोई 'वस्तु' है ही नहीं, सब आत्मा ही है तो रस की वस्तुता को स्वीकारना असंभव हो गया। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव मनोभाव नहीं है, यह मन में लाना ही कठिन हो गया। पानी अथवा द्रव अर्थ में प्रचलित रस शब्द आयुर्वेद, सांख्य और साहित्यशास्त्र के संयोग से अपने अर्थ का रंग बदलने लगा और साहित्य शास्त्र पर भी जब विज्ञानवादी दार्शनिक मत का पुट चढ़ गया तो रसगत वस्तुता भी समाप्त हो गई और उसे केवल गुण का स्थान प्राप्त हो गया.....जहाँ सारा विश्व ही कल्पनामय हुआ, मन से निर्मित हुआ, वहाँ रस को भी यदि मानसिकत्व प्राप्त हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?' (पृ० ६२-६३)। मम्मट ने रस = आनंदसमीकरण पूर्व कर दिया। अभिनवगुप्त और आनंदवर्द्धन के दार्शनिक दृष्टिकोण ने इस समीकरण के विकास में क्या योगदान दिया होगा—यह समझना, प्रस्तुत संदर्भ में कठिन नहीं है।

बारलिंगे का मूल मंतव्य है भरत की रसमीमांसा का पुनः प्रतिष्ठापन और रस एवं सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता का, तर्क एवं इतिहास के आधार पर, समर्थन।

बारलिंगे अपने उद्देश्य में सफल हुए है—इसमें संदेह नहीं। उन्होंने केवल कलातत्त्व और सौंदर्य की ही मीमांसा की हो—ऐसा नहीं। साथ ही विचार एवं तर्क की प्रबल शैली, पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में उनकी गंभीर दृष्टि, विचारों के इतिहास संबंधी उनकी सूझ और समझ और अंत में, उनकी प्रौढ़, परिपक्व भाषा—इन सब चिंतक के गुणों का प्रमाण इस ग्रंथ में पद पद पर मिलता है। अनुवाद सफल हुआ है। अनुवाद जितना अनुवाद सा न लगे उतना ही वह सफल माना जाता है। इस निष्कर्ष पर यह खरा उतरता है। उसका प्राक्कथन माला के शीर्ष मोती की नाई है। हिंदी वाङ्मय की श्रीवृद्धि इस ग्रंथ से होगी—इसमें संदेह नहीं।

हिंदी के लिये इस पुस्तक का एक महत्व और भी है। पुस्तक लिखने की नूतन शैली के अनुसार लेखक को एक अध्ययन (स्टडी) प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें विषय से संबंध सभी उपलब्ध सामग्री का संग्रह, दोहन,

मंथन आदि भी प्रस्तुत किया गया हो। मराठी साहित्यिक चित्तकों के व्यवस्थित एवं विकासशील चित्तन की स्पष्ट भाँकी इस पुस्तक में मिलता है। चित्तन एकाकी प्रयत्न नहीं है, वह एक सामाजिक व्यापार है। हिंदी में मौलिक विचारों की संपन्नता के लिये चित्तकों के सामूहिक प्रयत्न अपेक्षित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का आंतरिक मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है—

( क ) कलामीमांसा के लिये अनेक दृष्टिकोणों की संभावना है, जैसे, दार्शनिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, शास्त्रीय एवं सामाजिक। इन सबका उपादेयता असंदिग्ध है। परंतु कला की अंतरात्मा को समझने, इसकी अनुभूति को स्पष्ट बनाने एवं कलाकार से लेकर रसिक तक घटित होनेवाली समूची घटना को विशद करने के लिये एक ग्रन्थ ही दृष्टि की आवश्यकता है और वह है कला का स्वकीय दृष्टिकोण। एक कलादर्शन से दूसरा कलादर्शन कट जाता है। कला का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर कलात्मक दृष्टिकोण से कला की मीमांसा ही मुझे संगत एवं सार्थक प्रतीत होती है। मैंने यह प्रयत्न अपनी पुस्तकों 'रस और रसास्वादन', 'काव्य और कला' तथा 'साहित्य और कला' में किया है।

( ख ) कला एक समग्र जीवंत घटना है। कला की वस्तु जैसे ताज-महल, राग, चित्र या काव्य को उसके कृतिकार अथवा रसिक से अलग करके नहीं समझा जा सकता। विच्छिन्न करने पर विश्लेषण सरल हो सकता है और समझना सुकर। परंतु कला बुद्धि के सौकर्य के लिये नहीं है। वह बुद्धि से ( प्रीलाजिकल ) परे है। अतएव केवल विधानगत विधेय एवं उद्देश्य के विश्लेषण से 'सुंदर' का तर्क ( लाजिकल ग्राव् व्यूटी ) समझ में आ जाय तो आ जाय, इससे अधिक कुछ नहीं। अतएव ( लाजिकल पाजिटिविज्म ) के माध्यम से कला का पर्यालोचन मस्तिष्क की कवायद हो सकती है, कला के हृदय को समझने में सहायक कम।

( ग ) इसमें संदेह नहीं कि हमारी कलामीमांसा ऐतिहासिक विकास के क्रम में दार्शनिक प्रभावों में उत्पन्न गई। अनेक मनुष्यों ने खींचातानी इसके साथ की, जिससे रस का मौलिक, भरत का अभिप्रेत अर्थ ही बदल गया। आज रस को एकदम वस्तुनिष्ठ एवं रंगमंचगत मानना अपने साथ खड़ा सा लगता है। भरत का रससूत्र भारतीय कलामीमांसा के लिये खोबी है, और उसी की भाँई पवित्र, अग्रम्य और दुर्बोच। इसमें भी संदेह नहीं कि भारतीय कलामीमांसा को पश्चिमी विचार सरणियों में उत्पन्न

ठीक न होगा । ठीक होगा अपने ही सांस्कृतिक स्रोतों से इसे जोड़ना और भारतीय कलामीमांसा का आदि स्रोत भरत का नाट्यशास्त्र है, इसमें तनिक संदेह नहीं । परंतु इस तथ्य का विस्मरण न करके भी क्या हम इतिहास के विकास का निषेध कर सकते हैं ? रस और आनंद का समीकरण, बारलिगे के ही मत से, इतिहास की देन है । आनंदवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों का चिंतन इसको पुष्ट करता है । यदि हम रस = आनन्द = कलानुभूति, इस समीकरण को मान लें और सौंदर्य को भरत के रस की वस्तुनिष्ठता, वस्तुता प्रदान करें, तो कोई हानि होगी, मैं यह नहीं मानता ।

( घ ) मैंने अपने शोधनिबंध ( A Critical & Comparative Survey of Indian Aesthetics ) में और अपनी पुस्तक 'रस और रसा-स्वादन' में कलामीमांसा के लिये नई दिशाओं का संकेत किया है । कला-अनुभूति की समग्रता को भंग करने से जो कठिनाई उत्पन्न हो सकती हैं, उनसे इस मीमांसा को लाभ न होगा—ऐसा मेरा विचार है । बारलिगे पृष्ठ १०२ पर लिखते हैं : 'परंतु इसके लिये विज्ञानवाद के भ्रमपटल से रस-सिद्धांत को पृथक् करना आवश्यक है ।' मेरे विचार से तो भ्रमपटल इतना व्यापक है कि वह सारी रसमीमांसा पर छाया हुआ है । बारलिगे जैसे मनस्वी मनीषी ही इस भ्रमपटल का उच्छेद कर सकते हैं—ऐसी हमारी आशा है ।

---

# रस और रसास्वादन'

डा० रामानंद तिथारी

‘रस और रसास्वादन’ डा० हरद्वारी लाल शर्मा द्वारा रचित कला और काव्य के रस का एक नवीन और गंभीर विवेचन है। इस ग्रंथ के लेखक कला और काव्यशास्त्र के एक अधिकारी विद्वान् हैं, यद्यपि हिंदी समाज में उन्हें अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी है, जिसका खेद उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका में व्यक्त किया है। एक प्रकार से वे हिंदी में कलामोमांसा के प्रवर्तक हैं। सन् १९५३ में प्रकाशित उनका ‘सौंदर्यशास्त्र’ कदाचित् अपने विषय का हिंदी का पहला ग्रंथ है। पहला ग्रंथ होने के अतिरिक्त ‘सौंदर्यशास्त्र’ हिंदी का एक मौलिक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। ‘सौंदर्यशास्त्र’ तथा ‘रस और रसास्वादन’ के बीच में उन्होंने कलामोमांसा के दो अन्य ग्रंथ लिखे हैं, जिनकी ‘सौंदर्यशास्त्र’ के समान ही चर्चा नहीं हुई। इस अचर्चा से हिंदी के कुछ अन्य गंभीर लेखकों के समान ही डा० शर्मा का मन भी कुछ क्षुब्ध हुआ है। एक ओर हिंदी के प्रसार और उत्थान के आंदोलन हो रहे हैं तथा दूसरी ओर श्रेष्ठ और गंभीर ग्रंथों की इतनी उपेक्षा हो रही है कि उनकी अधिकृत क्षेत्रों में चर्चा भी नहीं होती, यह एक विचित्र साहित्यिक विडंबना है। इस विडंबना के परिणाम स्वतंत्रता के अठारह वर्षों के बाद हिंदी की वास्तविक दशा में प्रत्यक्ष हो रहे हैं। फिर भी हिंदी के अधिकारी शासन के अधिकारियों की भांति ही इन परिणामों को देखने के लिये तैयार नहीं हैं।

अस्तु ‘रस और रसास्वादन’ हिंदी में कलामोमांसा के प्रवर्तक एक अधिकारी विद्वान् द्वारा रचित एक गरिमापूर्ण ग्रंथ है। अनेक दृष्टियों से यह ग्रंथ मौलिक और महत्वपूर्ण है। अपने अन्य कलासंबंधी ग्रंथों की भांति ही लेखक ने ‘रस और रसास्वादन’ नामक ग्रंथ में भी कला, काव्य और रस के संबंध में कुछ मौलिक स्थापनाएँ की हैं तथा इनका अभिनव विवेचन प्रस्तुत किया है। सिद्धांत, शैली, विवेचन आदि अनेक दृष्टियों से

प्रस्तुत ग्रंथ में अनेक उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जिनका संकेत मात्र ही यहाँ संभव है। पुस्तक में किसी प्रसिद्ध एवं अधिकारी विद्वान् की भूमिका नहीं है। न कोई समर्पण है जो लेखक के उक्त खेद के निवारण में सहायक हो सकता। अपनी भूमिका में कोई 'धन्यवाद' नहीं है। यह ग्रंथरचना में लेखक की असहाय स्थिति के सूचक है। शैली की दृष्टि से भाषा की सरसता, विचारों की स्पष्टता तथा अभिव्यक्ति की प्रांजलता सराहनीय है। मौलिक और गंभीर सिद्धांतों का लेखक ने जिस अनाग्रह से विवेचन किया है, वह अनुकरणीय है। रसिक को ही लेखक ने रससमीक्षा में समर्थ माना है ( पृष्ठ १६१ )। शैली की सरसता और विवेचन का संतुलन लेखक की रसिकता और समीक्षणप्रतिभा दोनों को प्रमाणित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने रस का विवेचन केवल काव्य के प्रसंग में नहीं वरन् कला के व्यापक प्रसंग में किया है। काव्य एक कला है। रस सभी कलाओं का व्यापक तत्व है। हिंदी में कला के व्यापक प्रसंग में रस की विशद मीमांसा कदाचित् प्रस्तुत ग्रंथ में पहली बार प्रस्तुत की गई है। विवेचन के प्रसंग में लेखक ने सर्वत्र काव्य के साथ चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि कलाओं के उदाहरण दिए हैं। नाटक और काव्य की सीमा में बँधी हुई भारतीय रसमीमांसा को कला के विशाल प्रांगण में प्रस्तुत कर लेखक ने रसमीमांसा के नवीन क्षितिजों का उद्घाटन किया है। कला की व्यापक भूमिका के अतिरिक्त लेखक ने 'रस और रसास्वादन' के अनेक नवीन पक्षों और प्रसंगों को अपने विवेचन में स्थान दिया है, जिनकी चर्चा पूर्व की रस मीमांसाओं में नहीं की गई है। प्राचीन और आधुनिक विचारों के संदर्भ में लेखक की यह नवीन रसमीमांसा अत्यंत महत्वपूर्ण बन गई है। एक ही ग्रंथ में हमें रस के संबंध में प्राचीन भारतीय विचारधारा, पश्चिमी विचारधारा तथा आधुनिक चिंतन का परिचय एकत्र मिल जाता है। इसके अतिरिक्त इस परिचय की भूमिका में लेखक के मौलिक सिद्धांतों और सूक्ष्म विवेचन की छटा सर्वत्र दिखाई देती है, जिसका कुछ आभास ही इन पृष्ठों में दिया जा सकता है।

ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने कला और रस के महत्त्व का अल्प संकेत किया है। पहले ही वाक्य में उन्होंने कला की परिभाषा दी है, जो उनकी पूर्वकृतियों से अनूदिता है—'कला आवश्यकता से विमुक्त होने की आवश्यकता है। कला जीवन के आनंद का अनन्यतम साधन है क्योंकि

वह आवश्यकता का विराम करके न केवल जीवन का अपव्यय रोखती है, अपितु उसमें आनंद और ऊर्जा का संचार करती है ।.....कला का प्राण है आनंद, उसका कलेवर है 'सुंदर' और आत्मा है 'रस'.....कला का मूल जनमन रंजन है.....कला जीवन को शिशुता का वरदान देती है । वह भुक्ति और मुक्ति का समातन साधन है । वह चेतना के घरातल पर अचेतन का संगीत है । बिना तृप्ति के भी वह जीवन का तोष करती है; बुद्धि को आलोक, मन को आह्लास, शरीर को चैन और ग्रहों को सृजन का विशुद्ध उत्सास देकर वह कृतार्थ होती है ।'

पहले अध्याय में लेखक ने अपनी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है । 'रस स्वयं अद्भुत अनुभूति है । प्रस्तुत प्रबंध का उद्देश्य इसी अनुभूति के मर्म तक पहुँचना है । रस एक असंदिग्ध घटना है । इसके एक छोर पर रस का अनुभविता रहता है, दूसरे छोर पर सुंदर वस्तु । इस घटना का अधिष्ठान रसिक की आत्मा होती है । केवल आत्मा के रूप का विवेचन करने से हम रस का स्वरूपनिरूपण नहीं कर सकते । इसी प्रकार सुंदर वस्तु का वैज्ञानिक विश्लेषण हमें रस को प्रस्तुत नहीं कर सकता । अध्यात्म केवल 'मैं' के स्वरूप की खोज करता है और विज्ञान वस्तु का विश्लेषण' (पृष्ठ ४१, २३) । अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा लेखक ने वैज्ञानिक और शास्त्रीय विधियों की सीमाओं का निदर्शन कर वर्णनविधि का समर्थन किया है तथा वर्णन के माध्यम से रस के अवर्णनीय मर्म तक पहुँचने का प्रयास किया है । 'रस एक ज्वलंत अनुभूति है, इसमें सहृदय सर्वात्मना संमिलित रहता है' ( पृष्ठ ७ ) । लेखक के मत में 'रसानुभूति विशुद्ध आध्यात्मिक या भावनात्मक अथवा बौद्धिक घटना नहीं है—इस अनुभूति का पोषण बुद्धि, मन, स्मृति, कल्पना, चित्ता, अहंभाव, भावना और न सबकी आश्रयभूत चेतना तथा शरीर सभी करते हैं । अनेक स्रोतों से निर्भर की भाँति रस की शतधारा ( सहस्रधारा कहना अधिक उचित होगा ) का निर्माण होता है ।'

इसके बाद इसी व्यापक दृष्टिकोण का ग्रंथ के अगले अध्यायों में विवरण किया गया है । पहले अध्याय में विवेचनविधि के अतिरिक्त काल, दिक् आदि के साथ रसानुभूति के संबंध का सूक्ष्म विवेचन किया गया है । अगले दो अध्यायों में भारतीय रसमीमांसा तथा पश्चिमी रसमीमांसा का सूक्ष्म और संश्लिष्ट विवेचन किया गया है । इन अध्यायों के ऐतिहासिक विवेचन में भी पाठकों को अनेक नवीन विचार और संकेत मिलेंगे । आगे एक अध्याय

में इस ऐतिहासिक विवेचन का सिंहावलोकन कर रस के प्रसंज. में आत्मा, रसेच्छा, बुद्धि, मन, अहंकार, शरीर आदि तत्त्वों के संबंध और रस में उनकी स्थिति का सूक्ष्म विवेचन है। पाँचवें अध्याय में 'रसिक के व्यक्तित्व' का विवेचन है। लेखक के मत में 'रसिक स्वयं रस से अभिन्न रहता है।' व्यक्तित्व का क्या स्वरूप है? क्या रसास्वादन में व्यक्तित्व का विगलन आवश्यक है? ये इस अध्याय के प्रश्न हैं। शरीर, बुद्धि, मन आदि से निर्मित व्यक्तित्व को लेखक ने एक जटिल, जीवंत और गतिशील वस्तु माना है। व्यक्तित्व के माध्यम से ही रस को रूप, रस, गंध, स्पर्श, गति, भोज आदि की संपदा प्राप्त होती है ( पृष्ठ १०७ )। व्यक्तित्व एक उभयतोबाही विन्यास है (पृष्ठ १०६)। एक ओर वह रस का अधिष्ठान एवं रूप विधायक है तथा दूसरी ओर 'रस के आस्वादन में जीवन से पूर्ण आत्मसत्ता के तरंगायमान सिंधु में हमारा लघु व्यक्तित्व तैराता है। लाघव या हल्केपन की अनुभूति ही रस का एक स्रोत है' ( पृष्ठ १०३ )।

छठे अध्याय में 'रसायन' के अंतर्गत उन प्रक्रियाओं का विवरण है, जिनके द्वारा जीवन के उपकरण 'रस' बनते हैं। आत्मलब्धि, दूरतापादन, शरीरीकरण और विभाव्यता संपादन के नाम से सौंदर्य रसायन के नियमों का सूक्ष्म और संश्लिष्ट विवरण किया गया है। सातवें अध्याय में 'रस-चेतना' का वर्णन है। 'रसचेतना' के विविध तत्त्वों का सूक्ष्म और गंभीर उन्मीलन इस अध्याय में मिलेगा। चेतना के साथ गति, परिवर्तन, गांभीर्य, विस्तार, दीप्ति, अहं, काम, इच्छा आदि के संबंध का विशदीकरण कर लेखक ने रसचेतना के स्वरूप का निरूपण किया है। आठवें अध्याय में लेखक ने 'रससमीक्षा' को रसास्वादन की चरम भूमि माना है। समीक्षा का मूलाधार रसास्वादन की क्रिया है और रसिक के अतिरिक्त कोई समीक्षक नहीं हो सकता ( पृष्ठ १६१ )। रसानुभूति में रसिक अपने तत्त्व को खोता नहीं, प्रत्युत वह अपने स्वरूप का लाभ करता है ( पृष्ठ १८६ )। नवें अध्याय में विवेचन के निष्कर्षों का संक्षिप्त आकलन है। लेखक रस को 'केवल स्थायी भावों का उद्रेक मानने को तैयार नहीं। रस अनेक तत्त्वों से मिलकर बनता है। ये तत्त्व बुद्धि, मन, चित्ता, अहंकार यहाँ तक कि शरीर, प्राण, इंद्रिय की प्रणालिकाओं और क्रियाओं द्वारा प्राप्त होते हैं। अनेक रासायनिक विधियों से ये तत्त्व पककर एकरूप हो जाते हैं' ( पृष्ठ १६२ )। यही रस के संबंध में लेखक की मौलिक स्थापना है। अंतिम और दशम अध्याय में रस और कलासंबंधी चिंतन की अद्यतन ( पश्चिमीय ) धाराओं का विद्वत्तापूर्ण विवे-

चन है। इस प्रसंग में लेखक ने अचेतन और रूढ़विषटन की अद्यतन मान्यताओं का विवेचन किया है।

संपूर्ण ग्रंथ एक ठोस और गंभीर रचना है। इसकी समीचीन समीक्षा के लिये लेखक के समान कलात्मक चिंतन का परिचय और कला के स्वरूप का गंभीर अनुशीलन अपेक्षित है। कला और साहित्य के प्रेमियों को हिंदी की ऐसी गौरवपूर्ण कृतियों का आदर करना चाहिए !

---

# काव्यशास्त्रीय निबंध<sup>१</sup>

( परंपरा तथा सिद्धांत पक्ष )

डा० मनोहरलाल गौड़

प्रस्तुत पुस्तक, जैसा उसका नाम है, काव्यशास्त्र की विभिन्न समस्याओं पर लिखे गए २२ निबंधों का संग्रह है। पहले पाँच निबंधों में संस्कृत और हिंदी के काव्यशास्त्रों की परंपरा का बोध कराया गया है। शेष सत्रह निबंधों में रस, अलंकार तथा नाटक से संबंधित विषयों का विवेचन किया गया है। परंपरा भाग में पाठक की मनोभूमि तैयार करने का प्रयास प्रतीत होता है। इनमें से संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा पर प्रथम और द्वितीय दो निबंध हैं। प्रथम में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों का काल, रचना तथा सिद्धांत को बताकर परिचय दिया गया है और दूसरे में उसका अवलोकन है। इन दोनों निबंधों को मिलाकर संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों के समय, रचनाओं एवं सिद्धांतों का समीक्षात्मक परिचय पाठक को मिल जाता है। पहले निबंध में नाट्यशास्त्र संबंधी परिचय अपने विस्तार और विषादता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। हमारे में अलंकार, ध्वनि, रस, रीति और वक्रोक्ति इन पाँच मार्गों का परिचय देकर पहले तीन को संप्रदाय बताया गया है क्योंकि उनका बाद के आचार्यों द्वारा अनुवर्तन हुआ। रीति और वक्रोक्ति मार्ग अपने उन्नायक आचार्यों के साथ ही समाप्त हो गए। इन सिद्धांतों का परिचय लेते समय पाठक के मन में एक शंका उठती है। वह यह है कि इनकी उद्भावना की प्रेरणा आचार्यों को अपने समसामयिक साहित्य से मिली या अन्य विधाओं से? क्या अलंकार सिद्धांत के प्रचारण काल में अलंकारप्रधान साहित्य स्पष्ट हो रहा था, ध्वनिप्रधान या रसप्रधान नहीं? साथ ही इनका समसामयिक और उत्तरकालीन कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा? अर्थात् संस्कृत काव्यशास्त्र को संस्कृत के साहित्य के संदर्भ में देखने से क्या परिणाम निकलता है? इधर आलोचकों को देखना चाहिए।

तीसरे निबंध में हिंदी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र के ग्रंथों का संस्कृत के काव्यशास्त्र की तुलना में पर्यालोचन हुआ है। निष्कर्ष यह है कि रीतिकाल के आचार्यों में न केवल मौलिकता का अभाव रहा, काव्यशास्त्र के अनेक विवेच्य विषय भी उनसे छूट गए जैसे वृत्ति (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना)-विचार, रससूत्र की व्याख्याएँ, गुणों और अलंकारों का भेदनिरूपण, काव्य-लक्षण में अपने मत की स्थापना आदि। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने इन सभी विषयों पर निष्ठापूर्वक विचार दिए हैं। दीपक तले अंधेरा यह भी रह गया कि इनमें से किसी ने भी अपने समसामयिक और पूर्ववर्ती विशाल भक्ति साहित्य के रस और छंद आदि की नई समस्या का अनुभव तक नहीं किया। फिर भी इन लोगों को इस बात का श्रेय दिया जायगा कि इन्होंने संस्कृत का प्राचीन और हिंदी की आधुनिक काव्यशास्त्रीय चिंतनधारा के बीच की कड़ी जोड़ दी। बोलचाल की भाषा के अपने साहित्य को काव्यमीमांसा का सहारा देकर गरिमा प्रदान की और लक्षणों के बड़े सजीव एवं विविध उदाहरण दिए। निबंध के अंत में प्रस्तुत विषय पर प्रकाशित अप्रकाशित पुस्तकों की सूची दी है और हिंदी में जो इस संबंध में शोधकार्य हुआ है उसका भी उल्लेख किया है। डा० चौधरी ने इसमें जो श्रम और सूक्ष्मता का परिचय दिया है इसके लिये वह धन्यवाद के पात्र है।

चौथे और पाँचवें निबंध में काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक प्रगति और हिंदी की शोध की चर्चा है। प्रगति के निर्धारण का प्रश्न कठिन है। इस निबंध में तो संस्कृत के ग्रंथों तक ही लेखक सीमित रहा है। स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र इतना ही नहीं है। काव्यशास्त्र से संबंधित शोधकार्य पाँच वर्गों में विभक्त है—१. हिंदी माध्यम से संस्कृत के समीक्षाग्रंथों का विवेचन। २. किसी एक समीक्षासिद्धांत का हिंदी तक के समीक्षाविकास की छाया में अध्ययन। ३. काव्य के संदर्भ में किसी काव्यांग जैसे रस, अलंकार, ध्वनि आदि का अध्ययन। ४. किसी एक अथवा अनेक रीतिकालीन कवियों की समीक्षाएँ और ५. विविध। अंत में डा० चौधरी का विचार है कि अबतक की हिंदी की शोध 'संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का स्वस्थ, स्वच्छ तथा विशद परिचय देने में असमर्थ रही है'। यह ठीक है। वास्तव में संस्कृतसमीक्षा का मार्मिक विवेचन और मूल्यांकन जितना संस्कृत के विद्वानों द्वारा प्ररोचित है उतना हिंदी के पंडितों द्वारा नहीं। हिंदी साहित्य की तो अब जो प्रगति हो रही है उसे देखकर इसमें भी संदेह होता है कि भागे संस्कृत समीक्षा का इसके मूल्यांकन में अधिक उपयोग होगा। रससिद्धांत पर चिह्न लगानेवाले

विद्वानों की संख्या वृद्धि पर है। प्रसङ्गकार मार्ग को छोड़ें तो हिंदी को युग हो गया।

इस प्रकार डा० चौधरी ने पहले पाँच निबंधों में संस्कृत और हिंदी की अबतक की समीक्षाप्रगति का परिचय दिया है। काव्यशास्त्र के विद्यार्थी का इससे उपकार होगा इसमें संदेह नहीं।

परंपरा के बाद सिद्धांतपक्ष में जो १७ निबंध दिए हैं उनमें से ६ निबंध ( ७-१५ ) रस से संबंधित हैं। इनमें भी चार ( ७-१० ) विशुद्ध रूप से और पाँचवाँ ( ११ ) आंशिक रूप से रससामान्य पर लिखे गए हैं। शेष चार में से तीन ( १२, १३, १४ ) क्रमशः रौद्र और वीर, प्रदुभुत तथा शांतरस के विवेचन पर हैं और अंतिम पंद्रहवाँ स्वशब्द वाच्यत्व नामक रसदोष से संबंधित है। रस के सामान्य विवेचन में रसनिष्पत्ति के साधन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का परिचय निबंध संख्या ७ में कराया गया है। निबंध परिचयात्मक है पर स्वच्छ विश्लेषण से विषय सुबोध बन गया है। आठवें में रस का स्वरूप समझाया गया है। इसमें मम्मट और विश्वनाथ ने रस का स्वरूप बताते समय जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उन्हें स्पष्ट करके उनकी व्याख्या की गई है। ये विशेषण हैं—प्रखंड, स्वप्रकाश, वेदांतर स्पर्श शून्य, चिन्मय, ब्रह्मास्वाद सहोदर आदि। आचार्य शुक्ल की भाँति रस को अलौकिक आनंदानुभूति माना गया है। उसका अलौकिक विशेषण लाक्षणिक है। काव्यानंद ब्रह्मानंद और लोकानंद के मध्य की अनुभूति है।

नवाँ निबंध 'साधारणीकरण की व्याख्या गथा' डा० चौधरी ने बड़े श्रम और निष्ठा निर्याओं के साथ लिखा है। प्रारंभ में उन्होंने संस्कृत के आचार्यों से लेकर आधुनिक डा० नगेंद्र तक साधारणीकरण की विभिन्न व्याख्याओं और उनके अंतर को समझाया है। बाद में आचार्य शुक्ल और डा० नगेंद्र का जो इस विषय में मतभेद है उसपर विमर्श किया है। आचार्य शुक्ल प्रालंबनत्व धर्म का साधारणीकरण और आश्रय तथा पाठक का भेद मानते थे। साथ ही वे रसकोटि से नीचे की एक शीलदर्शन की कोटि भी मानते थे। पश्चिमी साहित्य में जो व्यक्तिवैचित्र्य के दर्शन चरित्र चित्रण के अंतर्गत होते हैं उसकी व्याख्या उन्होंने इसी मान्यता से की थी।

डा० नगेंद्र ने कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानकर शुक्लजी की मान्यताओं का खंडन किया है। उनके अनुसार शीलदर्शन के स्थल पर कवि

की अनुभूति शील ही है। वह साधारणीकरण से ही उपलब्ध हो जायगा। आश्रय और पाठक का अभेद मानने की आवश्यकता नहीं है। डा० चौधरी ने भी इस अभेद का यह तर्क देकर खंडन किया है कि शृंगार में आश्रयत्व परिवर्तित होता रहता है। कभी पहले का आलंबन आश्रय बन जाता है। लेकिन यह तर्क वीरादि रसों में नहीं चल सकता। दूसरे इस परिवर्तन से शुक्लजी की मान्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नगेंद्रजी के कवि अनुभूति के साधारणीकरण की यहाँ आलोचना की गई है। वास्तव में काव्य में 'अनुभूति' जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वह तो विभाव, अनुभाव आदि के रूप में ही यहाँ विद्यमान है। अतः साधारणीकरण उन्हीं के धर्म का मानना चाहिए। निबंध का निष्कर्ष संक्षेप में यह है—

१—साधारणीकरण विभावादि के मिश्रित क्रियाकलाप का होता है।  
( शुक्लजी यही मानते थे )।

२—इस व्यापार से सहृदय अपने पूर्वमोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है।

३—साधारणीकरण रसास्वाद की भूमिका बनाता है।

४—रसात्मकता की मध्यम कोटि नहीं माननी चाहिए। ( इसपर कोई युक्ति लेखक ने नहीं दी )।

मेरा अपना निवेदन है कि रससिद्धांत से हम सब प्रकार के साहित्य की व्याख्या करने का यदि मोह छोड़ दें तो हमें कहना चाहिए कि चरित्रोद्भावना के स्थल पर रसपरिपाक है ही नहीं। वहाँ आलंबन या आश्रय के स्वरूप का बोधमात्र है।

प्रस्तुत निबंध गंभीर है। शास्त्रीय समस्या पर होते हुए भी स्पष्ट और सुलभा हुआ है। साधारणीकरण को समझने में इससे सहायता मिलती है।

दसवाँ निबंध शृंगार की रसरাজता पर है। शृंगार साहित्य का एक व्यापक भाव है। इसके विषय में आचार्यों के तीन मत हैं—

१—शृंगार एकमात्र रस है।

२—शृंगार मुख्य रस है अन्य गौण हैं।

३—शृंगार नौ रसों में से एक है।

प्रस्तुत निबंध में पहले मत पर विचार हुआ है। यह मत भोज का है जो उन्होंने अपने 'शृंगारप्रकाश' ग्रंथ में व्यक्त किया है। वे सांख्यवादियों के ग्रहंकार तत्त्व के समकक्ष एक मूलभाव मानते हैं। उसी को 'शृंगार रस'

कहते हैं, शेष रसभाव हैं और शृंगारजन्मा हैं। वीरादि की सी उत्कर्ष कोटि संचारियों को भी प्राप्त हो जाती है। डा० चौधरी ने बताया है कि सामान्यतया 'रस' शब्द से जो एक आस्वाद की उत्कर्ष दशा का ग्रहण होता है वह भोज के शृंगार में गृहीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त वीरादि की रसदशा सर्वजन संवेद्य है। रति के सर्वव्यापक होने से सब रस शृंगार नहीं हो सकते अतः रस तो ही है। हाँ सर्वजनसंवेद्य होने से शृंगार उनमें मुख्य है। निष्कर्ष में लिखा है कि 'भोज के मतानुसार 'शृंगार' को रस का पर्याय स्वीकार करते हुए शृंगार आदि सभी रसों को इसी के प्रकार मानकर उनका शृंगार में अंतर्भाव करना तथा इसी आधार पर शृंगार को सर्वप्रमुख रस मानना उचित नहीं है' ( पृ० १२७ )।

चौधरीजी का यह मत अस्पष्ट सा लगता है; भोज प्रचलित शृंगारादि रसों को भाव मानते हैं रस नहीं। अंतर्भाव करने का फिर प्रश्न ही नहीं उठता।

ग्यारहवाँ निबंध रस की सुखदुःखात्मकता पर है। नाट्यदर्पण के टीकाकार रामचंद्र गुणचंद्र ने रसों की दो श्रेणियाँ मानी हैं—सुखात्मक जैसे शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत तथा दुःखात्मक जैसे कष्ट, रोद्र, भयानक और बीभत्स। उनका तर्क यह है कि नाटक या काव्य में जीवन का अनुकरण होता है। जीवन की भावानुभूति सुख और दुःख दो विभागों में बँटी है। उसके अनुकरण काव्य में भी वह दो भागों में विभक्त होनी चाहिए। डा० चौधरी ने इस समस्या का विश्लेषण एक मनीषी अध्यापक की भाँति सांगोपांग किया है और समाधान में वही बात कही है जो दूसरे रसाचार्यों ने कही है। सुख और दुःख का विभाजन जीवन की लौकिक अनुभूति में ही संभव है। रस तो इससे परे की विलक्षण आनंदात्मक अनुभूति है। आनंद सुख और दुःख से ऊपर की अनुभूति है। यही कारण है कि लोग कष्टादि रसों वाले नाटक देखते और पढ़ते हैं। वे आनंद के लिये ऐसा करते हैं जो उन्हें शृंगार के समान कष्ट में भी मिलता है।

बारहवें निबंध का विषय है रोद्र और वीर रस का अंतर। आपाततः दोनों में बड़ी समानता प्रतीत होती है। एक स्थायी भाव अमर्ष मान ले तो दोनों का एक ही रस हो सकता है। पर विचारपूर्वक समझने से अंतर स्पष्ट हो जाता है। रोद्र का स्थायी भाव क्रोध है वीर का उत्साह। अमर्ष क्षणिक होने से संचारी भाव माना गया है। पहले क्रोध उत्पन्न होकर फिर लड़ने का उत्साह होता है यह कहना तो विवादास्पद है। स्थिति इसके

विपरीत अधिक स्वाभाविक लगती है, निबंधकार ने बड़े उत्तम विश्लेषण और व्याख्यान से दोनों का भेद समझाया है ।

तेरहवाँ निबंध अद्भुत रस की स्थिति पर है । कुछ लोगों का यह कहना है कि प्रत्येक रस में अद्भुत भाव की अनुभूति होती है अतः रस रूप में उसकी सत्ता प्रत्येक रस के साथ माननी चाहिए । धर्मदत्त आचार्य और नारायण पंडित की यह मान्यता थी । प्रस्तुत निबंध में बताया गया है कि गृंगार, वीरादि रसों में जो अद्भुतता का अनुभव होता है वह तत्त्व अद्भुत रस से भिन्न है, एक क्षणिक और लघु है तो दूसरा देर तक प्रतीयमान भावोत्कर्ष । अन्य रसों में जिसकी प्रतीति होती है वह चमत्कार है ।

चौदहवें निबंध में शांत रस के स्थायी भाव और अभिनेयता पर विचार किया गया है । स्थायीभाव निर्वेद न मान कर क्षम माना है और रस को अभिनेय बताया है । यह निबंध अपेक्षाकृत बड़ा है । पंद्रहवें निबंध का विषय है रस की स्वशब्दवाच्यता का विचार । पहले इस दोष का इतिहास दिया है बाद में उसकी मीमांसा की है । वास्तव में पूर्णतया वाच्य वस्तु या घटना हो सकती है भाव नहीं । वह तो सदा व्यंग्य ही रहता है । यह दोष क्या वस्तुस्थिति है । डा० चौधरी ने इसपर परंपरानुसारी ही विचार किया है । प्राचीन मान्यता को समझाया है । इसपर गंभीर विचार की अपेक्षा है । सोलहवें निबंध में काव्य के आत्मतत्त्व के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत दिए हैं । निबंध आकार में बड़ा और विस्तृत है । विषय को समझने और काव्य के अनिवार्य तत्त्व का इतिहास जानने में सहायक है ।

निबंध संख्या १७, १८ और १९ अलंकारों से संबंधित हैं । सत्रहवें में इस प्रचलित धारणा का खंडन किया गया है कि केशव अलंकारवादी थे । उन्होंने अलंकारों का प्रयोग अवश्य प्रचुरता से किया है पर रसादि सिद्धांतों का खंडन कर अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व बताने का आग्रह कहीं नहीं दिखाया । 'रसिकप्रिया' में उल्टे सब रसों का वर्णन किया है । बठारहवें और १९वें निबंधों में श्लेष तथा हेतु, सूक्ष्म और श्लेष अलंकारों पर संस्कृतानुसारी विचार है ।

निबंध संख्या २०, २१, २२ फुटकल है । बीसवें में अभिनय तत्त्व, इक्कीसवें में एकांकी और अंतिम बाईसवें निबंध में काव्यचोरों की चर्चा है, ये निबंध साधारण हैं । परिचय प्रदान कहे जा सकते हैं ।

सिद्धांत पक्ष का पहला निबंध 'वाचक शब्द और उसके प्रकार' सवर्ण है संबंधित है । 'काव्यालंकार' और 'काव्यप्रकाश' के आधार पर वाच्यार्थ

के चार भेद द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का इसमें विचार है। यह विषय आजकल अर्थविज्ञान ( सेमेन्टिक्स ) के अंतर्गत आ जाने से बड़ा व्यापक और महत्वपूर्ण बन गया है। इसपर विचार करते समय दृष्टि नवीन रखी जाय तो और अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने ही 'वाक्यपदीय' 'वैयाकरण भूषण' और 'वैयाकरण मंजूषा' आदि ग्रंथों में बड़ी गहन मीमांसा इस संबंध में की है। प्रस्तुत निबंध अपने विषय का परिचयात्मक प्रयास ही कहा जा सकता है। हिंदी के छात्रों के लिये इतना भी कम उपयोगी नहीं है।

इस प्रकार डा० चौधरी का यह निबंधसंग्रह काव्यशास्त्र की विभिन्न समस्याओं को शास्त्रीय पद्धति से समझने में बड़ा सहायक है। जिस समस्या को लेखक ने उठाया है उसपर संस्कृत के ग्रंथों में जो सामग्री उपलब्ध है उसका पूरा संग्रह किया गया है और उसपर विषयसापेक्ष शैली से समीक्षात्मक विचार किया गया है। विचार की शैली से लगता है कि कोई अध्यापक तटस्थ भाव से मीमांसा कर रहा है। लेखक किसी विशेष मान्यता का आग्रही नहीं है। शास्त्रीय विषयों पर विचारविमर्श की यही शैली उत्तम कही जायगी।

'सिद्धांत पक्ष' के निबंधों के क्रम में थोड़ा परिवर्तन अपेक्षित है। निबंध संख्या ६ को उन्नीसवें निबंध के बाद और निबंध संख्या १५ को नव्वे के बाद रखना चाहिए। इससे रस सामान्य, रस विशेष, अलंकार और फुटकल यह विषयक्रम बन जाता है। पुस्तक का मुद्रण अच्छा है।

डा० चौधरी संस्कृत काव्यशास्त्र के पंडित हैं। उनमें विषय के विश्लेषण और विचार तंतुओं के संयोजन की क्षमता है। शास्त्रीय विषयों को छोटे छोटे निबंधों में देकर उन्होंने बड़ा सराहनीय कार्य किया है। काव्यशास्त्र के विद्यार्थी उनका धन्यवाद करेंगे और जानकार लोग उन्हें बधाई देंगे।

# रज्जव वाणी'

## डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

हिंदा के निर्गुण संत संप्रदायों में 'दादू पंथ' का विशिष्ट स्थान एवं महत्व है। दादू की एकाग्रता, लगन, साधना और अद्वैत भावना ने उन्हें निर्गुण साधना के इतिहास में अमर बना दिया है। उनकी विचारधारा भागीरथी के जल के सदृश स्पष्ट और कल्याणकारी है। उनका काव्य सहज, सरल एवं मनोहारी है। दादू का यह परम सौभाग्य था कि उन्हें अत्यंत योग्य साधक और उच्च कोटि के विचारक काव्यशास्त्र के ज्ञाता, भाषा प्रवीण, योगशास्त्र के मर्मज्ञ सुंदरदास एवं रज्जव साहब जैसे शिष्य मिले। सुंदरदास और रज्जव जैसे शिष्यों ने योगसिद्ध दादू और उनके पंथ को जाज्वल्यमान कर दिया। सुंदरदास का शास्त्रीय ज्ञान अत्यंत प्रबल था और रज्जव का आनुभूतिक ज्ञान। रज्जव के प्रतिभाशाली एवं साधनागरिमा मंडित ज्ञान का प्रभाव तत्कालीन समाज पर बड़े व्यापक रूप से पड़ा। पुरोहित हरिनारायण शर्मा के मतानुसार 'रज्जव का अनुभव और ज्ञान तथा संग्रह विशाल थे। उनकी ज्ञानपिपासा, उनका तप, उनका भजन, उनका शास्त्रज्ञान, कथा कीर्तनादि सत्संग और प्रभाव बहुत ही चढ़ेबढ़े थे। वे जन्मसिद्ध महात्मा थे।' रज्जव के काव्य का अनुशीलन करने से उनके चिंतन एवं साधना की गंभीरता प्रकट होती है। संप्रदाय तथा पंथ में वे सुंदरदास से कम पूज्य नहीं हैं। सुंदरदास का संपूर्ण साहित्य पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अथक परिश्रम से प्रकाशित हो चुका है। सुंदरदास की दार्शनिक विचारधारा पर 'सुंदरदर्शन' जैसे ग्रंथों की रचना भी हो चुकी है। परंतु रज्जव का साहित्य सन् १९६३ ई० तक अप्रकाशित, असंपादित एवं अमुद्रित ही रह गया था। इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने का सौभाग्य डा० ब्रजलाल वर्मा को संप्राप्त हुआ। फलतः दिसंबर १९६३ में 'रज्जव वाणी' सुसंपादित होकर, प्रथम बार हिंदी जगत् के समक्ष प्रस्तुत हुई।

‘रज्जव वाणी’ ६०६ पृष्ठों के आकार में प्रकाशित ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रथम खंड में ५७ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका है, शेष उत्तरार्ध के ५१४ पृष्ठों में रज्जव वाणी का संकलन है और २८ पृष्ठों में ‘वाणी कोश’ की रचना हुई है। इस प्रकार सर्वांगसंपन्न प्रस्तुत ग्रंथ ६०६ पृष्ठों में संपादित है। ग्रंथ की भूमिका के संबंध में भी दो शब्द। भूमिका खंड ६ भागों में विभाजित है :—

१. रज्जव का परिचय ।
२. रचनाओं की प्रकृति ।
३. अध्यात्म और दर्शन ।
४. रजवावत तथा शैव शाक्त मत ।
५. रजवावत और सूफी भावना ।
६. वाणी का संपादन ।

भूमिका खंड के ‘परिचय अंश’ में कवि रज्जव का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। परिचयात्मक विवरण का प्रसार पांच पृष्ठों में हुआ है जिसमें संपादक ने अत्यंत भावुकता के साथ रज्जव के व्यक्तित्व को अंकित किया है। अन्य प्राचीन साधकों की जीवनी के सदृश ही रज्जव की जीवनी, जीवनचरित्र, जीवनचरित आदि अज्ञात है। संपादक ने रज्जव की तुलना सुंदरदास के साथ की है। आगे रज्जव की दृष्टांतप्रियता तथा रजवावत का उल्लेख है। परंतु इस सबके मध्य में एक बात खटकती है। संपादक ने रज्जव का समय निर्धारित करने की चेष्टा नहीं की। रज्जव सुंदरदास के समकालीन थे। हमें यह भी ज्ञात है कि हमारे आलोच्य कवि को १२२ वर्ष का सुदीर्घ एवं पावेत्र जीवन प्राप्त हुआ। फिर भी समय निर्धारित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। संपादक ने स्वतः लिखा है ‘संवत् १७४२ के बाद एक बार सुंदरदासजी रज्जव के दर्शनार्थ पधारे, परंतु उनके ब्रह्मपद प्राप्त होने का समाचार सुनकर अत्यंत दुःखी हुए’ (पृष्ठ ४)। इस तथ्य का उल्लेख होने के बाद भी समय निर्धारण नहीं हुआ। संपादक ने बड़ी सुंदर भाषा में रज्जव का व्यक्तित्वविश्लेषण किया है।

भूमिका खंड का द्वितीय भाग है ‘रचनाओं की प्रकृति’। इसमें रज्जव के वर्ण्यविषय, छंदयोजना, चौपाई-आदि, भाषा, आदि पर ११ पृष्ठों में विचारविनिमय किया गया है। इस अंश में संपादक का परिश्रम, उसका

विवेचन सराहनीय है। रज्जव का भाषादर्श और काव्यादर्श निम्नलिखित साखी से स्पष्ट है—

रज्जव वाणी सत्य सो, जामा है नित नाम।

क्या पराकृत क्या संस्कृत, राम बिना बे काम ॥

( विचार को अंग, साखी ५ )

‘अध्यात्म और दर्शन’ शीर्षक के अंतर्गत रज्जव की दार्शनिक विचार-धारा का विवेचन हुआ है। इस अंश में रज्जव की धार्मिक परंपराओं का उल्लेख करते हुए, उनकी दार्शनिक विचारधारा का निरूपण हुआ है। साथ ही रज्जव के रजबावत संप्रदाय के विषय में भी उल्लेख किया गया है। स्व-कथनों के समर्थन में संपादक ने रज्जव वाणी से साखियों को भी उद्धृत किया है। रज्जव की दार्शनिक विचारधारा का उल्लेख संक्षेप में किया गया है। संत साहित्य का प्रेमी पाठक कुछ विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, जो यहाँपर नहीं उपलब्ध होगी। रज्जव बड़े सफल निचारक एवं प्रचारक थे। वे निर्गुण धारा के प्रमुख कवियों में हैं। आशा है कि भविष्य में विद्वान् लेखक इस पर ध्यान देंगे।

भूमिका खंड का विचारणीय अंश है रज्जव साहब का ‘रजबावत तथा शैव एवं शाक्त मत’। इस अंश में रजबावत का शैव एवं शाक्त मत से संबंध निश्चित करने का प्रयत्न किया है। लेखक का प्रयत्न सराहनीय है, परंतु विस्तार और स्पष्टता का अभाव कहीं कहीं प्रतीत होता है। पृष्ठ ३५ पर उल्लेख है कि ‘हठयोग के आचार्य शंकर माने जाते हैं’ पर हठयोग के अन्य आचार्यों का उल्लेख नहीं किया गया। इसी पृष्ठ पर संपादक ने लिखा है कि ‘निर्गुण भक्ति मार्ग के अनुयायी संतों ने परमात्मा साक्षात्कार के लिये हठयोग प्रक्रिया को नहीं अपनाया……’। इन पंक्तियों का लेखक विद्वान् संपादक से इस विषय पर नहीं सहमत है। हमारी दृष्टि में सुंदरदास, मल्लकदास, चरनदास, गरीबदास जैसे कवियों के काव्य में यह तत्त्व उपलब्ध होता है। पृष्ठ ३६ पर रजबावत और शैव शाक्त साधना के संबंध का पुनः उल्लेख हुआ है।

‘रजबावत और सूफी भावना’ शीर्षक के अंतर्गत विवेचन बहुत ही सुंदर और विद्वत्सापूर्ण हुआ है। इस प्रसंग में प्रायोगिक ग्रंथों को आधार बनाया गया है। यहाँ संपादक का परिधम और ज्ञान द्रष्टव्य है। रज्जव की विरहानुभूति बड़ी गंभीर और मार्मिक है। ‘रज्जव का अवतार खंडन’,

‘जिक्र का महत्व’, ‘लघुता और दोनता’, ‘निर्वैर दया और निष्काम भावना’ विशेष रोचक और पठनीय है। ‘खोफ’ शीर्षक में प्रकट किए गए विचार सर्वथा मौलिक हैं।

अंत में ‘वाणी का संपादन’ अंश आता है। इस शीर्षक में रज्जव वाणी के संपादन के संबंध में लेखक या संपादक ने अपने विचारों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग के संपादक के निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

‘वानी के संपादन में ही सावधानी के बरतने पर भी कहीं वर्तनी की और कहीं शब्दों की अशुद्धियाँ रह गई हैं, वे अक्षम्य हैं और यह अपराध मेरा है, वैसा ही जैसा कि रेशम के तार निकालने में कुछ तारों का टूट जाना ... हस्तलिखित प्रतियों की लिपि से उतार कर लिखते समय कुछ तो मेरी नासमझी से और कुछ मेरी लाचारी से यदि कतिपय शब्दों, व्यंजनों और स्वरों के कुछ तार टूट गए—कुछ शब्द कीटों के ‘शरीर बदल गए’ तो इसमें मेरा क्या वश था?’ (पृष्ठ ५५)।

प्रसन्नता की बात है कि संपादक ने अनेक असंगतियों और अशुद्धियों को स्वीकार कर लिया है। सबसे बड़ी बात यह है कि लेखक ने जिन प्रतियों के आधार पर संपादन का कार्य संपन्न किया है, उनका सम्यक्, विस्तृत और पूर्ण परिचय नहीं दिया है। रज्जव वाणी का पाठांतर, पाठभेद आदि नहीं उल्लिखित हुआ। संपादक ने स्वतः पृष्ठ ५६ पर स्वीकार किया है कि ‘रज्जव वानी का संपादन जैसा मुझे इष्ट था, नहीं हो सका।’ कारणों की चर्चा करने से अब कोई लाभ नहीं है। इन सब अभावों के बावजूद डा० वर्मा का प्रयास सराहनीय है। डा० वर्मा ने अनेक कठिनाइयों के सामना करके एक अपेक्षित संत की नष्टप्राय ‘वाणी’ उद्धार किया। ‘एतदर्थ वे बघाई के पात्र हैं।

वाणी कोश प्रस्तुत का सर्वोत्तम, सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है। इसके आधार पर रज्जव साहित्य की दुरूहताएँ दूर हो जायेंगी।

अंत में यक्षस्वी कवि रज्जव की वाणी का हम स्वागत करते हैं और डा० वर्मा से आशा करते हैं कि वे भविष्य में दादू पंथ के अन्य उज्ज्वल रत्न को प्रकाश में लाएँगे।

# कवि पुहकर कृत रसरतन'

डा० महेंद्र कुमार

हिंदी साहित्य का इतिहास लिखे जाने का उपक्रम यद्यपि गत ७०-८० वर्षों से हो रहा है और अनेक विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों का आश्रय लेते हुए अपने अपने दृष्टिकोणों से एतत्संबंधी सामग्री प्रस्तुत कर इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है तथापि अभी तक ऐसा कोई इतिहास ग्रंथ प्रकाश में नहीं आ पाया जिसे सर्वांगपूर्ण कहा जा सके। सर्वांगपूर्ण होना दूर की बात है, अभी तक प्रवृत्तियों के आधार पर समग्र हिंदी साहित्य का कालविभाजन—विशेषतः प्रत्येक काल के बीच की अवधि की सीमाएँ तथा उसका नामकरण तक ऐसा नहीं हुआ जो अपने आप में निर्विवाद हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रस्तुत कालविभाजन की अवधि और उसके बीच लिखित ग्रंथों को दृष्टि में रखकर किए गए जिस प्रवृत्तिविवेचन को सामान्यतः आधार मानकर आज हम चलते हैं उसी के विषय में यह शंका की जा सकती है कि इन कालों की विभिन्न प्रवृत्तियों का आरंभ और अंत विशिष्ट संवत्‌ओं में ही कैसे हुआ—क्या आरंभ से पूर्व इनके अंकुर पूर्ववर्ती कालों में विद्यमान नहीं थे जो क्रमशः पल्लवित होकर स्पष्ट और सघन हुए तथा अंत होने के उपरान्त भी क्या ये प्रवृत्तियाँ परवर्ती कालों में परम्परा को अविकल नहीं बनाए रहीं। इतना ही नहीं, क्या ऐसा साहित्य नहीं लिखा गया जिसमें पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों का परंपरागत पालन तथा आगामी काल की प्रवृत्तियों का पल्लवन स्पष्ट रूप से उनमें मिलता हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्लजी आदि सभी इतिहासकार इस विषय में मौन हैं। यदि इन शंकाओं को दृष्टि में रखते हुए वे विभिन्न कालों और उनकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण विवेचन करते तो आज के पाठक के मन में इन कालों की विशिष्ट प्रवृत्तियों का आकस्मिक उद्भव बीच की कड़ी के अभाव की शंका उत्पन्न न करता। वैसे भी ऐसे साहित्य की कल्पना करना तक विचित्र लगता है जिसमें विशिष्ट प्रवृत्तियाँ तो विद्यमान हों पर उनमें इस

कार के परंपरासूचक ग्रंथों की रचना ही न हुई हो। अतः आज के शोधार्थी के लिये इसी शृंखला की खोज करना अनिवार्य है जिसके आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास का पुनर्निर्माण किया जा सके और यह तभी संभव हो सकता है जब इस प्रकार के ग्रंथों को प्रकाश में लाया जाय। कवि पुहकर कृत 'रसरतन' इसी शृंखला का ग्रंथ है जिसे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने डॉ० शिवप्रसाद सिंह से संपादित कराकर और प्रकाश में लाकर हिंदी जगत् का पर्याप्त उपकार किया है।

'रसरतन' काल्पनिक प्रेमकथा को लेकर लिखा गया प्रबंध शैली का काव्य है जिसमें वैरागर के राजा सोमेश्वर का पुत्र सूरसेन और चंपावति-नरेश विजयपाल की कन्या रंभावती का संयोग कराने के लिये रति और काम उन दोनों के रूप धारण कर क्रमशः स्वप्न और साक्षात् दर्शन द्वारा उन्हें प्रेमासक्त करते हैं। कन्या की व्यथा से चिंतित होकर उसकी माँ द्वारा प्रेषित बुद्धिविचित्र नामक चित्रकार देश देशांतर के राजकुमारों के चित्र लेता हुआ वैरागर के प्रेमपीछे राजकुमार की विरहदशा को देखता है तो उसे सभी बातों का निश्चय हो जाता है और वह उसे राजकुमारी रंभा के रूप, लभनफल आदि से परिचित करा सभी बातें स्पष्ट कर देता है। राजकुमार इससे संतुष्ट होता है और उसे अपनी नामांकित मुद्रिका तथा पत्र देकर विदा करता हुआ राजकुमारी के स्वयंबर के दिन की प्रतीक्षा करता है। स्वयंबर की सूचना मिलते ही अपनी सेना के साथ सूरसेन चंपावती के लिये प्रस्थान करता है किंतु मार्ग में मानसरोवर के तट पर इंद्र के शाप से अभिशप्त अपनी सखी कल्पलता से विवाह कराने के लिये अप्सराएँ उसे उठाकर ले जाती हैं और वह रंभा समझकर उससे विवाह कर लेता है। परंतु जब एक दिन कल्पलता उसे अपनी कथा सुनाती है तो वह योगी का वेश धारण कर चल देता है और अंततः अपनी सेना के लोगों से जा मिलता है। इसके पश्चात् वह चंपावती पहुँचता है जहाँ शिवमंदिर में उसे राजकुमारी रंभा का दर्शन होता है। शुभ दिन आने पर स्वयंबर में राजपुत्री उसका धरण करती है और विवाहरीति के उपरांत वह राजा विजयपाल के अमुरोध पर चंपावती में तबतक के लिये रुक जाता है जबतक कि उसके पुत्र का जन्म न हो। उधर कल्पलता पतिवियोग से दुःखी होकर विद्यापति नामक शुक को भेजती है जो रंभा के महल में पहुँच कर एक गाथा पढ़ता है। रंभा शंकिब होकर पति से सब बातें पूछती है और वह उसका विश्वास प्राप्त कर अपनी कथा सुना देता है। कल्पलता और रंभा की भेंट होती है

और दोनों बहनों की तरह रहने लगती हैं—रंभा के गर्भ से चंद्रसेन नामक बालक का जन्म होता है । राजकुमार सूरसेन अपने माता पिता के दुःखी होने का समाचार प्राप्त करते ही दोनों रानियों सहित वैरागर पहुँचता है और पिता की आज्ञा से अनेक राज्यों को जीतता है । पिता की मृत्यु के पश्चात् वह राजकाज संभालता है परंतु एक दिन गुरु चिंतामणि का उपदेश सुनने से उसके मन में वैराग्य जागता है और वह अपने राजकाज को पुत्रों में बाँटकर रानियों सहित काशीवास करने चला जाता है ।

‘रसरतन’ की कथा का अध्ययन कर इसकी कथा और वर्णनपद्धति पर विचार करने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने लोक में प्रचलित प्रेमकथाओं के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में नलदमयंती, उषा अनिरुद्ध, माधवानल कामकंदला, मधुमालती तथा पिगला और भरथरी आदि संबंधी काव्यों एवं कथाओं का आश्रय लेकर अपने काव्य की कथा को सँवारने के लिये उन सभी कथानकछट्टियों का इस ग्रंथ में समावेश किया है जो अपभ्रंश प्राकृत के चरितकाव्यों, रासो ग्रंथों तथा सूफी कवियों के प्रबंध काव्यों में देखने के लिये मिलती हैं : ईशाराधन अथवा तांत्रिक के वरदान से संतानोत्पत्ति, स्वप्नदर्शनजन्य प्रेम, आकाशवाणी, अभिज्ञान, अप्सराओं और मनुष्यों का प्रेम विवाह, शिवपूजा के ध्याज से मिलन, पक्षियों द्वारा संदेश-प्रेषण, बारहमासे की पद्धति पर विरहवर्णन आदि ऐसी ही काव्यछट्टियाँ हैं । सूफी कवियों के समान इस काव्य में स्थान स्थान पर आध्यात्मिक संकेत भी दिए गए हैं किंतु इनका स्वर विदेशी न होकर विशुद्ध भारतीय है जिसका दर्शन संत काव्य में होता है—आत्मा और ब्रह्म का प्रेम पत्नी और पति का है, आशिक और माशूक का नहीं । इसके अतिरिक्त वर्णन शैली—विशेषतः वस्तुपरिगणन, विस्तृत वर्णन करने की प्रणाली तथा भाषा एवं छंदयोजना का प्रभाव रासो ग्रंथों से विशेष रूप में ग्रहण किया गया है । चूँकि कवि के समय तक नायिकाभेद और शृंगार रस के अंगोपांग का वर्णन उस युग के कवियों में पर्याप्त चर्चा का विषय बन गया था, अतः रसरतनकार ने अपने काव्य की प्रेमकथा का लाभ उठाकर उसमें इनके समावेश का अवसर हाथ से नहीं जाने दिया । कहना न होगा कि शृंगार का वर्णन शास्त्रीय एवं भावात्मक दृष्टियों से इतना मुखर होकर आया है कि सहज ही यह कवि रातिकवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है । इस प्रकार भक्तिकाल के अंतिम चरण ( संवत् १६७३ वि० ) में रचित इस ग्रंथ के अंतर्गत पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबंध एवं चरित काव्यों की परंपरा

का निर्वाह ही नहीं किया गया अपितु आदिकाल के रासो तथा भक्तिकाल के संत और प्रेमगाथा काव्य ग्रंथों से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण कर अपने युग में अंकुरित रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह द्वारा यह संकेत किया गया है कि इसका रचयिता अपने युग की नवीन चेतना के विषय में भी पर्याप्त सजग है। अतः कह सकते हैं कि रीतिकाल और उसके पूर्व की नवीन और प्राचीन प्रवृत्तियों के परंपरासेतु का परिचायक होने के कारण ही नहीं विषयवस्तु के स्वच्छ निर्वाह, प्रबंधयोजना, कवित्व एवं भाषाप्रौढ़ि के कारण भी 'रसरतन' वर्तमान शोध की अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

प्रस्तुत प्रकाशन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संपादक ने अनेक हस्तलेखों का आश्रय लेकर मूल ग्रंथ के पाठ को अधिक वैज्ञानिक एवं स्वच्छ ही नहीं बनाया, इसके आरंभ में १६५ पृष्ठों की शोधपूर्ण भूमिका द्वारा ग्रंथगत परंपरा निर्वाह तथा उसके काव्यसौष्ठव पर प्रकाश डालकर मूल ग्रंथ को और भी उपादेय बना दिया है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ के अंत में कवि पुनः कृत 'रसवेलि' नामक नायिकाभेद विवेचन संबंधी ग्रंथ के उपलब्ध छंदों को समाविष्ट कर कवि की रचनाओं संबंधी खोज को जहाँ अद्यतन बनाया है वहाँ रीतिकाल के शोधार्थी को रीतिपरंपरा की खोज करने पर कुछ न कुछ और मिल जाने के लिये आश्वस्त कर दिया है। पं० करुणापति त्रिपाठी द्वारा दिया गया विस्तृत विभागीय प्रवर्तन भी ग्रंथ और उसकी भूमिका के महत्व का प्रतिपादन करने के साथ विचारोत्तेजक एवं सूचना-वर्द्धक होने के कारण कम महत्वपूर्ण नहीं। इस प्रकाशन का सबसे बड़ा दोष प्रूफ संबंधी अशुद्धियाँ हैं जो स्थान स्थान पर खटकती हैं। इतना ही नहीं ग्रंथ अपने आपमें जितना महत्वपूर्ण है, इसकी छपाई के लिये प्रयुक्त कागज और जिल्द उतनी ही घटिया है। आशा है कि भविष्य में 'सभा' के अधिकारी इस ओर विशेष ध्यान देंगे, कारण ऐसे ग्रंथ अधिक शीघ्र नहीं छपा करते।

# कुतुबन कृत 'मृगावती'

डा० ब्रजलाल वर्मा

कुतुबन कृत 'मृगावती' का संपादन सहजसाध्य नहीं था। श्रीर ब्रज लाल डा० शिवगोपाल मिश्र ने उसका संपादन कर दिया तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने उसका प्रकाशन भी कर दिया तब हम यदि इसे हिंदी साहित्य की उपलब्धि न मानें तो 'पर भणिति' में हर्षित न होने का अपराध हमें अवश्य ही लांछित करेगा। डा० मिश्र ने इस कृति के संपादन में अपने समय, धन, धैर्य और अध्यवसाय का पूरा उपयोग किया है। जिस कृति के संबंध में मिश्रबंधु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य चतुरसेन, डा० रसाल, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० कमल कुलश्रेष्ठ, डा० हरिहरनिवास द्विवेदी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति साहित्य के इतिहासकारों ने न तो कुतुबन के जीवनी पक्ष पर कुछ विस्तार से कहा और न कुतुबन के 'मृगावती' काव्य की प्रामाणिक विवेचना ही की उसी 'मृगावती' का संपादन डा० मिश्र ने किया है—वे 'वार्षिकी' के माध्यम से हमारी बधाई स्वीकार करें।

'मृगावती' के संपादन की आधार सामग्री का उल्लेख संपादक ने भूमिका भाग तथा पुस्तक के अंत में किया है। 'मृगावती' के हस्तलिखित प्रतियों में जिनका उपयोग किया गया है वे हैं—( १ ) चौखंभा की प्रति, ( २ ) 'भारत कला भवन' बनारस की प्रति, ( ३ ) अतूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर की प्रति, ( ४ ) मनेर शरीफ की प्रति, ( ५ ) फतेहपुरी ( यू० पी० ) में स्थित एकडला गाँव के हस्तलिखित ग्रंथागार की प्रति। मृगावती के मूल पाठ की पादटिप्पणियों में इन पाँचों प्रतियों के पाठांतर अंकित कर दिए गए हैं। भूमिका भाग में संपादक ने कुतुबन के काल तथा मृगावती की कथानुबन्धिनी धारुयायिकाओं का स्मरण किया है। संपादक ने यह भी माना है कि प्रेमगाथाओं की परंपरा संस्कृत और अपभ्रंश से चली आ रही थी परंतु मेरे विचार से संस्कृत के प्रेमसाध्यानों का पृष्ठभूमि के रूप में सविस्तर उल्लेख

---

१. संपादक : डा० शिवगोपाल मिश्र, प्रकाशक : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

आवश्यक था । श्रीमद्भागवत के उद्धव और कृष्ण, मेघदूत का मेघ, नैषध का हंस और राजा नल, कादंबरी का शुक और ऋषिकुमार भी प्रेमालंकारों के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । कल्कि पुराण की कथा का संक्षिप्त उल्लेख कथा प्रकरण भीमांसा में अपेक्षित था— क्योंकि कतिपय विद्वान् जायसी के पद्यावत काव्य की कथा को कल्कि पुराण के कथानक से पूर्णतः उधार लिया हुआ मानते हैं । बौद्ध और जैन ग्रंथों, बँगला साहित्य तथा मेघराज प्रधान की 'मृगावती' कथा का संकेत भूमिका भाग में किया गया है । परंतु अच्छा होता यदि संपादक ने इन बिखरी हुई 'मृगावती' विषयक कथाओं को अधिक प्रामाणिक ढंग प्रस्तुत किया होता । कुतुबन कृत 'मृगावती' काव्य में भावचित्रणगत काव्यचमत्कार उतना प्रभावशाली नहीं है जितना उसके कथानक की कुतूहलकारिणी वे घटनाएँ जो जीवन की उद्दाम साहसिकता, प्रियान्वेषण, भोगप्रेरक भोग पर आधारित है किंतु समस्त घटनाओं का उद्देश्य इस पंक्ति में निबद्ध होता है 'जाहिर में हम फरेपता हुस्नेवुर्ता के हैं, पर क्या कहें निगाह में जल्वे कहाँ के हैं ।' यही है लौकिकता में अलौकिकता का समावेश । आशय यह है कि जायसी के अतिरिक्त अन्य सभी प्रेमकाव्य के कवियों में काव्य का वैभव उसके कथानक के वैभव की तुलना में नगण्य है । इस धारा के कवियों में किन्हीं किन्हीं रचनाओं को तो पद्यनिगदित उपन्यास ही कहा जायगा । इसी लिये 'मृगावती' के कथाभाग पर संपादक से अधिक विस्तार, प्रामाणिकता तथा तुलनात्मक पीठिका के प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा थी ।

'मृगावती' का रचनाकाल संपादक ने सन् १५०३-४ माना है किंतु मंझनकृत मधुमालती का रचनाकाल सन् १५४५ तथा जायसी के पद्यावत का रचनाकाल सन् १५४० माना है । यहाँ यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि मंझन जायसी के बाद हुए । आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में जायसी को मंझन के बाद का कवि स्वीकार किया है । इसके प्रमाण में उन्होंने जायसी की उक्त पंक्तियों को उद्धृत किया है जिनमें जायसी ने पहले के चार काव्यों 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' तथा 'प्रेमावती' का स्मरण किया है । मंझन की रचना मधुमालती पूर्ववर्ती है अथवा जायसी की पद्यावती ? यह विषय विवादजटिल है । डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'मधुमालती' की भूमिका में 'मधुमालती' को सलीमशाह सूर के समय की माना है जिनका काल सन् १५४५ है । इन मतों के आधार पर तो मंझन जायसी के बाद के लगते हैं परंतु यह भी विचारणीय है कि कुतुबन ने

प्रत्येक पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा रखा है—मंभन ने भी ऐसा ही किया है—जायसी ने ७ अर्द्धालियों के बाद दोहा रखा है। बाद के एक दो कवियों ने ६ अर्द्धालियों के बाद दोहा रखा है। इस कालनिर्णय के प्रसंग में उक्त शैली को भी ध्यान में रखना होगा। डा० माताप्रसाद मधु-मालती में सलीमशाह की बंदना के कारण उसे सन् १५४५ ई० की रचना मान बैठे किंतु वहाँ यह भी विचारणीय है कि यह सलीमशाह कोई अन्य बादशाह तो नहीं है जिनको डा० गुप्त सलीमशाह सूर मान बैठे हैं। कुछ भी हो मधुमालती 'पद्मावत' के बाद की रचना है—इस विवादग्रस्त प्रसंग पर डा० मिश्र और डा० गुप्त को अनाविष्ट भाव से पुनः विचार करना चाहिए। इस प्रसंग को उक्त संपादक के पुनर्विचार के लिये यहीं छोड़ा जाता है।

'मृगावती' के मूल पाठ तथा संपादक के पाठालोचन पर भी विचार कर लेना उचित है। संपादन की प्रणाली यही है कि किसी कृति की समस्त उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के पाठ को मिलाकर उनमें से शुद्धतम पाठ का ग्रहण किया जाता है किंतु पादटिप्पणियों में मुख्य पाठांतर भी दे दिए जाते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि कोई शब्द किसी भी प्रति में सुपाठ्य नहीं होता उस स्थिति में संपादक के समक्ष कठिनाई होती है कि वह उस शब्द के लिये क्या करे। क्या उस शब्द की जैसी आकृति हस्त-लिखित प्रति के मूल पाठ में है बिना उस शब्द को समझे वह उसकी आकृति मात्र की आवृत्ति करे—या उस शब्द के स्थान को रिक्त छोड़ दे—या पंक्ति के आगे पीछे के प्रसंग को समझ कर संदर्भप्रेरित कोई शब्द अपनी ओर से रख दे। हमारे विचार से मेधावी संपादक के लिये तीसरी क्रिया न तो कठिन है और न अनुचित। हो सकता है कि संपादक द्वारा प्रस्तुत किया गया शब्द ही मूल पाठ का अभिप्रेत शब्द हो। प्रसंग और संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में अपनी ओर से शब्दानुमान करना संपादक के लिये इसलिये कठिन नहीं है कि वह मूल पाठ की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करते करते कवि के आंतर चिंतन, कल्पना और विवक्षा से पूर्ण परिचित हो जाता है। यह ठीक है कि अपने दिए हुए शब्द को वह कोष्ठक में दे और सूचित करे कि अमुक शब्द संपादक ने अपनी ओर से प्रस्तुत किया है। 'मृगावती' के संपादन में संपादक अपनी इस प्रतिभा, अभ्यास और योग्यता का उपयोग कर सकता था। पुस्तक के मूल पाठ के आरंभ में पृष्ठ ६७ के प्रथम दोहे में दूसरी पंक्ति पूरी की पूरी अनुपस्थित है। प्रथम पंक्ति में भी दो शब्द नहीं हैं। दोहे के बाद की अर्द्धाली में पहला शब्द नहीं दिया जा सका। पृष्ठ ६९

में चार अर्द्धालियों में लगातार पहला शब्द नहीं हैं। पृष्ठ ७८ में कई अर्द्धालियों के बीचबीच में प्रश्नचिह्न दिए गए हैं। यह प्रश्नचिह्न-प्रक्रिया पुस्तक में इतस्ततः अपनाई गई है। इन रिक्त स्थानों या प्रश्नचिह्नों में जहाँ एक ओर संपादक की ईमानदारी तथा अवाय्य अशक्यता लक्षित होती है वहीं संपादित कृति की अपूर्णता तथा पाठकों के लिये वही असुविधा बनी रहती है जो कृति के संपादित अवस्था में माने से पूर्व होती। यद्यपि ऐसी अनिवार्य कठिनाइयों की स्थिति में कोई भी संपादक सहानुभूति का अधिकारी है और क्षम्य है फिर भी पुस्तक की अपूर्णता के लिये पाठक के पास भी तो कोई उपचार नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रसंग और संदर्भ की अपेक्षाओं को दृष्टि में रखकर संपादक यदि अपनी ओर से कतिपय शब्द या शब्दसंघात रिक्त स्थानों को प्रदान करता तो अनुचित नहीं था—हाँ अपने द्वारा प्रदत्त शब्दों की सूचना सांकेतिक चिह्नों द्वारा दी जा सकती थी।

पुस्तक में यह भी देखने को मिला है कि किसी चौपाई या दोहे में प्रक्षम्य यतिभंग है। अर्द्धाली के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होनी चाहिए और दोहे में प्रथम दो चरणों में पहला चरण १३ मात्रा का और दूसरा ११ का होना चाहिए। परंतु 'मृगावती' में कवि ने और उससे भी अधिक हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों ने बड़ी ही स्वतंत्रता बरती है। लेखकों को इसलिये हम कह रहे हैं कि जहाँ कवि द्वारा कोई भूल या त्रुटि होने की संभावना नहीं है वहाँ भी यतिभंग है। उदाहरणार्थ—

भौन आय जो देखै काहा। मानुस पंखी न एकौ अहा।

( परेवा महल, पृष्ठ ११४ )

प्रस्तुत अर्द्धाली में 'पंखी' के स्थान पर 'पंखि' होता तो न तो शब्द बदलता और न अर्थ। लाभ यह होता कि प्रवाह में कोई व्यवधान न पड़ता। क्या आश्चर्य कि कवि ने 'पंखि' शब्द का ही प्रयोग किया हो और लेखकों ने धीरे धीरे 'पंखी' कर डाला हो। इसे संपादक औचित्यपूर्वक शुद्ध कर सकता था। इसी अर्द्धाली के प्रथम चरण में 'काहा' है और द्वितीय चरण में 'अहा' है। 'काहा' के तुकांत में 'अहा' को 'आहा' करके हम कवि के निकट उतने नहीं होंगे जितने 'काहा' को 'अहा' की तुकांतसंगति में 'कहा' करके। प्रश्न मात्राओं का उठेगा—१६ मात्रा के स्थान पर प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ रह जायेंगी—परंतु यह दोष क्षम्य है। तुलसीदासजी, जो चौपाई रचना में अत्यंत निष्णात थे, उन्होंने भी कतिपय चौपाइयों में छंदगत

चमत्कृति उत्पन्न करने के लिये १५ मात्राओं की चौपाई लिखो —  
उदाहरण लें—

मसक समान रूप कपि धरी । लंका चले सुमिरि नर हरी ।  
अथवा

मुष्टिक ताहि एक कपि हनी । रुधिर बमत धरणी ढनमनी ।

‘मृगावती’ में कोई कोई अर्द्धाली तो १६ मात्रा तक पहुँची है । देखिए—  
तस आनै धरा नहि मानै काऊ । अंगहसि सबै जिनि जाऊ ।

प्रथम चरण में १६ मात्राएँ हैं और उसी की पूर्ति में आनेवाले चरण में केवल १४ मात्राएँ हैं । ऐसे स्थल संपादक और पाठक दोनों की चिंता के विषय हैं । कवि ने चौपाई रचना में इतनी बड़ी असावधानी बरती होगी इसमें संदेह है । संपादक की अनुमान प्रतिभा का उपयोग क्या यहाँ हो सकता था—इसे संपादक स्वयं समझे । यद्यपि कहीं कहीं संपादक ने अपनी ओर से कुछ पाठांश जोड़े हैं परंतु वे पर्याप्त नहीं हैं । अपने इस अधिकार का विहित उपयोग अभी वह और कर सकता था ।

इसी प्रकार दोहों की समस्या है । कुतुबन ने ‘मृगावती’ में प्रायः दो प्रकार के दोहे लिखे हैं । एक प्रकार के वे दोहे हैं जिनमें १३ और ११ मात्राओं पर यति रखकर नियमितता की रक्षा की गई है । दूसरी प्रकार के वे दोहे हैं जिनमें १६ और ११ पर यति है । यथा—

विवि कर बंदौ जोरि कै, हौं माँगौ विधि तोहिं ।

जेहि कारन यह दुख सहौं, सो मेरवहु अब मोहिं ॥

( गड़रिया खंड, पृ० ११४ )

इस दोहे में १३ और ११ पर यति है तथा छंद की दृष्टि से ऐसे शुद्ध दोहे मृगावती में गिनती के ही मिलेंगे । क्योंकि जिन दोहों में १३ और ११ मात्राओं पर कवि ने यति रखनी भी चाही है उनके किसी न किसी चरण में मात्राधिक्य या मात्रालोप हो गया है । दूसरी प्रकार के दोहों का उदाहरण—

यह अनंद जिउ मोरे वारे, मुयउँ पेम उहि लागि ।

जो पै काल घटन हुत मोरी, नाहि उबरतेउँ भागि ॥

( जंगम खंड, पृ० ६५ )

इस दोहे के प्रथम चरण में १६ तथा द्वितीय चरण में ११ मात्राएँ हैं । किंतु ऐसे भी दोहे कुतुबन ने लिखे जिनके प्रथम चरण में १६ मात्रा और द्वितीय में १२ मात्राएँ हैं । जैसे—

पूछिसि कौ कवन देस सो आयेहु, को गोरख को चेला ।  
पुरुखनाथ गुरु आइ हमारे, गोरखपु( सो खेला ॥

( बियाह, पृ० १०५ )

ऐसे दोहे अधिक नहीं हैं । इस प्रकार के दोहे कबीर, नानक, दादू, रज्जव, सुंदरदास प्रायः सभी ने लिखे हैं । दोहे का यह प्रकार निगुं संत कवियों में अधिक प्रचलित है । कतिपय दोहे ऐसे भी हैं जिनमें डा० मिश्र अपनी अनुमान प्रतिभा का उपयोग कर किसी बिना आपत्तिजनक परिवर्तन के उसे शुद्धता के और भी निकट ला सकते थे । जैसे—

मान बिहूने हेतु विन, रूपहिं जे रचंति ।

मूरख दिया पतंग जेव फिर फिर ते दगधंति ॥

( पंखी खंड, पृ० १२५ )

इसके 'रचंति' शब्द को यदि 'विरचंति' तथा 'जेव' को 'ज्यों' कर दिया गया होता तो दोहे की यतिगति निर्विघ्न हो गई होती ।

कतिपय दोहों की तुकबद्धता अत्यंत भ्रष्ट हो गई है और हम नहीं मानते कि वहाँ कवि का अपराध है । हस्तलिखित प्रतियों के लेखक ही उसके लिये उत्तरदायी हैं । उदाहरण—

अमिय पयोधर दल मलै, अधर घूँट रम लेय ।

नौ ससि बदनो अबला, अस धन भोग कराय ॥

( देव खंड, पृ० १५८ )

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'लेय' को या तो 'लाय' किया जाय या दूसरी पंक्ति के 'कराय' को 'करेय' किया जाय । अन्यथा सानुप्रास पादपूर्ति में बाधा पड़ती है, और हमारे विचार से कराय को 'करेय' कर देने से कोई व्यवधान नहीं पड़ता । रहीम ने 'करेइ' शब्द का प्रयोग तुकांत के लिये किया भी है—

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रकट करेइ ।

इसी प्रकार—

विरह तुम्हारे सुखहरा, जिमि रावन हर सीय ।

निसि हरी हनुपति आइकै, जस रघुनंदन कीय ।

( फुनि राज दोन, पृ० १६७ )

यहाँपर हनुपति के 'प' को 'म' कर देने में कोई अड़चन नहीं थी । यों भी 'प' और 'म' का भ्रम प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में हो जाता है । दोनों वर्णों की आकृतियाँ समान हैं तथा दोनों एक ही वर्ग के हैं । हनुपति

को हनुमति करने में संपादक के किसी गंभीर सिद्धांत को न तो बाधा पहुँचती है और न मूल पाठ को कोई आघात ही ।

पुस्तक के प्रारंभ यानी भूमिका भाग तथा अंत में दिए गए कतिपय विशिष्ट शब्दों के अर्थ देकर संपादक ने जहाँ पाठकों की अर्थज्ञान संबंधी कठिनाई को दूर करने का यत्न किया है वहीं पर मृगावती संबंधी प्रकाशित विभिन्न लेखादि की सूचनाएँ भी दी हैं । लेखक ने उन शब्दों का भी अंत में एक ही स्थान पर उल्लेख कर दिया है जिनका अर्थ नहीं लगता । इससे संपादक की साहित्यिक ईमानदारी का परिचय मिलता है । पुस्तक का समग्र रूप देखकर हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि डा० मिश्र ने मनोयोग-पूर्वक मृगावती का संपादन किया है । जहाँ जहाँ से सामग्री उपलब्ध हो सकती थी उस सब का पता लगाया—स्वयं उन स्थानों की अध्ययन यात्राएँ कीं और अपेक्षित सामग्री की गवेषणा की । ‘प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर’ के हस्तलिखित संग्रहालय के ग्रंथों तथा ‘लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर’ के संरक्षण के हस्तलिखित ग्रंथों तथा छतरपुर के संग्रहालय के ग्रंथों को संपादक ने अवश्य देखा होगा—वहाँ कोई महत्वपूर्ण सामग्री मिली या नहीं, इसका भी उल्लेख होता तो अच्छा था । डा० मिश्र ने जिन श्रीश्रीमप्रकाश सिंह रावत का अपनी भूमिका और समर्पण में स्मरण किया है उनसे मैं दिसम्बर १९६५ में उन्हीं के ग्राम एकडला में मिला था जहाँसे मृगावती की एक प्रति डा० मिश्र को उपलब्ध हुई थी । मैं श्रीरावत की साहित्यिक निष्ठा से अत्यंत प्रभावित हुआ था । अंत में ‘मृगावती’ के संबंध में अपना वक्तव्य समाप्त करते करते सामान्य पाठकों की याचना डा० मिश्र तक पहुँचाना चाहूँगा कि पुस्तक के रिक्त स्थलों की पूर्ति के लिये इस दिशा में वे अपना ध्यान जमाए रहें । यह मेरा विश्वास है कि पुस्तक के अगले संस्करण तक मृगावती का मूल पाठ अविकल रूप में प्रस्तुत हो जायगा । फतेहपुर जनपद का साहित्यिक वैदग्ध्य बहुत पुराना है । एकडला, रसवा, असोथर, असनी आदि स्थानों का इस दिशा में मूल्यवान योग रहा है । डा० शिवगोपाल मिश्र की इस संपादन प्रतिभा का दर्शन हिंदी प्रेमियों को मंझन की मधुमालती से ही हो गया था । डा० मिश्र की साहित्यिक मानस सीपी अभी और कृतियों के प्राबदार मोती देगी, उसमें भावों के और सरसिज फूलेंगे, विचारों का अभी और मकरंद निर्भरित होगा, ज्ञानकर्णों का अभी और भी पराग विकीर्ण होगा, यह हमारा विश्वास है ।

# लहरों के राजहंस'

डॉ० सिद्धनाथ कुमार

‘लहरों के राजहंस’ मोहन राकेश का दूसरा नाटक है। पहला नाटक था ‘आषाढ़ का एक दिन’। पहले नाटक को हिंदी नाट्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में जो स्वीकृति मिली है, उसे देखते हुए दूसरे नाटक से हमारी अपेक्षाएँ सहज ही बढ़ जाती हैं।

पुस्तक के अपने प्रारंभिक वक्तव्य में लेखक ने ‘आषाढ़ का एक दिन’ पर हुए कुछ आक्षेपों का उत्तर देते हुए ऐतिहासिकता की चर्चा की है। ऐतिहासिकता का प्रश्न इन दोनों नाटकों से संबंध रखता है। यह सही है कि साहित्य मात्र इतिहास नहीं होता। ऐतिहासिक तथ्यों के अन्यास का अधिकार साहित्यकार को नहीं दिया जा सकता, पर तथाकथित ऐतिहासिकता की अक्षरशः आवृत्ति का आग्रह भी उससे नहीं किया जा सकता। और, ऐतिहासिकता जहाँ स्वयं संदिग्ध हो, वहाँ तो साहित्यकार को और भी स्वच्छंदता मिल जाती है। ‘लहरों के राजहंस’ में इस स्वच्छंदता का उपयोग किया गया है। इसका आधार अश्वघोष का ‘सौंदर्य’ काव्य है। मोहन राकेश ने उस काव्य से कथासंकेत लेकर नाट्य रूप में उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।

आधुनिकता का प्रश्न भी दोनों नाटकों से जोड़ा गया है। नाटककार ने लिखा है—‘नाटक का मूल अंतर्द्वंद्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में आषाढ़ का एक दिन के अंतर्गत है।’ प्रारंभ की प्रकाशकीय टिप्पणी में कहा गया है : ‘नाटककार मोहन राकेश ने नंद और सुंदरी के चरित्रों को लेकर एक ऐसे अंतर्द्वंद्व का चित्रण इस नाटक में किया है जिसका संबंध उस युग से ही नहीं, आज के युग से भी है। ऐतिहासिक परिवेश के रहते हुए भी यह नाटक इस अर्थ में सर्वथा आधुनिक है।’ आधुनिकता का आग्रह संभवतः इस तथ्य को संकेतित करने के लिये किया गया है कि आधुनिक होने से कोई रचना मूल्यवान हो जाती है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि

प्राधुनिकता का स्वयं अपने में कोई महत्व नहीं है—केवल प्राधुनिक होने से ही कोई रचना महान् नहीं हो जाती। प्रश्न यह है कि किसी रचना से प्राधुनिक संवेदना प्राणवत रूप में सहज भाव से उद्भूत हुई है या नहीं। वह संवेदना प्राधुनिक पाठकों और दर्शकों तक सहज ही संप्रेषित होती है या नहीं? प्रत्यक्ष प्रेषणीयता के सबसे सशक्त माध्यम नाटक के संदर्भ में तो ये प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन प्रश्नों को देखते हुए 'लहरों के राजहंस' पर विचार होना चाहिए।

प्रस्तुत नाटक सिद्धार्थ के सौतेले भाई राजकुमार नंद और उसकी पत्नी सुंदरी के संबंध को आधार बनाकर लिखा गया है। नंद ही नाटक का केंद्र है। उसके संबंध में अश्वघोष के 'सौंदर्यनंद' महाकाव्य में कहा गया है कि बुद्ध का गौरव उसे अपनी ओर खींच रहा था, और सुंदरी का अनुराग अपनी ओर—इस दुविधा में उससे न जाते बन रहा था, न रुकते; उसकी स्थिति लहरों पर डोलते हुए राजहंस की सा हो रही थी। मोहन राकेश ने नंद की इसी मनःस्थिति को उभार कर चित्रित करने का प्रयत्न किया है। एक ओर राजकुमार नंद के सामने है सुंदरी का अनुपम सौंदर्य और नंद के प्रति अतिशय अनुराग, दूसरी ओर है अपने बड़े भाई के प्रति आदर। नाटक के विश्लेषण में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि जैसा इसमें चित्रित है, नंद के मन में अपने बड़े भाई के प्रति संमान है, गौतम बुद्ध के प्रति नहीं—वह बुद्ध में विश्वास नहीं करता, उनके आदर्शों को नहीं मानता, उनके दर्शन को कोरा सिद्धांत समझता है, 'केवल बड़े भाई के संमान के कारण' अपने केश कटते समय आपत्ति नहीं करता। नाटक का कथानक इतना ही है कि अपने सौंदर्य की अभिमानीनी एवं कामनाओं में आसक्त सुंदरी में अनुरक्त नंद के द्वार पर गौतम बुद्ध भिक्षा के लिये आते हैं, पर उत्तर न पाकर लौट जाते हैं। नंद सुंदरी से अनुमति माँगकर उनके पास क्षमायाचना के लिये जाता है, और वहाँ उसके नहीं चाहने पर भी तथागत के आदेश से उसके केश काट दिए जाते हैं। वह विक्षुब्ध होकर जंगल की ओर जाता है, बाध से लड़ता है, फिर घर वापस आता है। नंद के निश्चित समय से वापस न होने के कारण सुंदरी का अपने सौंदर्य एवं प्रेम का दर्प पहले ही चूरा हो चुका रहता है—अब वह नंद को मुंडित मस्तक देखकर टूट ही जाती है, वह नंद की विवशताजन्य स्थिति नहीं समझ पाती। नंद सोचता हुआ चला जाता है कि क्या केश कट जाने से ही वह दूसरा कुछ हो गया है। इस मुख्य कथा के साथ श्यामांग और अलका का प्रसंग है—

श्यामांग उन्मादग्रस्त सा एक प्रकाशकिरण के लिये तन्मयता रहता है; उसका प्रलाप दूसरे और तीसरे अंक में नेपथ्य से सुनाई पड़ता रहता है ।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि नंद का अंतर्द्वंद्व आसक्ति और अनासक्ति का द्वंद्व नहीं है, क्योंकि नंद किसी अनासक्ति के कारण गीतम बुद्ध की ओर आकृष्ट नहीं है । सुंदरी ने पले अंक में एक स्थान पर कहा है—‘नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गीतम बुद्ध बना देता है’, लेकिन यह सत्य नंद के चरित्र से टकरा कर टूट जाता है, क्योंकि नारी के अपकर्षण के कारण नंद बुद्ध की ओर नहीं जाता । संभवतः यह बात सिद्धार्थ के लिये भी सत्य नहीं थी, लेकिन यह सुंदरी का दृष्टिकोण है, और उससे मतभेद प्रकट करने की आवश्यकता नहीं । नंद की स्थिति यह है कि वह दो आकर्षणों के बीच अपने आपसे ही टकराता है, और केश कट जाने के बाद सुंदरी द्वारा अस्वीकृत होने पर अनुभव करता है कि ‘वह बहुत अकेला कर दिया गया है—घर से....और अपने आपसे भी अकेला’, कि ‘अस्तित्व और अनास्तित्व के बीच’ उसकी ‘चेतना को एक प्रश्न चिह्न....केवल एक प्रश्न चिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है ।’ यह निश्चित रूप से आज के टूटते हुए मनुष्य की भी संवेदना है । ‘लहरों के राजहंस’ के नाटककार ने नाटकीय स्थितियों को इस परिणति तक सहज रूप से पहुँचाया है, लेकिन जहाँ कहीं नंद आधुनिक शब्दावली में बोलने लगता है—‘लगता है, मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं और अपने को ढकने के लिये उसके पास कोई आवरण नहीं है’, वहाँ लगता है, आधुनिकता आरोपित भी है—ऐसी उक्तियों का नंद के चित्रित चरित्र से पूरा मेल नहीं बैठता । परिणति के रूप में नाटक का आधुनिक अर्थ ठीक तो है, पर आधुनिक पाठक को वह छू सकेगा, इसमें संदेह है । आज का मनुष्य नंद के चरित्र से संभवतः अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाएगा, क्योंकि आज की स्थितियाँ भिन्न हैं, नंद की स्थितियाँ भिन्न थीं । आज की विषम संक्रांतियों में टूटते हुए व्यक्तित्व की तीव्र संवेदनाएँ नंद के माध्यम से व्यक्त नहीं हो पातीं । यहीं एक सैद्धांतिक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आज का दाहक सत्य अपने पूर्ण आवेग के साथ बीते हुए कल की स्थितियों द्वारा प्रकट हो सकता है । मुझे लगता है, आज के अर्थ को आज का ही शब्द चाहिए ।

‘लहरों के राजहंस’ अनाटक या विसंगत नाटक नहीं है, और इसका मूल्यांकन नाटक की पूर्वमान्य धारणाओं के आधार पर ही होगा । स्थापत्य

की दृष्टि से यह उतना संशक्त नहीं लगता जितना 'आषाढ़' का एक दिन था। नाटक की कथावस्तु प्रतिसंक्षिप्त है, पर नाटक तीन अंकों में है। लगता है, सीमित सामग्री को सायास विस्तार देने का प्रयत्न किया गया है। इसलिये श्यामांग प्रसंग की अवतारणा करनी पड़ी है। एक गीण पात्र को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। प्रारंभ में कुछ देर के लिये तो मालूम होता है, जैसे श्यामांग ही नाटककार का मुख्य आकर्षणविंदु है। दूसरे अंक में नेपथ्य से सुनाई पड़नेवाले उसके प्रलाप से नाटकीय स्थापत्य को शक्ति मिली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नंद और सुंदरी के स्निग्ध संबंधों के बीच क्रमशः बढ़ते हुए तनाव को नाटककार ने कुशलता से अंकित किया है, पर नाटक का अंत शिथिल जैसा लगता है। नंद के घर छोड़ते समय नंद सुंदरी के तनाव के चरम विंदु पर ही नाटक की समाप्ति होती तो संभवतः अंत अधिक प्रभावशाली होता।

'लहरों' के राजहंस की विशेषता इसकी प्रतीक योजना में है। लेखक ने प्रारंभ से अंत तक अनेक प्रतीकों का व्यवहार किया है। इनके संबंध में कुछ बातें ध्यातव्य हैं। नाटक में प्रयुक्त सबसे मुख्य प्रतीक वही है जिसके आधार पर नाटक का नामकरण हुआ है। यह प्रतीक अश्वघोष के 'सौंदर-नंद' से ग्रहण किया गया है। नाटक में संकेतित है कि कमलताल में बहुत दिनों से रहनेवाले राजहंस श्यामांग के पत्थर से आहत होते हैं, और फिर सहसा एक दिन उड़ जाते हैं। तीसरे अंक में नंद के चले जाने के बाद सुंदरी कहती है—'वहाँ वह सूना कमलताल.....यहाँ कक्ष का यह सूनापन.....लगता है आज घर अपना घर नहीं रहा।' प्रतीक स्पष्ट है, नाटकीय स्थिति के अनुरूप भी, भावाभिव्यंजक भी, लेकिन नाटक से इनका संबंध केवल इतना ही है कि राजभवन के निकट के कमलताल में ये रहते हैं और सुंदरी को प्रिय हैं। मुख्य पात्रों के जीवन से इसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। नाटककार ने चाहा है कि किसी के पत्थर से आहत होकर वे राजहंस उड़ जाएँ, और वे उड़ गए हैं। मुझे लगता है कि जो लहरों के राजहंस 'सौंदरनंद' काव्य में उपमा के रूप में सहज और सुंदर थे, वे प्रस्तुत नाटक में आकर आरोपित प्रतीक बन गए हैं.....नाट्य स्थितियों और नाटकीय पात्रों के जीवन से ये स्वाभाविक रूप से उद्भूत नहीं हैं। इसके विपरीत दर्पण का प्रतीक बड़ा सार्थक और प्रभावशाली लगता है, केवल सूच्य न रहकर वह दृश्य तो है ही। अनुराग के क्षणों में कभी सुंदरी ने कहा था कि नंद उसका दर्पण है, और बाद में नंद के असंतुलित हाथों से

गिरकर दर्पण क्या टूटता है, नंद ही टूट जाता है। मृग, कबूतर, सूखा सरोवर, पत्रहीन वृक्ष और धूलभरा आकाश—ये सभी काफी भावाभिव्यंजक प्रतीक हैं, पर हैं सूच्य ही। मात्र कथ्य होने के कारण ही संभवतः ये अपेक्षित प्रभावसृष्टि नहीं कर पाते।

नाटक में सबसे प्रभावशाली चरित्र सुंदरी का ही चित्रित हुआ है। उसके सौंदर्य और प्रेम का दर्प, और फिर दर्प का चूर्ण होना, सब कुछ स्वाभाविक रूप में अंकित हुआ है। उसकी विभिन्न मनःस्थितियों का अंकन कुशलता से हुआ है। पर, सुंदरी तो केवल माध्यम है नंद के अंतर्द्वंद्व को चित्रित करने का। नंद के मन का द्वंद्व चित्रित तो हुआ है, पर उसमें वह प्रभाव आ नहीं पाया है, जो आना चाहिए था। नाटक में अंतर्द्वंद्व दृश्य बनकर आता है, तो वह 'प्रभावोत्पादक' बनता है और नाट्य विधा की विशिष्टता एवं सार्थकता सिद्ध करता है, पर नंद के जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों के द्वंद्व केवल कथ्य और सूच्य बन कर रह गए हैं। नंद गीतम बुद्ध प्रसंग को सुन कर अलका कहती है—'कैसा अंतर्द्वंद्व रहा होगा कुमार के लिये।' नाटक के अंतिम अंश में नंद की विक्षुब्ध मनःस्थिति चित्रित हुई है, पर मात्र स्वगत पर विश्वास न कर नंद सुंदरी संबंधों के माध्यम से उसे कुछ और प्रभावशाली बनाया जा सकता था। यहाँ तो जैसे ही रागात्मक उद्वेलन की तीव्रता का चरमोत्कर्ष आता है, नंद चला जाता है, और सुंदरी नाटकीय प्रभाव को क्षीण करनेवाली बातों के लिये अलका और श्वेतांग के साथ रुकी रह जाती है। जैसा मैंने पहले कहा, नाटक में एक गीण पात्र को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है, और नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से उसका चरित्र विचारणीय भी है। श्यामांग से अलका प्रेम करती है, पर अलका के प्रति श्यामांग के मन में कैसी भावनाएँ हैं, इसका संकेत कहीं नहीं है। वह एक प्रतिशय भावुक व्यक्ति के रूप में आता है, और फिर उन्मादग्रस्त होकर प्रलाप करने लगता है। उसकी मानसिक स्थिति वैसी क्यों है? क्यों वह उन्मादग्रस्त है? क्यों वह कमलताल में पत्थर फेंकता है? इन प्रश्नों का कोई कारण नाटक में उपलब्ध नहीं होता। संभवतः नाटककार ने चाहा है, और वह वैसा हो गया है। यदि श्यामांग कोई प्रतीक है, तब भी उसे पहले व्यक्ति के घरातल पर विश्वसनीय तो होना ही चाहिए।

नाटककार ने भूमिका में लिखा है—'रंगमंच पर नाटक कैसा उतरेगा,

यह अभी कैसे कहा जा सकता है ?' प्रस्तुतकर्ता ही इसके संबंध में कहें, वही अच्छा हो। मोहन राकेश अपनी नाट्यप्रतिभा का परिचय 'भाषाढ़ का एक दिन' में दे चुके हैं। उसकी भाँकी 'लहरों के राजहंस' में भी मिलती है। 'लहरों के राजहंस' एक महत्वपूर्ण रचना है, इसमें संदेह नहीं, पर यह और भी प्रभावशाली नाटक बन सकता था, ऐसा लगता है।

---

# चार चंद्रलेख'

## श्रीमहेंद्र चतुर्वेदी

‘चार चंद्रलेख’ ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ के बाद उसी की सफल शैली की अनुकृति पर लिखित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दूसरी कथाकृति है। ओसत पाठक का—और आलोचक का भी—सामान्यतः यह मनोविज्ञान होता है कि वह प्रत्येक कृति का मूल्यांकन किसी न किसी अन्य कृति अथवा कृतिसमुच्चय के संदर्भ और सापेक्षता में करता है : उसके मन में उसी कृतिकार की पूर्व कृतियों का अथवा अन्य समकक्ष समसामयिक लेखकों की समानधर्मा कृतियों का संवेदनाबोध जागृत हुए बिना नहीं रहता और जाने अनजाने सहज ही तुलनात्मक रेखाएँ उसके मानस पर अंकित हो जाती हैं। यह समतोलन प्रक्रिया उसके मन में यथावसर आशा नैराश्य जगाती है। कुछ इसी तरह का संकेत इलियट के इन शब्दों में निहित है :

‘जब किसी नई कलाकृति का सृजन होता है तब जो कुछ होता है वह सभी पूर्ववर्ती कलाकृतियों के प्रति एक साथ होता है। इन पहले की कृतियों में परस्पर एक आदर्श अनुक्रम होता है। नई (वास्तव में नई) कलाकृति के समावेश से उस अनुक्रम में संशोधन होता है।...’ उस नई कृति के आ जाने से संपूर्ण वर्तमान अनुक्रम को बदलना पड़ता है।’

(पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, पृ० २८६)

‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ द्विवेदीजी की इसी प्रकार की सशक्त कृति थी जिसने हिंदी की समस्त समानवर्गीया कथाकृतियों के मूल्यानुक्रम के पुनर्भ्यवस्थापन की प्रेरणा दी थी। प्रश्न है—क्या ‘चार चंद्रलेख’ भी उसी कोटि की कथाकृति है जिसके प्रकाशन के फलस्वरूप पूर्ववर्ती कृतियों के मूल्यानुक्रम की पुनर्भ्यवस्था आवश्यक हो ?

स्वयं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ‘आत्मकथा’ और ‘चार चंद्रलेख’ के वैशिष्ट्य भेद का निर्देश करते हुए एक स्थान पर कहा है :

‘चार चंद्रलेख’ भारतीय इतिहास के उस ग्रंथकार युग ( १२वीं १३वीं शती ) के पुनर्निर्माण का प्रयत्न है जब व्यष्टि और समष्टि मन भनेक प्रकार की रुग्ण रूढ़ियों एवं विषाक्त परंपराओं में शृंखलाबद्ध होकर और मंत तंत्र साधनाओं में केंद्रित होकर व्यथंता और बंध्यात्व की तूफानी तरंगों में ऊभचूभ हो रहा था । कहानी की पृष्ठभूमि में जिस युग का प्रसार है उसमें देश की आत्मा निर्मम विदेशी आक्रांता के दुर्धर्म आक्रमण से कुंठित होकर उसका वीरोचित प्रतिकार करने के बजाय भूतप्रेत सिद्धियों, मंत्र तंत्राभिचारों, उच्चाटन शिवानुष्ठानों में रम रही थी और उसी क्लैव्य में अपना श्रेय मान बैठी थी । अनेक प्रकार की अंतरंग बहिरंग द्विविधाओं से प्रताड़ित और मनसा विभक्त महाराज सातवाहन मानो राष्ट्र की साकार प्रतिमा हैं जिसमें पराक्रम और तेज तो प्रभूत मात्रा में विद्यमान है किंतु जो विपन्न होने पर क्षण भर के लिये जागता है और फिर विलीन हो जाता है, जिसकी वृत्तियाँ पूर्णतः समन्वित न होने के कारण किसी महत् लक्ष्य की सिद्धि नहीं कर पातीं, जो ‘चिड़िया और पिजरा’ दोनों का दासत्व स्वीकार कर लेता है । अमोघवज्र की व्याख्या के अनुसार इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के इंगित पर चलते रहने के कारण जीव माया के पाश में बँध जाता है, उसकी ‘स्व’-तंत्रता जाती रहती है । ऐसे ही जीव को पाशुपात लोग ‘पशु’ कहते हैं । महाराज सातवाहन में वस्तुतः यही ‘पशुता’ प्रतिफलित हुई है । परंतु यह ‘पशुता’ उनके वैयक्तिक घरातल को प्रतिबिंबित नहीं करती, उसमें तो व्यापक समष्टि का वह घरातल बिंबित हुआ है जो युग का लक्षण था । समष्टि धर्म बनकर यह पशुता अत्यंत दारुण हो जाती है । ‘व्यक्ति की पशुता से कहीं अधिक भयंकर होती है समाज की पशुता । भारतवर्ष का वर्तमान समाज इसी पशुता का शिकार है, वह सामाजिक स्वाधीन चिंतन खो चुका है ।’<sup>१</sup> यह समाज नई व्यवस्था के विकास में विश्वास नहीं करता, कोटिवेधी रस के संधान द्वारा करोड़ों मानवों को रोग शोक एवं मोह से मुक्ति दिलाने के वृथा प्रयत्नों में अपनी शक्ति का क्षय करता है । ऐतिहासिक परिपार्श्व की विशदता विराट्ता वस्तुतः ‘चार चंद्रलेख’ की बहुत बड़ी शक्ति है ।

किंतु एक कुशल तंतुवाय की भाँति पृष्ठभूमि में इतिहास के जिन तंतुओं का प्रसार कथाकार ने किया है, वे अत्यंत क्षीण हैं । उपन्यास में ऐतिहासिक

पात्र भववा इतिहाससंमत घटनाएँ अनेक नहीं है। ऐतिहासिकता का तत्त्व यदि विद्यमान है तो केवल वातावरण में। यदि कुछ पात्रात्म्य समालोचकों (यथा—एफ० ग्रार० लीविस) का अनुसरण करें तो 'चार चंद्रलेख' को उपन्यास की श्रेणी से बहिष्कृत करके 'रमन्यासों' में परिगणित करना होगा। लेखक की रम्याद्भुत कल्पना ने ऐतिहासिकता के क्षीण तंतुओं पर कल्पना का ऐसा तिखंडा महल खड़ा कर दिया है कि उसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् एकाकार और एकात्म हो गए हैं। वस्तुतः नींव तो अदृश्य हो गई है और उसपर रम्य एवं अद्भुत तत्वों के चूने गारे से जो भवन निर्मित हुआ है वह अपनी असंभाव्यता में पाठक को आश्चर्यजित और विस्मयस्तब्ध कर देता है। मेरा तो मत यह है कि यदि अभिव्यक्ति के माध्यम को बाधा न स्वीकारा जाय तो 'चार चंद्रलेख' को रासो ग्रंथों की परंपरा में 'प्रतिष्ठित' किया जा सकता है। उनकी कथाओं का घटनाकाल समान है, वर्ण्यविषय समान हैं और रचना एवं भाषाशैली की समानता भी अतर्वर्त्य है।<sup>२</sup>

लेखक ने अपने व्यापक ऐतिहासिक अध्ययन और विविध साधना मार्गों के प्रगाढ़ सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक ज्ञान का भरपूर उपयोग किया है। उपन्यास की अनेकविध रसरंजित घटनाओं और पात्रों में अद्भुतता एवं वैचित्र्य का ऐसा विकट संमोहन है कि अनवहित पाठक का मन स्वयं तरंगयित हो उठता है। विद्याधर भट्ट और बोधा प्रधान का कूटनीतिक कौशल और राजनीतिक दायपेच की गहरी पैठ, धीर शर्मा का वाचाल पांडित्य, अलहना बघेला की ग्रामीण सहजता और दुर्दांत पराक्रम, रानी का जनपद पार्वती रूप और उसकी परवर्ती विकृति, नाटो माता का अपूर्व प्रभावशाली मनोहर रूप और उसका उत्तरोत्तर आकर्षक रूपांतरण और सबसे बढ़कर मैनसिंह—मैना—की अपूर्व वीर्यलावण्यसमन्वित मनोहारिणी प्रतिमा (जो अपनी जीवंतता में अनायास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की

१. 'रोमन्स—कोई भी आख्यानात्मक गाथा जिसकी विषयवस्तु प्रेम एवं वीरता हो और जिसमें यथार्थ के यथावत् चित्रण के स्थान पर अद्भुत एवं विस्मयजनक व्यापारों का समावेश हो।'

(मानविकी कोश—साहित्य खंड, पृ० २२७)

२. 'कालानुक्रम दोषों' की विद्यमानता भी दोनों का वैशिष्ट्य है।

[यद्यपि ग्योमकेश शास्त्री ने उसके लिये सफाई दी है: कुछ बातें उनके (अधोरेनाथ के) समाधिस्थ चित्त में भी प्रतिफलित हुई थीं।]

निजनिया का स्मरण करा देती है ) यदि अपनी संभाव्य-प्रसाधारणता के कारण पाठक के मन को मथ डालते हैं तो सीदी मोला की फक्कड़ाना मस्ती असौम्यभैरव के भैरव विग्रह में प्रच्छन्न सुकोमल पितृ हृदय तथा हासमान भारतीय राजव्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों का निभ्रांत आख्यान, भगवत्ता विष्णुप्रिया का साधनानिर्भल स्वरूप, नागनाथ का कोटिवेधी रस संधान और सिद्ध प्रमोघवज्र के वीणावादन की ध्यान पर वैतालगुह्यकों और योगिनियों, डाकिनियों का उद्दाम एवं लासक नृत्य तथा आनंदभैरव का अवतरण .....इन सब का आकर्षण अपनी असंभाव्य अद्भुतता के कारण है । किंतु लेखक की सफलता इस बात में है कि उसने आकाशगमन जैसी प्रघट घटनाओं को भी अपनी प्रवहमान शैली के जादू के द्वारा विश्वसनीयता की छाया से मंडित कर दिया है । वस्तुतः उसकी वर्णनशैली की प्रबल धारा में पाठक के पाँव उखड़ जाते हैं और वह अनायास उसी की दिशा में बह उठता है । यह तो पाठक बाद में ही अनुभव करता है कि प्रघटनीय असंभाव्य का विश्वास करके वह पांडित्यप्रसूत शब्दछलना का शिकार हुआ है ।

सूत्रधार होने के नाते नायक महाराज सातवाहन में स्थैतिकता के दर्शन होते हैं । वे मानों दर्पण हैं जिसमें उपन्यास का प्रत्येक छोटा बड़ा पात्र अपने वैशिष्ट्य का विब छोड़ जाता है । उनकी अंतरंग शक्तियाँ विविध विग्रह धर कर स्थूल जगत् में विद्यमान हैं : 'रानी और मैना । मेरी चेतना के दो पार्श्व हैं । रानी मेरी इच्छा का प्रतीक हैं, जैसे एक निरंतर प्रवहमान अप्रतिहत गति मात्र हों । गलत दिशा में गईं तो गलती की ही ओर दुर्बार वेग से बढ़ती गईं, कुंठित हुईं तो दुर्बार वेग से ही कुंठोन्मुखी बनी रहीं । .....प्रेमालिप्त हुईं तो इतनी निमग्न हुईं कि कहीं अपनी सत्ता का ध्यान ही नहीं । ..... रानी चेतना का गतिशील पार्श्व हैं ..... इच्छा मात्र' । 'और मैना ? .....मैना मेरी चेतना के उस पार्श्व का प्रतिनिधित्व करती है जो केवल क्रिया मात्र है । इच्छा बार बार उससे टकराती है, झुकती है, मुड़ती है, प्रतिहत होती है, रूपायित होती है । .....इच्छा और क्रिया के अनवरत आघात प्रत्याघात से जो तरंगमाला विकिरित हो रही है, वही मेरा इतिहास है, मेरा जीवन है, मेरा संसार है' । और देखा जाए तो इस इतिहास की परिणति और कुछ नहीं .....सघन संघकार है । समूचे उपन्यास में जिस क्षण से मैना का प्रवेश हुआ है और जिस किसी दृश्य में वह अवतरित होती है, सभी उपस्थित पात्रों तथा समग्र

वातावरण को अभिभूत किए रहती है। वृथास्व और बंध्यास्व के अनगिनत साधकों और उपासकों के बीच कर्मशक्ति की यह अभिराम प्रतीक अपने चारों ओर एक आभामंडल लिए विचरती है—कर्मठता की इस अजेय शिक्षा से टकरा कर सीदी मौला जैसे फक्कड़ 'वीतराग' का सिद्धिगर्व भी खंडखंड हो जाता है। कर्मशक्ति का दूसरा प्रतिनिधि उपन्यास में झलहना बघेला है। उपन्यास का सारा यथार्थनिष्ठ आकर्षण इन्हीं दोनों की गतिविधियों तथा इनके प्रेरक बोधा प्रधान के बुद्धि व्यापारों में निहित है। मैना तो निस्संदेह उपन्यास के सारे प्रकाशपुंज को अपने में केंद्रित किए रहती है और जहाँ उसका अवसान होता है, उपन्यास का भी अवसान हो जाता है। फिर बस अनंत ग्रंथकार का प्रसार शेष रह जाता है। कथा की यह परिणति वस्तुतः युगीन इतिहास के यथार्थ का निर्देश है। लेखक ने इस संकेत को कथा का अविच्छेद्य अंग बनाकर अपने रचनाकौशल का प्रमाण दिया है।

सारी कथा का आख्यान राजा सातवाहन की चेतना एवं प्रतिक्रियाओं के माध्यम से होता है। एक ही पात्र द्वारा नायक और सूत्रधार की भूमिकाओं का युगपत् निर्वाह उपन्यास की शक्ति भी है और सीमा भी। उनका नायक मानो सूत्रधार को अपदस्थ करने की चेष्टा में रहता है और सूत्रधार नायक को। घटनाओं व्यापारों का सारा प्रसार उन्हीं की चेतना-सरणियों में सीमित हो गया है। वे उन्हीं सरणियों में ढलकर रूपायित होते हैं। दूसरी ओर, कथा सूत्रों के वैविध्यपूर्ण विस्तार में यदि कोई समा-हरण बिंदु है तो वह सातवाहन का व्यक्तित्व है, जो कुछ एकान्विति है वह उसी के सहारे से है। आत्मकथात्मकता के इस तत्व के कारण ही वर्णनों में प्रामाणिकता और सघनता आई है परंतु इसी कारण से हम नायक में चित्तन अधिक, सक्रियता कम पाते हैं : 'बड़ी सिद्धि के लिये बड़ा त्याग चाहिए'... या है जिसे देकर मैं अपने देश के खोए गौरव को प्राप्त कर सकता हूँ ? विक्रमादित्य के समान अपार सत्य और साहस मुझे मिल जाता तो मैं देश को अपनी राष्ट्रीय महिमा तक ले जाने में समर्थ होता। पर क्या वह मिलेगा ? कैसे मिलेगा ? कहाँ मिलेगा ?' यहाँ तक कि उपन्यासकार इस पात्र के माध्यम से जिस लोकतांत्रिक चेतना के अम्युदय का संकेत देना चाहता है वह भी अधिकांश में विचारित अथवा वर्णित ही रह गई है, निरूपित नहीं हो सकी। आत्मकथात्मक शैली को, विषयवस्तु और समाख्याता भेद

के कारण, निश्चय ही 'चार चंद्रलेख' में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मिली थी ।

सीधे कहें तो 'चार चंद्रलेख' में लेखक के पांडित्य ने उसके अनुभव को आच्छन्न कर लिया है । इसलिये उसमें विस्मयाभिभूत करने की शक्ति अधिक है, मर्मस्पर्शिता कम है । उसके वर्तमान प्रश्न के प्रयत्नों से उनकी अतीतनिष्ठता में दरारें पड़ गई हैं और अतीत के जो चित्र सामने आते हैं उनपर आत्मपरकता की बड़ी गहरी पर्त पड़ी हुई है । सच तो यह है कि वे अतीत के चित्रों से भविष्य का व्याख्यान कराने में कुछ अधिक ही दक्षिप्त हो गए हैं—वे चित्र अपने आप नहीं बोलते, बुलवाए जाते हैं । लेखक की 'शवसाधना' सचेष्ट हो गई है, सहज नहीं रही । फलतः भविष्य के जो संकेत आते हैं वे व्याख्यानों के रूप में आते हैं, तत्कालीन जीवन के निरूपण में से उसके स्वर नहीं उभरते हैं—वे बुद्धि को तो प्रभावित करते हैं, पर मन का स्पर्श कम ही कर पाते हैं । इन व्याख्यानों में शब्दों, अभिव्यंजनाओं, शब्दगुणों और मुहावरों की बहुधा पुनरावृत्ति खटकती है ।

कुल मिलाकर देखा जाए तो मनोरंजकता ही 'चार चंद्रलेख' की सबसे बड़ी शक्ति है—'गप्प' में मनोरंजन से अधिक की अपेक्षा भी शायद नहीं की जा सकती । उपन्यास के रूप में उसका सापेक्षिक मूल्य कुछ इसलिये और घट जाता है कि वह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृति है और आचार्य द्विवेदी उससे पूर्व 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी सशक्त कृति देख चुके हैं । इस दृष्टि से मैंने आरंभ में जो प्रश्न किया है उसका उत्तर नकारात्मक ही होगा ।

द्विवेदीजी हिंदी के मूर्धन्य विद्वान् हैं—उनके भाषागत प्रयोगों के विषय में कुछ कहना धृष्टता होगी किंतु अपनी कुछ जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करने का अवसर मैं नहीं खोना चाहता । हिंदी की वर्तमान भाषागत अव्यवस्थाओं—अनियमितताओं के बीच इन जिज्ञासाओं का अपना महत्त्व है क्योंकि आचार्य द्विवेदी जैसे समर्थ शैलीकार भाषा को ढालते ही नहीं, अन्य लेखकों के भाषागत प्रयोगों के प्रेरणास्रोत भी होते हैं । इसी संदर्भ में ये जिज्ञासाएँ हैं :

पृ० २०, 'भोजन खायेगा' ( या करेगा ? ), पृ० ८, 'उन्हें हत्या ही हाथ लगी' ( या उनके ? ); पृ० २२, 'धूनी का भस्म मलते' ( या की भस्म ? ), पृ० २५, 'एकमात्र चंद्रलेखा ही उसके साथ बात करने का अधिकार रखती थी' ( 'अधिकार रखती थी' प्रयोग चित्य है ), पृ० ६४,

‘जी और चावल के शराब की अबाध गति थी’ ( अथवा ‘की शराब’ ? ), पृ० ६७, वशिष्ठ तंत्र ( अथवा वसिष्ठ ? ), पृ० ८५, ‘...सटा को स्पर्श किया है’ और पृ० ३१० ‘ललाट को स्पर्श किया’ ( अथवा ‘का’ ? — देखिए पृ० ८६ पर ), पृ० ८७, ‘राजकुलों के दरार’ ( ‘अथवा की दरार’ ? — देखिए पृ० १०६ ), पृ० १००, ‘प्रयत्न करने जा रही हूँ’ ( यह प्रयोग भी चित्य है ), पृ० १०१, ‘उन्हें हृदय से श्रद्धा करने लगे हैं’ ( या ‘उनके प्रति’ ? ), पृ० १२४, ‘उसे कुछ भी समझ नहीं आया’ ( अथवा ‘उसका’... ? ) पृ० १४२, २०४, ‘उथल पुथल रहा था’ ( या ‘रही थी’ ? ), पृ० २५२, ‘रणडंका की ( या रणडंके की ? ), पृ० ३६६, ‘प्रधान को स्मरण किया’ ( अथवा ‘प्रधान का स्मरण किया’ ? ) । वाक्यरचना की दृष्टि से भी मैं कुछ शंकाएँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिनके निवारण से अनेक लेखकों को मार्गनिर्देश मिलेगा :

पृष्ठ ७६, ‘पहले ही दिन महाप्रतापी चंदेल नरेश परमर्दिदेव, जिन्हें लोक में परमाल कहा जाता है, की दोहित्री को पहचानने में मुझे ... ।’

पृ० १२८, ‘मठ में नेहनानानंद, जिन्हें प्रजा संक्षेप में नाना गोसाई कहती है, का एक दुष्ट प्रतिद्वंद्वी है ।’

मेरा प्रश्न यह है कि संबंधवाची विभक्तियाँ ( ‘भी’ और ‘का’ ) गभित वाक्यांशों के पहले व्यक्तिवाची संज्ञाओं परमर्दिदेव और नेहनानानंद के संग आनी चाहिए ( यथा ‘परमर्दिदेव की, जिन्हें’... ) अथवा उनका वर्तमान स्थान ही सही है ? इस प्रकार के और भी प्रयोग ‘चार चंद्रलेख’ में हैं किंतु मैंने उदाहरणस्वरूप कुछ ही प्रयोगों का संकेत किया है ।

# शहर में घूमता आईना'

डा० सुरेशचंद्र गुप्त

‘शहर में घूमता आईना’ उपेंद्रनाथ अशक का छठा उपन्यास है जो यदि विषय की दृष्टि से नहीं तो शिल्प की दृष्टि से निश्चय ही उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। पलैप पर अंकित परिचय के अनुसार यह उपन्यास एक सैरबीन है जिसमें हथी घुमाते ही स्वातंत्र्यपूर्व पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन के एक से एक चित्र उभर आते हैं। ये चित्र सैरबीन के चित्रों की तरह ही कीतूहलवद्धक और आकर्षक हैं, जो ‘जिंदगी की पुरपेच राहों’ के बीच लेखक के अनुभवों के परिचायक हैं। लेखक ने अपने ‘आलेख’ के पूर्वपृष्ठ पर जो शेर उद्धृत किया है—‘मेरे पैरों के निशाँ अब भी परेणाँ हैं यहाँ; खाक छानी है इन्हीं राहों की बरसों में’—वह निश्चयतः उपन्यास का अनुभव सूत्र है, जिसपर वह खरा उतरता है। जहाँ तक निम्नमध्यवर्गीय जीवन, उसकी विविधता और बारीकी का प्रश्न है, अशक ने उसका बड़ा सजीव और यथा-तथ्य चित्रण किया है। उसके आईने में हर आकृति बड़ी सजीव होकर झलकी है। जो भी उसके दायरे में आया, उसे उसने अपने में समेट लिया; चाहे वह देवू काना हो, पागल रामदित्ता हो, नकलची कवि ‘हुनर’ हो, हकीम दीनानाथ हो या कोई गुंडा—लेखक ने प्रकट रूप में हेय और नगण्य दीखने-वाले अकिंचन से अकिंचन पात्र को जीवन की वास्तविकता के बीच से उभारा है। इस वास्तविकता के बीच ब्राह्मण, खत्री, आर्यसमाजी, सनातनधर्मी, सेठ साहूकार, कांग्रेसी नेता, कवि, साहित्यकार सब अपने असली रंग में दिखाई देते हैं।

अशक की सफलता इस बात में निहित है कि उन्होंने पात्रों के अंतस्तल और व्यवहार में छिपी विषमता को ही नहीं देखा है, वरन् उसपर कटु व्यंग्य भी किए हैं। ये व्यंग्य बहुत सजीव हैं, क्योंकि लेखक ने उनपर टीका टिप्पणी न कर केवल जीवन के खोखले व्यवहार को चित्रित करके रख

दिया है, उनके विषय में निर्णय करने का अधिकार पाठक के लिये छोड़ दिया है। उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल आए हैं; जहाँ उपन्यासकार ने रूढ़ियों को झकझोरने का प्रयत्न किया है। जहाँ आदर्श की सबसे अधिक अपेक्षा की जाती है, वहीं उसका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। इस दृष्टि से अशकजी ने अपने आईने में जो आकृतियाँ उभारी हैं, उनके दाग साफ झलकते हैं। किंतु उन दागों के प्रति लेखक का व्यंग्य ही प्रकट होता है, अमानवीय क्रूरता नहीं। इसी लिये उनके पात्र कभी हँसाते हैं तो कभी उदास कर देते हैं और कुछ सोचने विचारने को बाध्य कर देते हैं।

जीवन के जीते जागते चरित्रों को प्रस्तुत करने में इस उपन्यास को विशेष सफलता मिली है। ये चरित्र यथार्थ से संबद्ध हैं और इन्हें सामाजिक संदर्भ तथा वैषम्य के बीच चित्रित किया गया है। खत्रियों और ब्राह्मणों का संघर्ष, ब्राह्मण ब्राह्मण का संघर्ष, औरतों के जातीय झगड़े, संपन्न लोगों की मान-मर्यादा की भावना, हिंदू मुसलमानों की सिर फुटौवल आदि सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि में पात्रों की मनोवृत्तियों का सजीव चित्रण किया गया है। 'अशक' अपने अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी कवियों को नहीं भूले है। सारे उपन्यास में शायरी बिखरी हुई है। 'हुनर' साहब अपने ही ढंग के शायर हैं; फिर भी कुल मिलाकर वे सभी शायरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अशक ने उन कवियों और शायरों पर तीव्र व्यंग्य किए हैं जो समाज और देशसेवा के नाम पर साहित्य रचना का ढोंग करते हैं, किंतु जो औरों की तो क्या अपनी भी सच्ची सेवा नहीं कर पाते। इसी प्रकार ग्राम्य-समाजियों, सनातनधर्मियों, ज्योतिषियों, महात्माओं, राजनीतिक नेताओं, व्यापारियों, गुंडों सभी को अशक ने आईने के सामने खड़ा किया है। वस्तुतः यह आईना इतना बड़ा है कि इसमें एक बहुत बड़ी भीड़ समा जाती है; फिर भी भीड़ का हर आदमी भीड़ से अलग है, क्योंकि वह दूर से पहचाना जा सकता है—उसकी अपनी चालढाल और अपना रूपरंग है। 'अशक' की सफलता इस बात में है कि उसने इन पात्रों को सजीव व्यक्तित्व प्रदान किया है।

चरित्र शिल्प के सौंदर्य के समान ही आंचलिक वातावरण का सजीव चित्रण इस उपन्यास की दूसरी विशेषता है। इसमें पंजाब के जनजीवन को जीवंत रूप प्राप्त हुआ है। आंचलिकता को उभारने के लिये उपन्यासकार ने पंजाबी शब्दावली का भी सफल प्रयोग किया है। उपन्यास में निहित पंजाबी भाषा का उक्तियों (पृष्ठ २२३, ४१६-४१२), कहावतों और लोक-

गीतों के प्रयोग से पंजाब की घरती मानों पूरे उपन्यास पर छा गई है। पंजाबी की बेतबाजी, नकलों और शायरी के माध्यम से भी लेखक ने ग्रांज-लिक जीवन की झलक प्रस्तुत की है। इस संदर्भ में चुपीते (पृष्ठ ३६७) जैसे कुछ नए शब्द भी उन्होंने गढ़ डाले हैं जो बोलचाल में भले ही ठीक प्रतीत हों, किंतु साहित्य की भाषा के लिये उपयुक्त नहीं हैं।

अश्व की दृष्टि आलोचक की दृष्टि है, फलतः वे सामाजिक जीवन को उसकी विविधता में देखकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते, अपितु उसकी आलोचना भी करते हैं। लेखक की इस पैनी दृष्टि का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत उपन्यास में चेतन ने किया है। वह निम्नमध्यवर्ग की भावप्रवणता, महत्वाकांक्षा, आदर्शवादी चिंतन और अंतर्द्वंद्व का प्रतीक है। वह असफल प्रेम की अंतर्गन्धिया लिए क्रूर समाज से आत्मीयता प्राप्त करने अथवा अपनी व्यथा को सहलाने के लिये दिन भर भटकता फिरता है। इस प्रकार शहर में घूमता हुआ वह आईना जिन बाजारों, गलियों, दूकानों, ठिकानों, जान पहचानवालों के बीच से गुजरता है, मन पर उनकी छाप लेकर लौटता है। यथा : 'दिन की घटनाएँ, मित्र परिचितों के संवाद, मुहल्ले का हिस्सा कांड—सब उसके दिमाग में जैसे चक्राकार घूमने लगे। बराबर वही दृश्य, वही घटनाएँ, वही बातें। उसका मुहल्ला, उसका शहर, उनके लोग, उनकी सोच समझ और भाग दौड़ का सीमित क्षेत्र—इस वातावरण में और अधिक रहना उसके लिये असह्य है। ..... अपनी हीन दशा पर उसे अव्यक्त क्षोभ हुआ' (पृष्ठ ४५७)। आवश्यक नहीं कि दिन भर चेतन की तरह 'जीवन के स्रोत' के लिये इतना भटका जाय। चेतन जिस 'सत्य' को इतने भटकने के बाद पाता है, उसे कोई भी आदमी बिना भटके हुए भी पा सकता है। वस्तुतः उपन्यास का अंत एक थोथे आदर्श में होता है। हम लगन और कर्मठता का विरोध नहीं करते, किंतु कितने हैं जिनकी सफलता के आधार ये गुण माने जा सकते हैं? वस्तुतः अंत में अश्व द्वारा चेतन पर आरोपित दार्शनिकता बड़ी कृत्रिम है। तब चेतन मौत की नहीं, जिंदगी की बात सोचता है, उसे बेहतर बनाने और बेहतर तौर पर जीने की बात सोचता है (देखिए पृष्ठ ४६१-४६२)। अपने जीवन को सम गति प्रदान करने के उद्देश्य से अपनी साली नीला के प्रेम को भूलने का प्रयत्न करता है, और इस नए दर्शन से दीखित होकर जब वह अपनी पत्नी के पास पहुँचता है तो उसका स्नेह प्राप्त करके उसके मन का बोझ सदा के लिये उतर जाता है। उस समय उसे ऐसा लगा मानों गर्मी और तपिश से जला झुलसा, थका हारा वह किसी विशाल भील

के किनारे आ गया है—उसके ठहरे निथरे गहरे निर्मल जल के किनारे ही उसकी नियति है, वह क्यों उससे दूर भागता है, उसे कहीं त्राण नहीं मिलेगा कहीं शांति नहीं मिलेगी ( पृष्ठ ४७४ ) । फलतः वह 'जो नहीं है' उसकी चिन्ता करना छोड़ देता है और जिसे अपने चाहा नहीं था, उसी को जीवन की नियति मान लेता है । नियति को यह स्वीकृति और जीवन को बेहतर बनाने का संकल्प ही संभवतः इस उपन्यास की निधि है ।

'शहर में घूमता आईना' के संभव में एक सीधा सा प्रश्न यह उठता है कि क्या इस कृति का उद्देश्य केवल यथातथ्य चित्रण ही है, क्योंकि लेखक की दृष्टि किसी विशिष्ट जीवनदर्शन पर केंद्रित नहीं रही है । संभवतः यह प्रश्न लेखक के मन में भी उठा है, इसी लिये एक पंजाबी लोकोक्ति के आधार पर उसने यह कहा है कि 'अच्छी कलाकृति कभी सीधे कुछ नहीं सिखाती' ( पृष्ठ १० ) । हम अशक से सीधी यह माँग न करें यह तो ठीक है, किंतु किसी अच्छी कलाकृति में केवल जीवन का व्योरा न होकर अप्रत्यक्ष रूप में कुछ सुभाव भी रहते हैं । इस उपन्यास को पढ़ते हुए पाठक विविध दृश्यों में खो जाता है, जो प्रायः एक दूसरे से संलग्न भी नहीं प्रतीत होते और अंततः उनका कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता । यदि हम लेखक के शब्दों में ही इस उपन्यास के लिये सैरबीन की उपमा स्वीकार करें तो इस सैरबीन की भाँकियाँ वच्चे बूढ़ों, वयस्कों सब को समान रूप से आकर्षित नहीं करती प्रतीत होतीं । अशक ने इसी बात को इन शब्दों में स्वीकार किया है 'जो लोग सब कुछ लेकर पैदा हुए हैं अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिये इस उपन्यास में बहुत कुछ नहीं है । यह केवल बीच के लोगों के लिये है' ( पृष्ठ १० ) । इन बीच के पाठकों के संबंध में अशक की धारणा है कि वे देखकर या पढ़कर सीख लेते हैं । किंतु, पाठक के इतना ग्रहणशील और भावप्रवण होने के साथ ही यह भी अपेक्षित है कि लेखक के समक्ष भी कोई विचार अथवा चिंतन की दिशा हो । अन्यथा एक अच्छे पाठक को सैरबीन से ही संतुष्ट करना कठिन है ।

प्रस्तुत उपन्यास की विशेषता यह है कि यह एक व्यक्ति के बारह घंटों के इम्प्रेशन प्रस्तुत करता है । काल की इतनी सीमित परिधि में जीवन का दर्शन और अंकन अपने में महत्वपूर्ण है । किंतु, इस अवधि में उभरते हुए जिन दृश्यों को परस्पर सँजोने में चेतन कड़ी का काम करता है, वे उसके अस्तित्व को आंदोलित नहीं करते । इसी लिये उपन्यास में प्राएँ दृश्यों और चेतन के बीच व्यवस्थित शृंखला नहीं बन पाती । इस दृष्टि से लेखक की

सफलता इसी बात में है कि ये विविध दृश्य उसे अंत में एक दृष्टि दे जाते हैं जिसे स्वस्थ कहें न कहें, किंतु मध्यवर्ग की नियति अवश्य कह सकते हैं। यह दृष्टि जीवन में जो निहायत बुरा, हेय, बीभत्स और अप्रलील है, उसे देखने से आई है। अशक ने गंदगी के ऊपर राख नहीं डाली है वरन् रस लेकर उसका चित्रण किया है। उदाहरण के लिये चेतन इक्कीस वर्ष का होने पर भी सेक्स के मामले में एकदम बच्चा था—यह बताना लेखक भूला नहीं। अनंत उसे एक दिन सुहागरात के बारे में बताता है कि ‘कैसे मंद को इस रात अपनी मदुमी दिखानी चाहिए और व्याह की मिसाल दी थी कि कैसे उसने पहली रात आठ बार अपनी पत्नी को अपने पुंसत्व का प्रमाण दिया था’ (पृष्ठ ४६६)। इसी अनंत पर टिप्पणी करते हुए अशक ने लिखा है—‘औरतों के बारे में उसका मत था कि उनका एक ही काम है और जो पुरुष उनसे वह काम नहीं लेता, वह पुरुष कहलाने के योग्य नहीं’ (पृष्ठ ११६)। यह तो हुई स्त्रियों की बात, अशक ने खूबसूरत लड़कों को भी नहीं बरुशा है। हमीद के बारे में उनका कहना है : ‘.....एक सुंदर मुसलमान लड़का है और चूंकि वह बड़ा मेधावी है ..... इसलिये कॉलेज के गुंडे उसको तंग नहीं कर पाते। वे उसके इर्दगिर्द मेंडराते रहते हैं, पर उसे छू नहीं पाते। सौंदर्य के प्रति चेतन का अपना पक्षपात था। उस जमाने में जब अपर सेक्स के प्रति उसकी चेतना न जगी थी—कुंती से शीतला के मेले में मिलने से भी पहले.....उसे अपने समवयस्क अथवा किंचित् कम उमर के सुंदर लड़के बड़े अच्छे लगते थे’ (पृष्ठ १५०)। अशक ने ८-१० पृष्ठ ‘सुंदर लड़कों’ और उनकी समालिगी प्रवृत्ति पर ही रंग दिए हैं। यही नहीं, सारे उपन्यास में गरम मसालों की तरह प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर गालियों का मौलिक प्रयोग किया गया है। जीवन को बेहतर बनाने में इस गंदगी और बीभत्स अभिव्यक्ति का क्या और कितना हाथ हो सकता है, यह अशक जो ही जानें। फिर भी इस संदर्भ में एक अच्छी बात यही है कि कुत्सामों के बीच भी लेखक का व्यंग्य उभरा है।

---

# एक इंच मुस्कान'

राजेंद्र अवस्थी

‘ग्यारह सपनों का देश’ की नियति देखने के बाद ‘एक इंच मुस्कान’ की घोषणा पढ़कर अनेक आशंकाएँ नए उपन्यास की सफलता को लेकर मन में उठी थीं। एक ओर जहाँ कथाकार द्वय से यह आशा थी कि कुशल कथाकार होने के नाते दोनों इस नए प्रयोग को सफलता की सीमा रेखा पर ले जाकर ही छोड़ेंगे, वहीं इस बात की भी आशंका हुई थी कि कहीं यह प्रयोग, मात्र प्रयोग के लिये किये जानेवाले भाषा और शिल्पगत चमत्कारों की भूलभुलैया में ही न खोकर रह जाए। ‘एक इंच मुस्कान’ को पुस्तक के रूप में पढ़कर अब लगता है कि उस समय मन में उठीं आशाएँ आशंकाएँ दोनों ही सही थीं।

पहले कहानी की चर्चा कर ली जाए। इस त्रिकोणात्मक कहानी में एक नायक और दो नायिकाएँ हैं। अमर एक लेखक है। उसके पाठकों में ‘एक इंच ( प्रवचक ) मुस्कान’ वाली परित्यक्ता किंतु संपन्न नायिका अमला भी है। वह एक अभिजात वर्गीय आधुनिक विचारों और व्यवहारों की युवती है। समाज के उच्चवर्गों में उसकी पूछ है। कलकत्ता के नामी क्लबों में उसकी घाक है। वह अमर जैसे लेखक से पढ़ने लिखने की ( बौद्धिक ) बातें करना चाहती है, इस शर्त पर कि दोनों में से जब भी—‘कोई ऊब जाएगा तो छुपचाप परिधि में निबल जाएगा और दूसरा उसका कारण नहीं पूछेगा’.....रेल के मुसाफिरों की नियति मानकर ही हम लोग निकट आएँगे।’ संभवतः इसी जीवनदर्शन का परिणाम है कि अमला अपने पिता के व्यवसाय में एक प्रमुख कार्यकर्ता कैलाश के भी काफी निकट पहुँच गई थी—यहाँ तक कि कैलाश जाने अनजाने उससे विवाह के मसूबे बाँधने लगा था। तीसरी ओर वह पुरी में फोटोग्राफर मेहरा के भी उतने ही निकट आ गई थी कि उसने मेहरा को अपने गालों को सुख करने की भी कूट बे दी थी।

नैतिकता के ग्रामतीर पर स्वीकृत मानदंडों के धुरें उड़ाती हुई अमला इसी तरह अमर के भी निकट प्राती है। कलकत्ता पहुँच कर अमर को पता चलता है कि अमला एक बहुत बड़े उद्योगपति की बेटी है, जिसकी बड़ी बड़ी कोठियाँ हैं। इस स्थिति से अमर चौंकता है किन्तु अमला आगे सोचने का उसे अवसर ही नहीं देती। वह अमर से 'अपनी कला के साथ समझौता न करने' का वचन लेती है, क्योंकि उसे अमर की प्रतिभा और लेखन पर सचमुच आस्था है और वह नहीं चाहती कि अमर (जो उपन्यास की सहयोगी लेखिका मन्तू की दृष्टि में प्रवचक, स्खलित और निष्ठाहीन है) भटक जाए। इसके लिये वह पर्याप्त राशि की व्यवस्था भी करती है। अमर के प्रति अमला का इतना बड़ा आकर्षण जहाँ कैलाश के संबंधों को दो टूक कर देता है, वहीं वह अमर रंजना के संबंधों में भी बिगाड़ उत्पन्न करता है।

अमर और रंजना मध्यमवर्ग के दो पात्र हैं और दोनों में इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि रंजना अमर के केवल इतना लिखने पर कि दिल्ली में उसका मन अकेले नहीं लगता, पूरे परिवार को छोड़कर वह अमर के पास चली आती है। मुन्तू के शब्दों में रंजना 'एक सीधी और समर्पिता' नारी है। जीवन के संबंध में उसकी आस्थाएँ ग्राम लड़कियों की तरह हैं और वह अमर के साथ विवाह कर अपने संबंधों को नैतिक रूप देना चाहती है। इसमें बाधक है अमला, जो अमर और रंजना के संबंधों को टूटने की स्थिति पर ला छोड़ती है। रंजना के साथ सुखी वैवाहिक जीवन का सपना देखनेवाला अमर कलकत्ता यात्रा के बाद 'जीवन के उद्देश्यों और जीवन के यथार्थों' की दुहाई देकर विवाह की बात तोड़ सी देता है। साथ ही वह रंजना को यह भी विश्वास दिलाना चाहता है कि वही उसकी प्रेरणा और उसकी आस्था है। उसी समय रंजना और अमर के 'कामन फ्रेंड्स' टंडन परिवार (टंडन और मंदा भाभी) दोनों के टूटते संबंधों को जोड़ देते हैं और दोनों का विवाह हो जाता है।

विवाह के बाद भी अग्र्याय समाप्त नहीं होता। लगता है एक बड़े काँच में कहीं दरार आ गई है—अमर और अमला की बदस्तूर चलती हुई हादिकता एक अभिशप्त आत्मा सी रंजना को कचोटती रहती है। एक दिन कालेज से लौटते हुए वह अमला की हथेलियों में छिपे अमर के मुँह को देख लेती है और एक सहज नारी पीड़ा के वशीभूत वह अमर को छोड़कर चली जाती है; एक अभिशाप सा देकर कि—'तुम जीवन भर यों ही जलो।

जलो और जानो कि असफल प्यार का दर्द क्या होता है ।' परंतु यह कथा का अंत नहीं है । रंजना का विवश मातृत्व अमर से मेल कराता है, किंतु अमर इस स्थिति के लिये कतई तैयार नहीं है । विवश होकर रंजना को 'एबारशन' कराना पड़ता है और रंजना तथा अमर के संबंध कभी ठीक नहीं हो पाते । एक दिन वह दूर नौकरी पर चली जाती है ।

अमला का सूत्र यहाँ पकड़ना जरूरी है । कैलाश, अमर, चावला और मेहरा को उपकृत करनेवाली अमला किसी को भी साथ नहीं ले पाती । वह 'रेल के मुसाफिरो' की नियति के साथ पूरा सफर तय करना चाहती है । पुरी में उसे अपने पिता के एकाएक अवसान का समाचार मिलता है तो अमर से यह वचन लेकर कि 'मैं मर जाऊँ तो मेरी कहानी लिखना' वह विदा लेती है और एक दिन अमर को खबर मिलती है कि वाकई अमला की मृत्यु हो गयी है ।

अमला का यह अंत आश्चर्यजनक है ! लेकिन संभवतः दोनों कलाकारों के लिये यह जरूरी है, क्योंकि वे इसके सिवाय और किसी अंत के बारे में सोचना ही नहीं चाहते थे । इसे छोड़ दिया जाए तो कथानक 'साहसपूर्ण' है । मैं उसका स्वागत करूँगा । लेकिन राजेंद्र यादव की इस मान्यता को स्वीकार कर लेना भूल होगी कि अमला अभिजात वर्गीय नारी का प्रतिनिधि रूप है । वह वास्तव में एक 'उर्ध्व खल फ्री लांसर'—रेल के मुसाफिरो की नियत पर विश्वास करनेवाली—नारी है । यही स्थिति अमर की है । लेखक का कहना है कि अमर संक्रांतिकालीन बुद्धिजीवी पीढ़ी का प्रतिनिधि रूप है । वह अमर को 'एक क्रांति की नहीं एक पीढ़ी की पराजय' के रूप में स्वीकार करता है और उपन्यास को 'एक प्रबुद्ध क्रांति के आत्मान्वेषण' की सफल या असफल प्रक्रिया के रूप में देखना चाहता है । मेरी दृष्टि में अमर एक खंडित व्यक्तित्व का प्राणी है । उसका आंतरिक व्यक्तित्व दो भागों में बँटा है—एक ओर प्रेम, विवाह, सुख, सुविधा के परंपरागत संस्कार, उन्हें प्राप्त करने की चाह यानी एक मानवीय भौतिक बोध ! और दूसरी ओर स्रष्टा व्यक्तित्व की उच्चतर मुक्तिकामना । व्यक्तित्व का यह विभाजन एक 'फ्रैक्शन' है । 'फ्रैक्शन' सहज और सार्थक हो सकता है, लेकिन उसका सहारा लेकर लेखक को प्रबुद्ध पाठकों से सहानुभूति की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नियति यही नहीं है, कुछ और भी हो सकती है ।

रंजना मुझे इस उपन्यास की बहुत कमजोर पात्र लगती है। उसकी मजबूती के लिये अवसर बहुत हैं। अमर की माँगों के सामने वह हर कहीं जिस सहज ढंग से अपने आप को समर्पित कर देती है, आश्चर्यजनक है। वैसे यह समर्पण 'एक सीमा' तक आज की पढ़ी लिखी, कमानेवाली किंतु भावुक नारी के अंतर्मन का प्रतिनिधित्व कर सकता है। लेकिन मुझे लगता है कि इसमें भी अतिशयोक्तियाँ जरूर हैं। इतने सहज रूप से रंजना का 'एबाराशन' के लिये तैयार हो जाना, रंजना की उन स्थितियों के सामने संगत नहीं लगता। इस तरह, मेरी दृष्टि में, एक ओर अमला का अंत और दूसरी ओर रंजना का स्थितियों के सामने अनपेक्षित और असामयिक 'समर्पण' सही नहीं हैं। अमर एक रोमानी नायक है और उसका 'खंडित व्यक्तित्व' स्रष्टा व्यक्तित्व की उच्चतर मुक्तिकामना के लिये साथेक बताया गया है। कुछ सीमा तक सहमत होते हुए भी मुझे यह छायावादी भाषा की एक अच्छी शब्दावली ही जान पड़ती है। अपने माध्यम से एक पूरी पीढ़ी ( वह भी बुद्धिजीवी पीढ़ी ) को फतवा देने का अधिकार मैं यादव को नहीं दूँगा। यह एक लक्ष्यहीन, भ्रष्ट बुद्धिजीवी व्यक्ति की ही ट्रेजेडी हो सकती है। ईमानदारी के साथ कहा जाए तो यह एक खाते पीते, अच्छे लिखे पढ़े लेखक की आत्मावेषण की प्रक्रिया कम, मटरगश्ती ज्यादा है। संक्रांतिवाल से गुजरते हुए बुद्धिजीवी, क्रांति के अग्रदूत होते हैं। क्रांति का स्वरूप अलग हो सकता है, यह बात और है।

इस विवेचन के बाद दोनों लेखकों की स्वतंत्र रचनाप्रिया को देखा जाए, तो एक बात साफ नजर आती है—राजेंद्र यादव जहाँ कई जगह खड़खड़ाते से नजर आते हैं, वहाँ मन्नू भंडारी में मजबूती अधिक है। वह ऐसे स्थलों पर बड़ी सफाई के साथ जमकर आगे बढ़ी हैं और कदाचित् वहीं से यादव को आगे जमने का रास्ता मिला है। वैसे कथासूत्र में नए प्रयोग करने की खुलाहट दोनों में है और दोनों ने अपने पहचाने हुए युग-सत्य को सहज ढंग से निर्भीकता के साथ सामने रखा है। यह बात अपने आप में विशिष्ट है और प्रयोग की प्रक्रिया में नवीनता का योगदान है।

शिल्प की दृष्टि से 'एक इंच मुस्वान' एक सफल रचना है। एक ही पुस्तक में दो तरह के शिल्पों का समन्वय है—सीधे और सरल तथा गढ़े, फँसे और उलझे हुए शिल्प ! पहला मन्नू का है, दूसरा यादव का है। कथा की रसमयता के लिये संभवतः ऐसा परिवर्तित शिल्प अधिक बाधक

नहीं होता, क्योंकि पाठक यह जान लेता है कि यह 'फँसाव' क्षणिक है, आगे सहज गति है। उपन्यास में चूँकि नारी और पुरुष दोनों के अंतर्मनों को उसी श्रेणी से देखा गया है, उनमें सहज भावसंग और सहज कम-जोरियाँ स्पष्ट रूप से सामने आई हैं। कथासूत्र में यह प्रयोग निश्चित ही नया है और कोई नया प्रयोग हर दृष्टि से सुस्त और दुरुस्त हो, यह संभव भी नहीं है।

# जैसे उनके दिन फिरे ( व्यंगकथासंग्रह )'

## शुक्ल

हरिशंकर परसाई के इस कथासंग्रह में उन्नीस व्यंगकथाएँ संगृहीत हैं। यहाँ इन कहानियों के लिये 'कथा' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया जा रहा है, क्योंकि ऊपर से इनका रूपविधान प्रायः परंपरागत कथाओं का ही है। कुछ में पौराणिक कथाओं का संदर्भ ग्रहण किया गया है, कुछ लोक-कथाओं के ढंग की हैं, कुछ कथाएँ पंचतंत्र की याद दिलाती हैं और तीन कथाएँ तो बेंताल पचीसी के बाद की हैं—बेंताल की छब्बीसवीं, सत्ताईसवीं और अट्ठाईसवीं कथाएँ।

ये कथाएँ, जो शैली की दृष्टि से इतनी सहज, इतनी परंपरागत जान पड़ती हैं, सचमुच वैसी नहीं हैं। सामान्य पाठक की जानकारी में कथाओं के जो सुप्रचलित रूप और संदर्भ हैं, उन्हें परसाई ने बड़े अप्रत्याशित उद्देश्य से स्वीकार किया है। उन्होंने इन परंपरागत रूपों का प्रयोग आधुनिक जीवन में छल, पाखंड आदि की पनपनेवाली परंपरा की विकृति के उद्घाटन के लिये, उसकी सर्वांगीण अस्वीकृति के लिये किया है। इन कहानियों की शैली का आवरण जितना भोला भाला है, वह वास्तव में उतना ही छोटा, उतना ही सोढ़िट है। तभी 'भेड़े और भेड़िये' का सहज पंचतंत्र गलत हाथों में फँसे हुए जनतंत्र का भयानक—लगभग कुत्सित रूप सामने खड़ा कर देता है। 'लंका विजय के बाद', 'मेनका का तपोभंग', 'त्रिशंकु बेचारा' आदि पौराणिक से दिखनेवाले व्याख्यान आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक जीवन के छद्मरूप और उसके आडंबर का उद्घाटन करने लगते हैं।

शैली के ये प्रयोग वस्तुतः अपने आप में सर्वथा मौलिक नहीं हैं। पौराणिक व्याख्याओं या लोककथाओं का सहारा लेकर समसामयिक जीवन की विकृति पर व्यंग करने की पद्धति एक प्रकार से काफी व्यापक है, जिसका प्रयोग पुराने व्यंगकारों ने—स्विफ्ट से लेकर मार्क ट्वेन तक ने—

अपने अपने उद्देश्यों से किया है। ईसप की कथाओं या पंचतंत्र के सहारे, पशुओं और पक्षियों की दुनिया पर आधुनिकवादों की विकृति का प्रयोग भी नया नहीं है। जार्ज आर्वेल का 'दि एनिमल फार्म' इस पद्धति का सुप्रसिद्ध उदाहरण है और हिंदी में भी पहले हरिश्चंद्र शर्मा के 'चिड़िया घर' में इस शैली का प्रयोग किया जा चुका है। हिंदी में ही, आधुनिक जीवन की असंगति का उपहास करने के लिये कथाओं में न जाने कितनी बार नारद, ब्रह्मा या इंद्र को घसीटा जा चुका है। इस प्रकार परसाई ने अपनी इन कथाओं में जो शैली अपनाई है वह काफी आजमाई हुई और जनप्रिय है।

उनकी सफलता और रोचकता का मुख्य आधार यही है कि उन्होंने इन अनेक सुप्रचलित पौराणिक अथवा लोककथापरक प्रसंगों का इस्तेमाल कुछ ऐसे सामयिक तत्वों पर प्रहार करने के लिये किया है, जिनकी विकृति भी उन्हीं प्रसंगों की भाँति सुविख्यात है। और ऐसा करने में उन्होंने जो निर्मम, वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश की है वह हिंदी में सामाजिक यथार्थ के लेखकों में मुश्किल से मिलती है। पहली कहानी 'जैसे उनके दिन फिरे' में ही जिस निर्ममता के साथ कुछ चंदाखोर, दगाबाज जननायकों का परिचय सामने आता है, वह शुरू से ही लेखक की प्रवृत्ति को स्पष्ट कर देता है। मिथ्याचरण की कथाएँ सुनाकर वह लोगों को सहलाना या हँसाना नहीं चाहता, उसके प्रति लेखक के मन में जो कटुता है, सार्वजनीन जीवन में दगाबाजी और पाखंड को वह जितना बीभत्स मानता है, उसे स्पष्ट ढंग से प्रकट करके वह पूरे व्यंग को एक नई सार्थकता देता है। यही कटुता और स्पष्टता 'लंकाविजय के बाद' में या 'बैताल की सत्ताईसवीं कथा' में भी है। इन सभी कथाओं का वातावरण एक सा है, जिसमें लेखक पाखंड के सामने क्षमायाचना या सविनय अवज्ञा के भाव से न आकर गृहित को गृहित कहने के लिये आता है। जिन कथाओं में उसका रुख उतना निर्मम नहीं है, उनमें भी, हँसी मजाक के बावजूद, व्यंग की स्पष्टता में कमी नहीं है। 'मेनका का तपोभंग', 'बैताल की अट्ठाईसवीं कथा' या 'आमरण अनशन' कुछ इसी कोटि की कथाएँ हैं, जिनमें परसाई के व्यंग के शिकार एकदम डाकू या दरिदों की शक्ल में न जाने पर भी गरिमा के रेशमी वस्त्रों में ढँके हुए अपदार्थ कीड़ों की तरह दीख पड़ते हैं।

आज के सामाजिक, राजनीतिक जीवन की असंगतियों और विकृतियों

पर लिखते हुए कोई भी व्यंग्यकार, संभ्रांति और सौजन्य के वातानुकूलित कमरे में नहीं टिका रह सकता। जो तत्त्व उसकी दृष्टि में उचित जीवन मूल्यों पर आघात करते हैं उनपर उसे तीव्रता से प्रत्याघात करना पड़ता है। परसाई की इन कहानियों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि ऐसा करने में वे स्पष्टोक्तियों और कटूक्तियों को भी रोचक बना देने हैं। उसे कहावत या उलटवासी का रूप देकर एक सुविदित तथ्य को भी एक नए प्रकाश में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार वे यथार्थ का उद्घाटन ही नहीं करते, उसकी सारी संभावनाओं का अन्वेषण भी करने की चेष्टा करते हैं।

पर परसाई की इन विशेषताओं में ही उनकी सीमाएँ भी कहीं कहीं प्रकट हो जाती हैं। समसामयिक जीवन की विकृति को पकड़ना और उसे उद्घाटित करना—चाहे वह कितने ही रोचक ढंग से क्यों न हो—अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। सामाजिक जीवन के व्यंग्यकार का एक दायित्व यह भी है कि लोभस्वीकृत स्थितियों का खंडन करते हुए, वह उन मूल्यों का भी संकेत करे, जिनके आधार पर वह उन स्थितियों का विरोध करता है। ऐसा न करने से उसका प्रयास कुछ विकृतियों का उपहास करने तक ही रह जाता है और उन विकृतियों से अलग जिस यथार्थदर्शन की कल्पना उसे व्यंग्य का माध्यम चुनने को बाध्य करती है, वह अस्पष्ट रह जाती है। इस प्रवृत्ति का अतिरेक लेखक को केवल 'सिनिसिज्म' की ओर बहा ले जा सकता है, जहाँ पहुँचकर साहित्यकार का पूरा कृतित्व एकांगी और बहुधा एकरस हो जाता है।

पर यह तो केवल इन कथाओं में जितना है, उससे भी ज्यादा पाने के लोभ में कहा जा सकता है। वैसे, अपने वर्तमान रूप में भी ये कहानियाँ अत्यंत उद्देश्यपूर्ण, रोचक और समर्थ हैं। कुछ कथाएँ तो, जैसे 'त्रिशंकु बेचारा', 'बैताल की सत्ताईसवीं कथा' या 'लंकाविजय के बाद' जिस प्रकार क्लासिक शैली में लिखी गई हैं, उसी प्रकार वे व्यंग्य के क्षेत्र में क्लासिक बनाने की संभावना भी रखती हैं।

# युगचारण दिनकर

डॉ० रणवीर रांग्रा

दिनकर के व्यक्तित्व के समान उनका कृतित्व भी अनेक परस्परविरोधी धाराओं का संगम है। व्यष्टि और समष्टि, निवृत्ति और प्रवृत्ति, भावुकता और बौद्धिकता, सत्य और सौंदर्य का संघर्ष उनके काव्य में निरंतर चलता रहा है। काव्य के माध्यम से ऐसे जटिल व्यक्तित्व की गहराइयाँ नापना बड़े जोखिम का काम है, पर आलोच्य समीक्षाग्रंथ में डा० सावित्री सिन्हा ने बड़े आत्मविश्वास के साथ इस दिशा में पग बढ़ाया है। उन्होंने दिनकर के काव्यव्यक्तित्व में विद्यमान विरोधाभासों को उघाड़ा ही नहीं, बल्कि उनकी तह में काम कर रही अवचेतन प्रवृत्तियों को खोजने का प्रयास भी किया है।

इस पुस्तक के पाँच अध्याय हैं : १—जीवनी और व्यक्तित्व, २—दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि, ३—दिनकर की काव्यचेतना का विकास (समष्टिपरक काव्यचेतना), ४—दिनकर की काव्यचेतना का विकास (शृंगारचेतना और नारीभावना), ५—दिनकर का काव्यशिल्प। फिर है उपसंहार और अंत में एक परिशिष्ट। परिशिष्ट में 'धूप छाँह' और 'सीपी और शंख' का विवेचन है। इन्हें पुस्तक के मुख्य कलेवर में न लेकर परिशिष्ट में इसलिये लिया गया है कि इनमें संगृहीत अधिकांश कविताएँ दिनकर की मौलिक रचनाएँ न होकर उनके द्वारा किए गए अपनी रचि के अन्य कवियों की रचनाओं के भावानुवाद हैं।

पुस्तक के प्रथम अध्याय 'जीवनी और व्यक्तित्व' के विषय में लेखिका ने आरंभ में ही अपने वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया है कि वह 'दिनकरजी तथा उनके मित्रों और संबंधियों द्वारा दिए गए वक्तव्यों के आधार पर लिखा गया है' '...इस अध्याय में मेरा योगदान केवल प्रस्तुतीकरण का है'। श्रेय का पात्र चाहे कोई हो, इसमें संदेह नहीं कि प्रथम अध्याय को पढ़कर व्यक्ति दिनकर का जो चित्र उभरता है वह उनके व्यक्तित्व के विरोधाभासों को बड़ी खूबी से सामने ले आता है।

---

१. लेखिका : डा० सावित्री सिन्हा, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; पृष्ठसंख्या : ३१९; मूल्य : दस रुपये।

दूसरे अध्याय—‘दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि’ में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के प्रकाश में ‘रेणुका’, ‘हुंकार’, ‘सामधेनी’, ‘बापू’, ‘नील कुसुम’ और ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ की संगति बैठाई गई है। डॉ० सिन्हा की इस स्थापना में सचाई है कि दिनकर की काव्यचेतना हिंदी काव्य की विविध प्रवृत्तियों की लहरों के साथ न उठी और न गिरी। उसका एक मूल उत्स रहा है। हिंदी के विविधवादों से अलग उसकी एक स्वतंत्र सत्ता है। यही तर्क कि उनकी राष्ट्रीय कविताएँ भी उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों की रचनाओं से भिन्न हैं। दिनकर की कविता अपनी पीढ़ी की राष्ट्रीय कविता की तरह गांधीवाद से प्रभावित नहीं, बल्कि वह गांधी युग के युवकों की विद्रोही और उग्र भावनाओं की अभिव्यक्ति है। ‘रश्मिरथी’ ही उनकी एकमात्र ऐसी रचना है जिसे मैथिलीशरण गुप्त का काव्यपरंपरा के अंतर्गत माना जा सकता है। ‘कुरुक्षेत्र’ भी अपनी किस्म का एक ही काव्य है। उसे हिंदी का प्रथम युद्धकाव्य कहा जा सकता है। ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ में गांधीवाद के नाम पर चल रही कृत्रिम आध्यात्मिकता और निर्वीर्य कल्पनाओं का निरोध और खंडन है। गांधीवाद की इन विकृतियों के साथ दिनकर कभी तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाए।

दिनकर की काव्यचेतना का विकास मुख्य रूप से दो धाराओं में हुआ है—१. समष्टिजन्य राष्ट्रीय चेतना और २. शृंगारपरक वैयक्तिक चेतना। पहली धारा का विवेचन इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में हुआ है और दूसरी का चौथे अध्याय में। दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का सूत्र उनके प्रथम काव्यसंग्रह में ‘रेणुका’ से पकड़ कर यह दिखाया गया है कि इन कविताओं का विवश आक्रोश क्रांति और शौर्य का स्वर बनकर ‘हुंकार’ में व्यक्त हुआ तथा इनका विवश अवसाद ‘द्वंद्वगीत’ में मुखरित हुआ। ‘कुरुक्षेत्र’ में कवि के व्यक्तित्व की इन्हीं दोनों मूल प्रवृत्तियों की टक्कर हुई जिसकी परिणति अवसाद की पराजय और शौर्य की विजय में हुई। आरंभ से ही दिनकर की राष्ट्रीय चेतना क्रांतिमूलक रही—ओज, शौर्य और पराक्रम से ओतप्रोत। राष्ट्र के सैनिक में उन्हें बुद्ध और गांधी की अहिंसा की अपेक्षा अर्जुन और विक्रमादित्य के क्षात्र तेज की आवश्यकता और अधिक महसूस हुई। उनकी प्रारंभिक कविताओं में व्यक्त शौर्य की यह भावना ‘हुंकार’, ‘कुरुक्षेत्र’, ‘सामधेनी’ और ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ में उत्तरोत्तर विकसित होती गई।

‘कुरुक्षेत्र’ के दिनकर पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है,

पर डा० सिन्हा ने ठीक ही कहा है कि 'हुंकार' के दिनकर उससे कहीं अधिक हिसावादी हैं। 'हुंकार' का यही क्रांतिद्रष्टा दिनकर, 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म के रूप में अवतरित हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' दिनकर का प्रथम चिंतनप्रधान काव्य है। इसमें 'द्वंद्वगीत' के दिनकर युधिष्ठिर के माध्यम से शंकाएँ उठाते हैं और 'हुंकार' के दिनकर दर्शन का सहारा लेकर भीष्म के मुख से उनके समाधान करवा देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि दर्शन के सारतत्वों को ग्रहण करके 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर के द्वंद्वग्रस्त जीवन को एक स्थस्थ पड़ाव मिला है, पर डा० सिन्हा के इस निष्कर्ष को स्वीकार करने का ग्रंथ होगा कवि की पर-वर्ती रचनाओं के प्रति आँख मूँद लेना : 'कुरुक्षेत्र की द्वंद्वग्रस्त जीवनदृष्टि के प्रश्न पर निश्चिंत और स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ आकर दिनकर का द्वंद्व सदैव के लिए समाप्त हो गया है' (पृ० १९२)। सच यह है कि दिनकर का द्वंद्व 'उर्वशी' लिख चुकने पर भी समाप्त नहीं हुआ। इस विषय में 'उर्वशी' की भूमिका द्रष्टव्य है जो इस काव्य की समाप्ति पर ही लिखी गई होगी। उदाहरणार्थ, आयु को लेकर लिखा गया यह स्थल लें जिसमें प्रकारांतर से कुरुक्षेत्र की समस्या ही पुनः सामने आती है—'फिर वही बात। पुरुष की रचना पुरुष करे तो वह त्रासक होता है और पुरुष की रचना नारी करे तो लड़ाई में वह हार जाता है। समस्या युद्ध की हो ग्रथवा प्रेम की, कठिनाइयाँ सर्वत्र हैं।'।

दिनकर की 'शृंगारचेतना और नारीभावना' का मूल उनके काव्य-संग्रह 'रसवंती' की 'पुरुषप्रिया' और 'नारी' शीर्षक कविताओं में खोजकर डा० सिन्हा ने यह बात बड़े जोर के साथ कही है कि दिनकर ने नारी की मानसिकता को ही अधिक महत्व दिया है और उसकी सार्थकता पत्नीत्व और मातृत्व में ही मानी है; आधुनिकता के प्रति उनके पास केवल भर्त्सना है। नारीभावना के यही दो सूत्र 'उर्वशी' में विकसित हुए जहाँ श्री-नारी और सुकन्या के रूप में पत्नीत्व की गरिमा स्थापित हुई और उर्वशी तथा अप्सराओं के माध्यम से आज की बौद्धिक और स्वच्छंद नारी के जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्ति मिली। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद 'उर्वशी' हिंदी का सर्वाधिक चर्चित काव्य रहा और विवादास्पद भी। इसकी खूब प्रशंसा हुई है तो छीछालेदर भी कम नहीं हुई। पर इन समीक्षाओं में व्यक्त विभिन्न मतों के खंडन मंडन के फेर में न पड़कर डा० सावित्री सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत करके आलोचना

की स्वस्थ परंपरा का अनुसरण किया है। 'उर्वशी' को बरूणा तो इन्होंने भी नहीं। पर जहाँ इन्हें गुण दीखे हैं, वहाँ उसकी सराहना भी की है। पुरुरवा के रूप में उर्वशी में वर्तमान युग के उस द्वंद्वप्रस्त पुरुष का चित्रण हुआ है जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार करके मृगमय अस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न ही मृगमय अनुभूति का सहज परित्याग करके चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। इस दृष्टि से 'उर्वशी' को हिंदी कविता का एक नया मोड़ माना गया है तो 'उर्वशी' की प्रतीकात्मकता की धरपकड़ भी खूब की गई है।

कुल मिलाकर डा० सिन्हा उर्वशी के रूप में व्यक्त दिनकर की नारी-भावना में संतुष्ट नहीं। उन्हें वह एवांगी और पारंपरिक लगती है : 'वर्तमान युग की कामजन्य उलझनों से मूल प्रेरणा प्राप्त करने पर भी दिनकर का दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। वे समस्या को केवल पुरुष के दृष्टिकोण से एक सीमित क्षेत्र और रूढ़िवादी परंपरा में रखकर ही देख सके हैं, जिसके अनुसार नारी प्रवृत्तियों की एक बंडल मात्र रह गई है। सार्वभौम स्तर पर मृगमयी भावनाओं के उद्रेक और चिन्मयी बुद्धि के विवेक के द्वंद्व से आज की नारी भी पुरुष के समान ही ग्रस्त है। परंतु शायद प्रतीक की परि-सीमा के कारण ही उर्वशी का कवि अपनी नायिका को मस्तिष्क और बुद्धि का वरदान नहीं दे सका।' डा० सिन्हा के इस आरोप की यथार्थता उर्वशी के पुरुष पाठक भी महसूस किए बिना नहीं रहेंगे। पुरुरवा के जिस कामाध्यात्म का डा० सिन्हा ने उल्लेख किया है हमें तो 'उर्वशी' की रचना में वह 'आपटर थॉट' ही लगता है। प्रेमहीन तनदान यदि वेश्यावृत्ति है तो तनहीन प्रेम भी विकृति (पर्वर्जन) से कम नहीं। इन दोनों अतियों का संतुलित रूप है उर्वशी जिसका निभ्रात देहदान इस काव्य की आत्मा है। पर लगता है समाज की वक्र दृष्टि से बचाने के लिये दिनकर के अवचेतन ने इसपर पुरुरवा के कामाध्यात्म का मुलम्मा चढ़ा दिया है। यहाँ उर्वशी की भूमिका के ये शब्द उल्लेखनीय हैं : 'युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहनकर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा। फिर भी हर आदमी नकाब लगाता है, क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की, समाज की ओर से, मनाही है।'

पुस्तक के पाँचवें अध्याय में दिनकर के काव्यशिल्प के विशद निरीक्षण-परीक्षण द्वारा इस तथ्य को उभारा गया है। उर्वशी तक दिनकर कवि और

तत्त्वचिंतक थे, उनका ध्यान केवल अभिव्यक्ति की सहजता और स्पष्टता पर रहता था उसकी सुंदरता पर नहीं, पर उर्वशी में शिल्पी और चित्रकार दिनकर की छेनी और तुलिका की सामर्थ्य का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार, यह समीक्षा ग्रंथ दिनकर के काव्य का सांगोपांग और निर्भीत अध्ययन प्रस्तुत करता है।













